छायावाद की काव्य-साधना

रचयिता

प्रोफेसर 'क्षेम', एम० ए०, पी-एच०डी०

हिन्दी-विभाग

तिलकधारी डिग्री-कालेज, जौनपुर

प्रकाशक

साहित्य-ग्रन्थ-माला-कार्यालय

जालिपादेवी, काशी

प्रथम संस्करण] संवत् २०११ [मूल्य ४॥)

समर्पण—

राजनीति के कर्मठ कृती,

पद और प्रतिष्ठा से भी अधिक

ईमानदारी और सचाई को महत्व देने वाले,

उत्तर-प्रदेशीय विधान-परिषद् के सदस्य

भैया राम लगन सिंह जी

(बी० ए० एल० एल० बी०)

के कर-कमलों में

सादर

समर्पित !

—'प्रेम'

आमुख

'रहस्यवाद' की भाँति 'छायावाद' भी हिन्दी में एक हौवा ही बनकर आया ! 'छायावाद' की 'छाया' को लेकर 'द्विवेदी-युग' के उस गद्यात्मकता एवं शुष्क इतिवृत्तात्मकता के वातावरण में बड़ा ऊहापोह मचा । किसी ने 'छाया' का अर्थ 'अस्पष्टता' लिया, किसी ने 'टेढ़े नाक पकड़ना', किसी ने 'आत्मा में परमात्मा की छाया' और किसी ने 'प्रकृति में आत्मा की छाया' । कुछ विचारकों ने उसे बँगला एवं अंग्रेजी की छाया कहकर गर्हित भी किया । 'द्विवेदी-युग' भाषा-परिष्कार एवं एक सामान्य संघटन-निर्माण का युग था । भाषा एवं साहित्य के स्थूल शरीर के खड़े हो जाने पर, उसमें भाव-विचार-सम्बन्धी सूक्ष्मताओं एवं भाषा की सूक्ष्म अभिव्यक्तियों की ओर जाना स्वाभाविक था । 'भारतेन्दु-युग' एवं 'द्विवेदी-युग' के समाज और अब के समाज की अन्तर्बाह्य परिस्थितियों में बड़ा अन्तर आ गया था । समाज के पुराने ढाँचे और उसकी रूढ़ियों के बंधनों से, नवीन सामाजिक मूल्यों में उद्भूत नवीन चेतनाएँ टकरा रही थीं । 'व्यक्ति' की आत्म-चेतना प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों के प्रसार के साथ प्रबुद्धतर हो रही थी । 'समाज' पर विदेशी शासन का लौह-नियंत्रण और 'व्यक्ति' पर राजनीतिक एवं सामाजिक रूढ़ियों के बोझ की विवशता—इस दुहरे दमन से भीतर ही भीतर युग में एक घुटन परिव्याप्त हो रही थी । साहित्य भी इससे अछूता कब रह सकता था ! नये साहित्यकार के सामने नये सामाजिक यथार्थ और उनकी प्रतिक्रियाएँ घनीभूत हो रही थीं । 'द्विवेदी-युग' ने अपने समाज के प्रश्नों का समाधान भारत के अतीत में ढूँढ़ा था और उसका लक्ष्य और नारा था 'भूत की ओर प्रत्यावर्तन'; अत्युच्च, विशुद्धतापेक्षी, मानव की मानवीय सत्ता से बहुत ऊपर, सहज इच्छाओं के प्रति असहनशील, एकांगी आदर्शवाद की ओर पुनरागमन ! समाज के परिपार्श्व में प्रत्येक व्यक्ति समाज की एक जीवित इकाई और स-प्राण सत्ता है, उसके सपनों-अरमानों

की तृप्ति ही किसी आदर्श समाज का अन्तिम लक्ष्य है, दिव्यता के अपने उस अभियान में इसे वे उपेक्षित कर चले थे। जीवन की जटिलता से अलग, इस 'द्विवेदी-युग' के काव्य ने अतीत की कथाओं में ही अपने को उलझा लिया था और ऐसी दशा में स्थूल रूप से तथ्यों का उद्घोष करने वाली वाच्यार्थ-प्रधान शैली से आगे आशा ही क्या की जा सकती थी? ऊँचे किन्तु निर्जीव आदर्शों की नीरस वर्णना का, काव्य-क्षेत्र में अंबार लग रहा था। 'रीतिकाल' की शृंगारिक परंपरा की प्रतिक्रिया में खड़े हुए 'द्विवेदी-युग' ने मानव की मधुर भावनाओं एवं हृदय की सरस अभिव्यक्तियों को वर्ज्य ही बना दिया था। उस समय तक विकसित नवीन मानवीयता, जीवन के भाव-रस से मिलकर सच्चे मानव-काव्य में परिणत नहीं हो सकी थी। दिव्यता और देवत्व के स्थान पर, अपनी मनुष्यता में ही महान् मानव-वादी कविता के लिए उर्वर क्षेत्र प्रदान करने के लिए ही छायावादी काव्य-धारा का अवतरण हुआ।

राजनीति में जब प्रजातंत्र द्वारा निरूपित नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापना का ऊहापोह हो रहा था, तब छायावादी काव्य-धारा, 'द्विवेदी-युग' के विचारकों और आलोचकों के निर्मम आघातों के बीच से चुपचाप अपनी अन्तस्साधना को काव्य-कला का रूप दे रही थी। उसने मानव को अपना प्रस्थान-बिन्दु बनाया और समाज के लिए व्यापक आचार-सूत्रों की व्यवस्था न कर, उसने समाज की जीवित इकाई-'व्यक्ति' को ही माध्यम-रूप में अपनाया। उसने उस सामाजिक परिवेश में पड़े हुए व्यक्ति की सूक्ष्म अनुभूतियों, उसके हास-विलास, जय-पराजय एवं आशा-आकांक्षा के स्वप्नों को वाणी देने का प्रयास किया। विरह-मिलन और उत्साह एवं निराशा को भी अभिव्यक्ति मिली। व्यक्ति की निजी अभिव्यक्ति पर पड़े पूर्व-युगीन नियंत्रण के प्रति भी प्रतिक्रिया हुई। परंपरित रूप से 'उद्दीपन' के रूप में चली आती हुई प्रकृति भी इस युग के हास-रुदन की सहचरी बनी। राष्ट्रीयता का गान तो होता ही रहा, अधिकांश कवियों ने अपने विद्रोह-

स्वर को कला का आवरण दिया और उद्बोधन के प्रखर उद्घोष न कर, इन कवियों ने और गहराई में उतर कर उन मानवीय मूल्यों की स्थापना का प्रयास किया, विदेशी शासन से मुक्ति और व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भूख जिसके सहज और सीधे परिणाम थे। 'व्यक्ति' के भीतर उसके 'व्यक्तित्व' की ज्योति को जगाना छायावादी काव्य-धारा की सबसे बड़ी देन है और तत्कालीन परिस्थितियों की सीमा में उसकी सबसे बड़ी प्रगति। समाज ही नहीं, साहित्य में भी छायावाद ने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की। विरोध-वश, इसे अंग्रेजी के 'पुनरुज्जीवित स्वच्छन्दता-युग' का उच्छिष्ट और बँगला की अनुवृत्ति कहा गया। छायावादी युग के 'प्रथम-उत्थान' के कवियों ने अंग्रेजी और बँगला से प्रेरणा अवश्य ली है, पर उसी रूप में जैसे एक जीवित साहित्य एक दूसरे जीवित साहित्य से प्रेरणा लेता है। छायावादी काव्य अपनी परम्परा से विच्छिन्न विदेशी काव्य नहीं, परिवर्तित परिस्थितियों में अपनी ही सामंजस्य-शीला आर्य साहित्य-साधना का एक युगानुकूल मोड़ है। प्रकृति में मानव-भावों का आरोप या चेतना का प्रक्षेप, अंग्रेजी में 'वर्ड्सवर्थ' की भले ही मौलिक कल्पना कही जाय, पर प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ गाने-वाली भारतीय सौंदर्य–साधना के लिए यह सर्वथा अपरिचित नहीं। लाक्ष-णिकता और स्वर-ताल-योजना एवं नाद-व्यंजना अंग्रेजी और बँगला की जूठन ही नहीं, भारतीय साहित्य-शास्त्र के भाषा-शक्ति-शोध एवं आलं-कारिक प्रयोगों का ही, एक विकसित, अथवा पहले की अपेक्षा अधिक अव-धारणा के साथ प्रयुक्त रूप है। छायावादी काव्य की लोक-प्रियता और विरोधों के होते हुए भी उसकी स्वीकृतियाँ, उसके जीवन का ही प्रमाण है, निर्जीव परमुखापेक्षिता का नहीं।

प्रश्न उठता है, 'छायावाद' है क्या? 'प्रसाद' जी ने 'ध्वन्यात्मकता', 'लाक्षणिकता', 'सौंदर्यमय प्रतीक-विधान' तथा 'उपचार-वक्रता' के साथ 'स्वानुभूति की विवृति को ही छायावाद की विशेषता कहा। यहाँ 'स्वानुभूति' 'छायावाद' के 'भाव-पक्ष' और शेष 'ध्वन्यात्मकता' आदि,

उसके कला-पक्ष की ओर संकेत करते हैं। 'पंत' जी ने 'आधुनिक कवि' भाग २, पृ० १२ पर उसे 'ह्रास-युग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं-संबंधी स्वप्नों, निराशाओं और समवेदनाओं को अभिव्यक्त करनेवाला' काव्य कहा, जहाँ 'सापेक्ष की पराजय निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी' थी। महादेवी जी ने 'विवेचनात्मक गद्य में 'छायावाद' को दर्शन के ब्रह्म का ऋणी बताते हुए कहा कि 'बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखंडता का भावन किया। हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौंदर्य-सत्ता की रहस्य-मयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी, जो 'प्रकृति-वाद', 'हृदय-वाद', 'अध्यात्म-वाद', 'रहस्यवाद', 'छायावाद', आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी' (पृ० ६०-६१ वही)। महादेवी जी की व्याख्या में, छायावादी काव्य के विषय एवं भाव-पक्ष में आध्यात्मिकता, प्रकृति की भीतरी रूप-सुषमा के उद्घाटन और वैयक्तिक तत्त्व की प्रधानता की ओर मुख्य रूप से संकेत किया गया है। उन्होंने अपने निबंधों में इसे 'तत्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ' भी कहा है, जो उसकी प्रकृति-सापेक्षता का परिचायक है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि उक्त सभी व्याख्याओं में 'स्वानुभूति' या कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों की पकड़ सामान्य है।

समालोचकों में आचार्य 'शुक्ल' ने अपने इतिहास और 'रहस्यवाद' एवं 'छायावाद' पर लिखे गये 'चिंतामणि' के प्रबंधों में, उसको दो रूपों में ग्रहण किया है; एक तो विषय-रूप में अर्थात् 'रहस्यवाद' और दूसरे, 'छायावाद' अर्थात् 'चित्र-भाषा-शैली' के रूप में, जहाँ वह मात्र 'शैली' ही है। विषय के क्षेत्र में तो वे 'छायावाद' को काव्यानुभूति का विषय ही नहीं मानते, जो 'अज्ञात' पर आश्रित है और भाव का विषय ही नहीं हो सकता। 'शैली' के रूप में वह "'प्रस्तुत' के स्थान पर 'अप्रस्तुत' के रूप में

उसकी छाया का कथन है।" अतएव यह 'साधारणीकरण' के अयोग्य और चमत्कार-प्रधान काव्य है। वास्तव में 'शुक्ल' जी ने तर्क-वादियों की भाँति उसका खंडन ही अपना लक्ष्य बना लिया था, अन्यथा नवीन सामाजिक परिस्थितियों में उद्भूत नवीन जीवन-मानों को लेकर लिखा गया यह काव्य, उनकी दृष्टि में मात्र शैली-वैचित्र्य ही न ठहरता। इसकी प्रतिक्रिया में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने उसके दर्शन-पक्ष पर अधिक बल दिया और एक नवीन प्राकृतिक दर्शन को छायावादी काव्य का मूलाधार मानते हुए, उन्होंने उसे एक सांस्कृतिक उत्थान भी बतलाया। 'वाजपेयी' जी की दृष्टि छायावादी काव्य की व्याख्या में अधिक गहरी, यथार्थ-ग्राही और समालोचक की सहानुभूति से सम्पन्न है, किन्तु 'प्रसाद' को ही केन्द्र मानकर व्याख्या करने से और 'शुक्ल' जी के विरोध में प्रतिक्रिया-स्वरूप उसे एक निश्चित 'दर्शन' पर आधृत सिद्ध करने के पूर्व-ग्रह ने, पूर्ण सत्य के निकट पहुँचते-पहुँचते उन्हें रोक लिया। प्रकृति के सचेतन-चित्रण के आधार पर 'विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप' करने को ही 'छायावाद' मानते हुए, उन्होंने इस प्रकृति-प्रेम की, अपने 'आधुनिक साहित्य' में तीन कोटियाँ भी स्थापित कीं, जो क्रम से विस्मय, आकुलता तथा प्रेम प्रकाश की प्राप्ति हैं। (पृ० ३४५, वही)। श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने भी प्रकृति में अपने ही समान आत्मा का दर्शन छायावाद का लक्षण माना। डा० नगेंद्र ने मनोवैज्ञानिक व्याख्या के आधार पर छायावाद को विद्रोह-वृत्ति मानते हुए उसकी प्रेरणा को नितांत लौकिक, कुण्ठित वासनाओं से प्रेरित और अंतर्मुखी कहा। उन्होंने अपनी उक्त पुस्तक में 'वास्तव को वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप' देने को छायावाद की मुख्य-प्रवृत्ति भी (पृ० ५४ पर) बतलाई है। डाक्टर नगेंद्र ने अवश्य ही छायावादी काव्य को नव-विकसित पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मानों से तोलने का सर्व-प्रथम प्रयत्न किया, पर उन पाश्चात्य मानों की पाश्चात्यता पर इतने आग्रह-शील हो गये कि साधना, परिष्करण

और उदात्तीकरण के सांस्कृतिक वरदान-पुष्प 'फ्रायड' के मनोविश्लेषण की कठोर वेदी पर गिर कर चूर-चूर हो गये।

डा० देवराज ने 'छायावाद के पतन' में गुणों को स्पर्श करते हुए भी उसकी दुर्बलताओं को इस प्रकार ऊपर उठाया कि वे आलोचक से वकील बन गये और छायावादी काव्य-गंगा के विरल रेते उन्हें पहाड़ नजर आये। उन्होंने उसे बौद्धिक, अपुष्ट, रस-विहीन, कल्पना-जन्य और असाधारणीकृत घोषित किया। उन्होंने यहाँ तक कहा कि—उसके मूल में प्रेम और सौंदर्य की वासना है, न कि आध्यात्मिक पूर्णता की भूख, (पृ० ६ वही)। पहले तो इस मानववादी काव्य को उन्होंने शुद्ध आध्यात्मिक माना और फिर सौंदर्य और प्रेम की भूख की 'वासना' कहकर निकृष्ट सिद्ध कर लिया, जैसे ये काव्य के उपयुक्त विषय हों ही नहीं। डाक्टर नगेंद्र में यदि मनोविश्लेषण प्रमुख है, तो इन पर दर्शन! श्री शिवदान सिंह चौहान ने इन कवियों की मनः-स्थिति को कुछ अधिक संतुलित ढंग से अपने 'छायावादी कविता में असंतोष की भावना' शीर्षक लेख में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। 'मानव' जी ने अपने 'सुमित्रानंदन पन्त' और 'महादेवी की रहस्य-साधना' में छायावाद को प्रकृति-सापेक्ष्य काव्य माना है, जो एकांगी है।

वास्तव में छायावादी काव्य पर दर्शन का कठोर आग्रह अनुचित है, इस विशाल मानववादी-काव्य-धारा को दर्शन के चार किनारों में कसकर मृत सरोवर की गति-हीनता प्रदान करना है। जय-पराजय, उल्लास-अवसाद, प्रेम-वासना, त्याग और भोग की विभिन्न मानवी भावनाओं में प्रसारित यह काव्य, उस भावना का प्रतीक है जिसने तत्कालीन जड़ रूढ़ियों के बंधनों को तोड़कर नवीन जीवन-सर्जना का प्रयास किया है। यदि परिभाषा करना अनिवार्य ही है तो कहना होगा कि छायावाद 'द्विवेदी-युग' की जड़-शृंखलाओं को तोड़, व्यक्ति और कला की स्वतंत्रता का समर्थन करनेवाली वह मानववादी काव्य-धारा है जिसने युग की स्थूल वस्तुवत्ता में झलकने-

वाली सूक्ष्म मर्म-छाया को व्यक्ति के माध्यम से ग्रहण कर, ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्य-मय प्रतीक-विधान और उपचार-वक्रता के सहारे उसे मूर्तिमान करना अपना लक्ष्य बनाया है। वह 'वाद' की दृष्टि से जितना ही उलझा है, जीवन की दृष्टि से उतना ही सुलझा। मनो-विश्लेषण के पक्ष से जितना ही पलायन-शील और वायवी है, सांस्कृतिक दृष्टि से उतना ही साधना-शील और जीवन-मय। वह साहित्य-शास्त्र के सम्प्रदायों निकायों की पारिभाषिकता के पहलू से जितना ही अपूर्ण अथवा असफल है, जीवन की तद्वत् अभिव्यक्ति और अनुभूतियों की संयुक्त सचाई के पहलू से उतना ही पूर्ण और सफल। साहित्य में 'व्यक्तित्व' की प्रतिष्ठा उसका प्रसार है तो 'व्यक्तिवादिता' उसकी सीमा है; वस्तु का अंतः-सौंदर्य यदि उसका वरदान है तो अति-काल्पनिकता उसका अभिशाप। उसने 'रीतिकाल' की मांसलता और 'द्विवेदी-युग' की अव्यावहारिक-आदर्श-वादिता के बीच, जीवन के सुख-सौंदर्य और प्रेम-प्रणय का मानव-स्वर्ग रचा, तो कहीं अस्वस्थ यौन बुभुक्षा की सीमाओं में उसमें विषाक्त मनोग्रन्थि-वाही चीत्कारों की नलियाँ भी बह गईं। वह हमारा वह साहित्यिक प्रयास है, जिसमें सोते से जगकर, हमने जीवन के सुंदर-असुंदर-सभी को ग्रहण कर शुद्ध करने के कलात्मक-काव्यात्मक प्रयोग किये हैं। कला की जड़ कड़ियाँ टूटीं भी हैं, नवीन कड़ियों का सर्जन भी हुआ है। भाषा, छंद, स्वर, लय, ताल के क्षेत्रों में भी नवीन भूमियाँ तोड़ी गई हैं। 'रीति-गुणों' का साम्प्रदायिक रूप में पालन न करते हुए भी, कोमल-कांत-पदावली की मसृणता, वैयक्तिक माध्यम ग्रहण करते हुए भी विचित्र पर-सम्वेद्यता, इस धारा के विरोधों की मधुर प्राप्तियाँ हैं।

छायावादी काव्य 'लक्षणा' और 'ध्वनि' का काव्य है। यहाँ 'वाच्यार्थ' अधिकांश में अनभिप्रेत है। 'लक्षणा' के सहारे मूर्त्तिमत्ता आयी है और विच्छित्ति की तड़प भी। 'ध्वनि' इस काव्य का मधुर भाव संकेत है। चित्रात्मकता के अतिरिक्त, लक्षणा से प्राप्त व्यंजना उसका दूसरा उद्देश्य

है। शुद्ध रूप में 'ध्वनि', लक्षणा की मात्रा में नहीं प्रयुक्त है, पर 'प्रसाद' 'निराला' और महादेवी के काव्य में कहीं-कहीं ध्वनि का बड़ा ही सुन्दर विधान हुआ है। गुण एवं प्रभाव-साम्य के आधार पर आये प्रतीक लक्षणा के अन्तर्गत होकर भी, एक स्वतंत्र शैली का निर्माण करते हैं। 'अप्रस्तुतों का मूर्त्त-अमूर्त-विधान' और प्रभाव-साम्य पर आश्रित उपमान, 'उपचार-वक्रता' के भीतर आते हैं। नादार्थ-व्यंजना, विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण और विरोधाभास-योजना आदि के प्रयोग, अपने काव्य-सौंदर्य के लिये स्थूलतः लक्षणा के भीतर ही आ जायेंगे। 'अलंकारों' में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, समासोक्ति, हेतु, व्यस्त-रूपक, श्रुत्यानुप्रास, यमक, निदर्शना, अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि प्रायः मिल जायँगे। छायावादी काव्य अधिकांशतः गीति-प्रधान है, किन्तु 'राम की शक्ति-पूजा', 'तुलसीदास' और 'कामायनी' इसकी प्रबंधात्मक सम्भावनाओं के ज्वलन्त प्रमाण हैं। जब भी इस काव्य में कल्पना भाव-सहयोगिनी होकर आयी है, कवि की अनुपम सर्जना-शक्ति के दर्शन होते हैं।

'रहस्यवाद', 'छायावाद' के अन्तर्गत ही एक प्रवृत्ति-विशेष है जो आध्यात्मिक आधार लेकर एकमुखी हो गया है। 'छायावाद' मानववाद है। वह प्रकृति की ओर भी गया है। वह प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीत है। 'रहस्यवाद', 'आत्मा' और 'परमात्मा' के प्रणय-सम्बंध का काव्य है, जहाँ संसार या प्रकृति सत्य नहीं, उसके पीछे हँसता-खेलता अनन्त-अखंड रहस्य-चेतन 'परमात्मा' सत्य है। 'छायावाद' में प्रकृति मानव-सापेक्ष्य या उसकी ही कोटि की सम-चेतन, 'रहस्यवाद' की प्रकृति परमात्म-सापेक्ष्य या अलौकिक संकेतों का माध्यम है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं। उसकी प्रतीकात्मक या सांकेतिक सत्ता भी यदि कुछ है तो वह भी उसी प्रकार परमात्मा की वियोगिनी और उस 'परम प्रियतम' बिना अपूर्ण है, जैसे स्वयं 'व्यष्टि आत्मा'। 'रहस्यवाद', 'अवतारवाद' से परे 'असीम सत्ता' के प्रेम पर बल देता है, जबकि 'छायावाद' उस परम सत्ता द्वारा

निर्मित इस जड़-चेतन-मय सृष्टि का ही प्रेमी है और उसी का विश्वासी भी।

क्या 'छायावाद' मर गया ? इस प्रश्न का यही उत्तर है कि वह मर नहीं गया, विकसित होकर युगानुरूप बनता जा रहा है। 'छायावाद' की मृत्यु, 'मानव-वाद' की मृत्यु होगी। 'छायावाद' का मानव-वाद आज भी जीवित है और निरन्तर विकास-शील, कहिये, प्रगतिशील है। 'शैली' के क्षेत्र में भी उसने सूक्ष्म अभिव्यंजना की जो लाक्षणिक, ध्वन्यात्मक, प्रतीकात्मक और उपचार-वक्रता-शील प्रणाली निकाली, आज 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' दोनों में जीवित है। प्रतीक बदले, पर प्रतीक-पद्धति नहीं।

छायावाद 'दर्शन' नहीं, जीवन-जगत् के प्रति व्यक्ति का अन्तर्वादी दृष्टिकोण है। छायावाद व्यक्ति के निजी व्यक्तित्व को आलोकित करनेवाली प्रजातंत्र-युगीन जीवन-चेतना है, जो 'मानव' की ऊँची से ऊँची ऊँचाइयों पर चढ़कर भी उसकी मूल रस-धारा और इच्छा-स्रोत को नहीं भूलता। उसमें आये घुटन, क्षोभ, खीझ, निराशा, लालसा, प्रवृत्ति और पलायन, जीवन से विराग नहीं, उससे राग की प्रतिक्रियाएँ हैं।

मैंने इस पुस्तक में छायावाद को किसी 'वाद' के रंगीन शीशे से न देखकर उसकी सहज भारतीय भूमि का निरीक्षण-परीक्षण किया है। उसके विकास-इतिहास के निरूपण का यही उद्देश्य है। उसके निजी अस्तित्व की मैंने शास्त्रीय परीक्षा भी की है, पर किसी कोठे में बिठाने ले लिए नहीं, स्वयं उसके निजत्व के उभार के लिए ही। छायावाद के प्रारम्भ और 'प्रसाद' जी को लेकर भी विवाद चले हैं। इसके लिए मैंने 'इन्दु' की पुरानी प्रतियों को उलटने का प्रयास किया है। मैंने वकालत तो नहीं की है, पर उस पर आने वाले अनुचित आक्षेपों की परतें कुरेद कर अवश्य देखी हैं। छायावाद के परिभाषण का मेरा निजी दृष्टिकोण और हिन्दी-विद्वानों के सम्मुख वह मेरा अपना अकिंचन प्रयास है।

मैंने जिन सज्जनों के सुझावों का लाभ उठाया है, उनमें सर्वश्री 'गिरीश' जी, पं० सीताराम जी चतुर्वेदी, विश्वनाथ लाल 'शैदा', भाई

प्रो० किशोरी लाल गुप्त का नामोल्लेख विशिष्ट-स्थानीय है। भाई 'गुप्त' जी से मुझे अप्राप्त पुरानी पुस्तकें एवं पत्रिकाओं की प्रतियाँ मिली हैं। हम वृत्त-सूत्र के लिए ना० प्र० सभा काशी एवं हि० सा० सम्मेलन-पुस्तकालय, प्रयाग के भी आभारी हैं। भाई प्रो० बैजनाथ सिंह, अध्यापक, अजीत सोमवंशी कालेज, प्रतापगढ़ ने भी कुछ पुरानी पत्रिकाओं से मेरी मदद की है।

भाई डा० रघुवंश (हि० वि०, प्रयाग विश्व-विद्यालय) की स्नेह दृष्टि का आभारी हूँ। प्रो० शिवाधार सिंह, के निरन्तर उत्प्रेरण-उत्साहन का परिणाम है कि आज यह पुस्तक पाठकों के हाथ जा रही है। अग्रज प्रो० शिवनारायण श्रीवास्तव की सलाहें मेरे लिए बहुमूल्य रही हैं। ति० धा० का० डिग्री-विभाग' के पुस्तकाध्यक्ष श्री रणंजय सिंह की सहायता अविस्मरणीय है। अन्त में अपने प्रिय शिष्य श्री महातमराय का भी आभार प्रकट करता हूँ जिसने पसीनों और तपनों से भरी गर्मियों में, रात-रात और दोपहर-दोपहर भर मेरी ब्रह्म-लिपि की प्रतिलिपि तैयार की है। 'प्रथम-खण्ड' पाठकों की सेवा में अर्पित है, देखें 'द्वितीय-खण्ड' कब प्रकाश देखता है।

अन्त में 'साहित्य-ग्रंथमाला-कार्यालय', काशी के प्रबन्धक श्री बजरंगबली जी गुप्त और 'हिन्दी-साहित्य-सृजन-परिषद' के अध्यक्ष श्री सत्यदेव चतुर्वेदी, दोनों ही सज्जनों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, प्रथम के प्रति इसलिए कि पन्द्रह ही दिनों में पुस्तक प्रकाशित कर दी और द्वितीय को इसलिए कि उनकी महती कृपा और मुग्धकारी वाणी की छाया में यह पुस्तक लगभग दो वर्ष तक अनवरत विश्राम करती रही।

दीपावली
'नवम्बर'
१९५४

क्षेम
हिन्दी—विभाग
ति० धा० डिग्री-कालेज, जौनपुर।

अनुक्रमणिका

छायावाद की काव्य-साधना

१—छायावाद का विकास-इतिहास

आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी हिन्दी के अप्रतिम हित-चिन्तक एवं एक अडिग तथा साधनाशील व्यवस्थापक थे। यदि 'भारतेन्दु' जी हिन्दी-आधुनिक युग के जन्मदाता थे तो 'द्विवेदी' जी उसके पोषक। उन जैसे कर्मठ, चरित्रवान् एवं आस्थाशील व्यक्तित्व की छाया पाकर ही आधुनिक हिन्दी-युग का चेतना-बीज कितनी ही बाहरी-भीतरी विपदाओं की लू से सुरक्षित रहकर अपना बहुमुखी विकास पा सका। व्रजभाषा-प्रेमियों एवं काव्य-भाषा के पद पर उसके बने रहने के समर्थकों के कठोर प्रहारों से 'खड़ी बोली' काव्य को बचाते हुए उसे युग और जीवन से सम्बद्ध करने का जो कल्याण-मय पुनीत कार्य उन्होंने संपादित किया, उसी का यह सहज-विकसित फल है कि उसके विशाल अश्वत्थ की शीतल छाया में आज का बहुविध एवं अनेक-प्रश्न-संकुल जीवन अपना समाधान ढूँढ़ रहा है, अपना निर्माण कर रहा है। द्विवेदी जी ने 'खड़ी बोली' को माँजकर, संस्कृत के पुष्ट आधार द्वारा उसे सबल बनाते हुए व्याकरण-विरामादि की दृष्टि से शुद्ध किया। विषय-क्षेत्र को व्यापक बनाते हुए उसके अनेक-मुखी विकास को दिशा दी। 'रीतिकालीन' मादकता के निष्क्रिय चमत्कार-लोक से जीवन के विस्तृत प्रसार में लवलीन होने के लिए समुत्सुक 'भारतेन्दु-युगीन' हिन्दी-साहित्य को नव-संस्कार मंत्रों से अभिषिक्त कर आचार्य द्विवेदी जी ने उसे जिस प्रकार जन-जीवन की, तत्कालीन विविध समस्याओं एव विदेशी दासता के भार से आक्रान्त-असन्तुष्ट स्वाधीनता-कामी समाज-चेतना से जोड़ दिया, वह एक अमिट ऐतिहासिक महत्व की सेवा है। 'द्विवेदी' जी जैसा सुस्पष्ट-लक्ष्य एवं विधायक शक्ति का व्यक्तित्व यदि उस समय हिन्दी को न मिला होता तो नव-जीवन-से आप्लुत आधुनिक खड़ी बोली का साहित्य-उत्स न जाने

कब तक किन टेढ़ी-सीधी खाड़-खाइयों में अपने पथ-संधान के लिए भटकता फिरता।

'द्विवेदी' जी की प्रतिभा गद्यात्मक एवं तर्कशील थी। वे एक सक्रिय आदर्शवादी थे। आलोचन-विवेचन उनकी सर्जनात्मक शक्ति की प्रमुख दिशा थी। आर्यसमाज के प्रखर प्रभाव के कारण, अतीत-चेतना एवं विशुद्धतावादी सुधार-वृत्ति समाज की प्रगति का प्रतिनिधित्व कर रही थी। धीरे-धीरे ग्रामों के स्थान पर नगरों का महत्व बढ़ रहा था और चेतनाशील विचारवान् ग्राम-वासी भी अपनी जीविका एवं प्रचार-प्रसार के लिए नगरों को आ रहे थे। उच्चवर्ग अपने आभिजात्य की खुमारी में झपकियां ले रहा था और मध्यवर्ग की आत्म-चेतना करवट लेने लगी थी। हमारे साहित्यकारों में अधिकांश, विश्व-विद्यालयों की पाश्चात्य-प्रणाली की उच्च-शिक्षोपाधि से विभूषित तो नहीं थे, पर उनमें अपनी परिस्थितियों की प्रतिक्रिया और विकासशील प्रबोध अवश्य गतिमान था। समाज की आर्थिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक दशा के प्रति उनमें असन्तोष था। उन्होंने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से आचार्य द्विवेदी के नेतृत्व में नये सृजन के निमित्त बहुविध उपकरण-उपादान प्रस्तुत किये। अपने युग के साहित्य के मस्तिष्क-पक्ष को 'द्विवेदी' जी ने इतना पुष्ट बना दिया कि उसका प्रसार-क्षेत्र संस्कृत एवं हिन्दी-कविता की चर्चा, मराठी आदि अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यकारों के परिचय, प्राचीन कला-चित्रों के विवेचन, बृहत्तर भारत के विवरण, ऐतिहासिक उल्लेखों, पूर्वी-पश्चिमी दर्शनों और नवीन वैज्ञानिक उपलब्धियों से लेकर अनेकानेक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक टीका-टिप्पणियों, सामयिक साहित्य एवं तत्कालीन प्रकाशनों की समीक्षाओं तक फैल गया।

काव्य-क्षेत्र में 'द्विवेदी' जी ने 'खड़ी बोली' को काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया और उनके प्रोत्साहन-प्रवर्धन से उसमें सुधारात्मक एवं औपदेशिक उद्देश्यों से प्रेरित निबन्ध-कविताओं की परंपरा चल पड़ी। किसी सामाजिक अथवा पौराणिक वस्तु को लेकर तत्सम-प्रधान भाषा में कवि

उपदेशात्मक एवं विचार-तर्क-पूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत कर समाज की सोई विचार-शक्ति को झकझोर कर जगाने का अहर्निशि प्रयत्न कर रहे थे। जनता धीरे-धीरे अपनी दुर्बलताओं एवं विवशताओं से परिचित हो रही थी। सामाजिक संघटन के जर्जर बन्धन भी उसे दिखाई पड़ने लगे थे। अन्ध-रूढ़ियों एवं मिथ्याविश्वासों के प्रति उसमें अनास्था के भाव जग रहे थे। लोक-हित एवं समाज-सुधार का स्वर प्रधान हो रहा था। राष्ट्रीयता का भाव भी प्रबुद्ध हो रहा था। नवीन स्थितियों के अनुसार मस्तिष्क तो ढल रहा था, पर उसके उपयुक्त ही उन परिस्थितियों एवं विषयों के प्रति हमारी रागात्मिका वृत्ति जाग्रत नहीं हो पाई थी। 'भारतेन्दु' युग की निबन्धात्मक पद्यावलियाँ विचारों के प्रखर भार से निरन्तर रुक्ष होती जा रही थीं और उनमें बाह्य-वस्तु-वर्णना एवं इतिवृत्त की प्रधानता कलात्मक मर्यादा को पार करने लगी थी। रीतिकालीन शृंगार के विरुद्ध उठी हुई शृंगार-वर्जन की प्रवृत्ति ने साहित्यिकों के चेतन मन को इस प्रकार आच्छन्न कर लिया था कि उसका ध्यान आते ही वे सहम-से पड़ते थे। नारी-पुरुष-सम्बन्ध को परिष्कृत कर उसे स्वस्थ वातावरण प्रदान करने का प्रश्न तो दूर रहा, हमारे 'द्विवेदी-युगीन' कवि उसके उल्लेख से भी संकोच करने लगे थे। आर्य-समाजी उपदेशकों ने न केवल कृष्ण के कुरुक्षेत्रस्थ रूप का प्रख्यापन ही किया वरन् वे रीतिकालीन काव्य में आये साहित्यिक रूप की भी तीव्र विगर्हणा करने लगे थे। जब शृंगार से हमारे कवि इस प्रकार पलायन करने लग गये थे, तो प्रकृति को परंपरागत 'उद्दीपन-रूप' में ग्रहण करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ठा० जगमोहनसिंह द्वारा संकेतित प्रकृति-वर्णन की पद्धति कुछ परि-वर्त्तनों के साथ पं० श्रीधर पाठक में प्रकट हो रही थी। उन्होंने प्रकृति के 'आलम्बन-रूप' की ओर अवश्य ध्यान दिया था, यद्यपि 'शुद्ध' वर्णन की अपेक्षा उसमें भी अलंकरण एवं चमत्कृत कल्पना का रंग पर्याप्त था। फिर भी अपने अनुवादों एवं मौलिक कृतियों के द्वारा 'पाठक' जी ने उस चेतना का संकेत किया था जो शास्त्रीयता के कठघरे से निकल कर जीवन के सहज

भाव-प्रवाह की ओर उन्मुख हो रही थी। उन्होंने छन्दों की दिशा में भी लोक-गीतों के आकर्षक भाण्डार की ओर इँगित किया था। 'हरिऔध' जी एवं 'गुप्त' जी ने विचारों के क्षेत्र में अवश्य ही 'सुधारवाद' को प्रश्रय दिया था और खड़ी-बोली को दोनों महाकवियों ने माँजकर संस्कृत के पुट द्वारा उज्ज्वल भी किया, पर भाव एवं भाषा के क्षेत्र में अब भी वैचारिक नीरसता की प्रधानता थी; किन्तु दोनों ही महाकवियों ने अपने युग की वैज्ञानिक प्रगति एवं बुद्धिवाद की पृष्ठ-भूमि में 'राम' और 'कृष्ण' के चरित्र एवं आख्यान को युगानुकूल बनाने का स्तुत्य प्रयास किया, इसमें सन्देह नहीं। पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय एवं रामचरित उपाध्याय भी 'द्विवेदी'-प्रभाव-छाया के ही कवि थे। 'गुप्त' जी ने अपने आख्यानक काव्यों एवं निबन्ध कविताओं में खड़ी बोली को माँजा। काव्य-अंश की, अधिक पुष्ट रूप में निष्पन्नता न होने पर भी उनकी समाजोपयोगिता एवं भारतीयता ने हिन्दी पाठकों को आकृष्ट किया। 'गुप्त' जी और 'हरिऔध' जी को 'द्विवेदी-युग' की समस्त विशिष्टताओं का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। 'आर्य-समाज' की सुधारवादी बौद्धिकता, सनातनधर्म की भक्ति-पूर्ण उदार आस्तिकता जाति एवं देश के प्रति अभिमान के भाव तथा अपनी तत्कालीन दुखस्था आदि सभी चेतनाओं के स्पष्ट रूप इनकी कृतियों में वर्तमान हैं। 'छायावादी' काव्य-धारा के उद्‌गम एवं विकास को समझने के लिए हमें २० वीं शती के प्रारम्भ से ही कविता-रूपों की मुख्य प्रवृत्तियों को लक्षित करना होगा, जिनमें और जिनकी परिस्थितियों के परिपार्श्व में उक्त काव्य के बीज सन्नि-हित हैं। आचार्य द्विवेदी के 'सरस्वती'—संपादन को हाथ में लेने के साथ ही 'खड़ी बोली'-कविता का अभ्युदय प्रारम्भ हो जाता है। व्रज भाषा की माधुरी के उपासक एवं खड़ी-बोली की 'खड़खड़ाहट' को फूटे कान भी न सुन सकनेवाले उद्‌भटों के सामने खड़ी बोली के पद्यकारों को 'सरस्वती' के रूप में एक सुदृढ़ 'रक्षा-पंक्ति' प्राप्त हो गई। आचार्य द्विवेदी ने उन्हें अपने परिष्कार-संस्कार के साथ प्रकाशित करना शुरू कर दिया। 'द्विवेदी'

जी की कविताएँ 'कविता-कलाप', 'सुमन' एवं 'काव्य-मंजूषा' आदि संग्रहों में प्रकाशित हुई हैं। उनकी सामान्य प्रवृत्तियों एवं प्रकृति को समझने के लिए कुछ उद्धरण ही पर्याप्त होंगे—

'अरे भाई! अरे प्यारे! सुनो बात,
स्वदेशी वस्त्रों से शोभित करो गात।
वृथा क्यों फूँकते हो देश का दाम,
करो मत और अपना नाम बदनाम।'

('स्वदेश की पुकार'—जुलाई, १६०३)

× × ÷

'जरा देर के लिए समझिए आप षोडशी क्वाँरी हैं।
(क्षमा कीजिए असभ्यता को हम ग्रामीण अनारी हैं)।
मान लीजिए, नयन आपके कानों तक बढ़ आये हैं।
पीन पयोधर देख आपके कुंजर-कुम्भ लजाये हैं॥
ज्यों-ज्यों कटि घटती जाती है, चिन्ता बढ़ती जाती है।
मदन-दाह से देह दिनोदिन दुबली होती जाती है॥
रात-रात भर नींद आपको नहीं जरा भी आती है।
हाय-हाय कर ठंडी साँसें लेते वह कट जाती है॥'

('ठहरौनी'—नवम्बर १६०६)

प्रथम उद्धरण में स्वदेशी वस्त्रों का समर्थन किया गया है और द्वितीय में 'तिलक-दहेज'—प्रथा पर विनोद-व्यंग्य के आघात किये गये हैं। भाषा तत्सम-प्रधान एवं व्यावहारिक तथा अभिव्यक्ति अभिधात्मक एवं सीधी है, मानों गद्य में प्रकट किये गये विचारों को पद्य-रूप दे दिया गया हो।

दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि यद्यपि विचारकों की तर्क-बुद्धि तो तत्कालीन सामाजिक एवं सामूहिक समस्याओं से प्रतिक्रियमाण हो उठी थी, पर उनके प्रति व्यक्ति की व्यष्टि-सत्ता का अन्तर अभी दोलायमान नहीं हुआ था। लगता था, जैसे समाज अपनी समस्याओं पर ऊपर-ऊपर

से ही विचार कर रहा हो, वे प्रश्न उसके आन्तर सत्ता के प्रश्न न बन सके हों ! यही कारण है कि न तो इन कविताओं में रचयिता की अन्तर भाव-सत्ता का रस ही उतर पाया है और न श्रोताओं एवं पाठकों को भीतर से हिला देने की शक्ति का अवतरण ही हो सका है। जब किसी विषय-वस्तु को अन्तर-बाहर से समेटकर कवि उसे आत्म-सत्ता का अंग बना लेता है या स्वयं उसमें तद्गत हो जाता है, तभी हृदय-स्पर्शी कला का जन्म होता है, 'द्विवेदी'-युग की अधिकांश कृतियाँ इस जीवन से वंचित हैं। सन् १६०६ ई० में 'द्विवेदी', 'गुप्त', 'शंकर' एवं 'पूर्ण' जी की कविताओं का एक संग्रह 'कविता-कलाप' नाम से निकला था, 'द्विवेदी'-जी युग की रचनाओं की सीमा के कारण स्वयं उस युग की मनोभूमि एवं रचयिताओं की मनःस्थिति में थे। 'द्विवेदी-युग' का विकास 'रीतिकालीन' प्रवृत्तियों के विरोध की भूमिका में हुआ था। 'द्विवेदीजी ने उच्च स्वर एवं स्पष्ट-शब्दों में उसकी शृंगारिकता एवं हाव-भाव-मुग्धता की निन्दा की। उन्होंने उसकी एकांगिता, समाजोपयोग-हीनता एवं विकृतियों की कठोर आलोचना करते हुए, काव्य-साहित्य को विषयों का व्यापकतर क्षेत्र, भाव-विचारों का नैतिकता-पूर्ण आदर्श एवं एक प्रौढ़-प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति-प्रणाली प्रदान की। इसके लिए 'द्विवेदी' जी के 'निर्माता' पर कोई प्रश्न-वाचक चिह्न नहीं लगा सकता। किन्तु, इस सुधारवादी स्वर में प्रतिक्रिया का राग भी इतना तीव्र था कि जीवन का सहज रूप उसमें न उतर सका। उनके युग ने शृंगारिकता के विरोध में प्रेम आदि मानवीय वरदानों एवं नारी की सहज प्रेरणा-शक्ति की भी उपेक्षा की। जहाँ कहीं नारी-प्रेम-सौन्दर्य का स्थल आया भी, या तो वे बचा गये या सकुचते-सकुचते विषय के दूर-स्पर्श से ही उन्होंने सन्तोष किया। स्वयं 'द्विवेदी' जी की स्त्री-चरित्रों पर लिखी गई कविताएँ इसका स्पष्ट निदर्शन हैं। इसी कारण इस युग की कविताओं में नव जागरण के साथ-साथ एक स्थूल तर्कना की शुष्कता एवं परिश्रम-साध्य कृत्रिमता पाई जाती है। अन्तर के आवेगों के वेग की

दृष्टि से ये रचनाएँ अधिकांशतः शून्य हैं। स्वयं 'गुप्त' जी की 'नर हो न निराश करो मन को,' या 'मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है' और 'स्वर्ग-सहोदर' आदि रचनाएँ भी विचार-प्रधान एवं तर्क-तीव्र हैं, कवि के आन्तरिक उच्छ्वासों के स्पन्दनों की दृष्टि से प्रायः निरावेग हैं। 'ग्राम-जीवन' आदि पर लिखे गये उनके पद्यों एवं गद्य में छन्द एवं तुकों के सिवा कोई मार्मिक अन्तर नहीं प्रतिलक्षित होता। 'रंग में भंग', 'शकुन्तला', 'भारत-भारती', 'विकट भट' 'गुरुकुल' और 'किसान' आदि काव्यों में सर्वत्र उसी इति-वृत्तात्मकता, तर्कशील बाह्य वर्णन एवं स्थूल चित्रणों की प्रधानता है। राजा रविवर्मा के चित्र तत्कालीन कवियों को प्रभावित करने लगे थे।

छायावादी प्रगीत-कविताओं के रूप-विकास का सूत्र तो 'गुप्त' जी की निबंध-कविताओं से ही प्रारम्भ हो जाता है, यद्यपि मूलतः दोनों में बड़ा अन्तर है। स्फुट विषयों पर छोटी-छोटी कविताएँ 'गुप्त' जी ने लिखीं। ये ही निबन्ध-कविताएँ आगे चलकर भावात्मक गीतों तक विकसित हुई हैं। 'साकेत' के गीत 'झंकार' (१६१५ ई०) की कविताओं और उन्हीं प्रारम्भिक वस्तुन्मुखी छोटे-छोटे प्रगीतों के विकास हैं। श्री अयोध्यासिंह जी उधाध्याय 'हरिऔध' तथा उनके समकालीन अन्य कवियों ने अंगरेजी के 'सॉनेट' के आधार पर 'चतुर्दशपदियां' भी लिखीं, जिनमें वस्तुवत्ता के साथ-साथ कवियों की स्वानुभूतियों की भी छाया उतरी है। 'एक भारतीय आत्मा' की स्फुट गीत-कविताएँ पूर्ववर्त्ती रचनाओं की तुलना में अधिक छोटी एवं हृदय-स्फूर्त्त हैं। 'भारतीय आत्मा' 'गुप्त'—परंपरा एवं 'प्रसाद'—प्रवर्तित छायावादी परंपरा की प्रवृत्तियों की मध्य कड़ी हैं, जिनमें वस्तु और स्वानुभूति राष्ट्रीयता और आन्तरिक उद्वेलन, उपदेश और भाव-प्रेरणा का अद्भुत गंगा-जमुनी मिश्रण है। माखनलालजी ने यदि एक ओर राष्ट्रीयता के जागरण में देश की बलिपंथी तरुणाई का कारागारों तक स्वागत किया है, तो दूसरी ओर तत्कालीन परिस्थितियों में अपने 'व्यक्ति' के

मर्म-लोक में उठनेवाली नवनीत-स्निग्ध लहरों से युवक-हृदय साहित्यिकों का मार्ग-दर्शन भी।

'छायावाद' का आगमन हिन्दी-साहित्य में एक नवीन दृष्टि, नये उत्साह और एक नव्य जागरण का अवतरण है। जीवन-जगत् की वाह्य समस्याओं का तार्किक निरूपण करनेवाली समूह-मुखी साहित्य-चेतना ने बाह्य-वर्णनों एवं स्थूल चित्रण की इतिवृत्तात्मकता के बीच से सहसा व्यक्ति के अन्तरतम स्तरों को छू लिया। 'व्यक्ति' ने अपने अन्तर की ओर झाँका और देखा कि बाह्य परिस्थितियों की सूक्ष्म-स्थूल अनेकानेक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप उसके भीतर कितने ही अरमान-गान, कितने ही स्वप्न, कितनी ही आशाकांक्षाएँ कसमसा रही हैं। उसने अंगरेजी के 'रोमांटिक रिवाइवल' के कमनीय भावोच्छ्वास एवं कल्पना-विलास भी देखे थे और रवीन्द्र की 'गीताञ्जलि' की रहस्य-मुद्रा भी। उसने युग की व्यथा-विवशता के, 'व्यक्ति' में छने हुए अंश को एक अभिनव लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, प्रतीयमान व्यंजना, आकर्षक प्रतीक-योजना एवं कोमल उपचार-वक्रता की माधुरी से परिसिक्त कर वाणी-वीणा पर गुंजरित कर दिया। संस्कृत का काव्य-भाण्डार एवं उसका लक्षणा-व्यंजना-विधान उसकी पैत्रिक सम्पत्ति थी, अंगरेजी का रोमानी काव्य उसका उत्साहवर्धक एवं वंग-साहित्य उसकी प्रतियोगिता का विषय। उसने अपने चारों ओर देखते हुए सब कुछ ग्रहण किया, पर अपनी व्यक्ति-चेतना के माध्यम से ही, 'समष्टि' में 'व्यष्टि' को मिटाकर नहीं, व्यष्टि में ही समष्टि को जगाकर। अतः उसकी सामाजिक मुक्ति 'समाज' के प्रति 'व्यक्ति' की मुक्ति का प्रतीक होकर आयी, उसकी स्वातंत्र्य-कामना राजनीतिक दासता से आक्रान्त व्यक्ति की राजनीतिक स्वाधीनता-पुकार का उपलक्षण होकर प्रकट हुई। उसका स्वप्न व्यक्ति-व्यक्ति का स्वप्न है और उसका निराश रुदन व्यष्टि-व्यष्टि की पराजय का रुदन है !! छायावादी कवि के प्यार की प्यास तृषित मानव-हृदय की चिरन्तन प्यास है और उसकी रूप-सौन्दर्य की लालसा मानवात्मा के रूप-सौन्दर्य

की निखिल उत्कण्ठा !! यह नये जागरण की लहर किस कवि के मानस-स्रोत से निःसृत होकर अनन्त लहरों में स्पन्दित हो उठी, किससे 'छायावादी काव्यधारा' का वास्तविक प्रवर्तन हुआ, यह विषय अब तक के इतिहासकारों एवं आलोचकों में विवाद-ग्रस्त रहा है। इस समस्या को व्यवस्थित रूप में लेकर आनेवाले आचार्य 'शुक्ल' जी के 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' के साथ विवाद काफी बढ़ गये। 'शुक्ल' जी ने छायावादी काव्यधारा पर कई दिशाओं से प्रहार किये। पहले तो वे छायावादी काव्य-धारा को प्रकृत काव्यधारा मानने को ही तैयार न थे, दूसरे वे उसे बंगला एवं अंगरेजी की जूठन समझते थे, तीसरे वे उसके प्रवर्तन का श्रेय उन लोगों को देने को तैयार न थे जिन्हें साधारणतया इस धारा का प्रवर्तक एवं प्रतिनिधि कवि कहा जाता है। यह त्रिदिक् प्रहार शास्त्र-सिद्धान्त की भूमिका लेकर आया है, अतएव अब तक भी एक वर्ग उस पर अटल है। अपने 'इतिहास' के नवीन संस्करण में 'छायावाद' शीर्षक के नीचे पृष्ठ ७४६ पर उन्होंने लिखा है कि-संवत् १९७० (१९१३ सन्) तक किस प्रकार 'खड़ी बोली' के पद्यों में ढलकर मँजने की अवस्था पार हुई और श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि कई कवि खड़ीबोली काव्य को अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अन्तर्भाव-व्यंजक रूप रंग देने में प्रवृत्त हुए, यह कहा जा चुका है। उनके कुछ रहस्य-भावापन्न प्रगीत-मुक्तक भी दिखाये जा चुके हैं। वे किस प्रकार काव्य-क्षेत्र का प्रसार चाहते थे, प्रकृति की साधारण-असाधारण वस्तुओं से अपने चिर सम्बन्ध का सच्चा मार्मिक अनुभव करते हुए चले थे, इसका भी निर्देश हो चुका है।' इसी प्रकार पृ० ७२१ पर भी उन्होंने 'द्विवेदी' जी को 'भाषा की सफाई' लाने का श्रेय तो दिया, पर स्वरूप की गद्यवत् रुखाई, इतिवृत्तात्मकता एवं अधिकतर बाह्यार्थ-निरूपण का उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर डाला। वस्तु-विधान की अपेक्षा काव्य-शैली को ही 'छायावाद' का मुख्य लक्ष्य मानते हुए उन्होंने 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में १९१० सन् से ही प्रकाशित होनेवाले

श्री पारसनाथ सिंह द्वारा किये हुए बंगला कविताओं के अनुवादों का उल्लेख किया है। यहीं उन्होंने यह भी स्पष्ट निर्देश किया है कि सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय और बदरीनाथ भट्ट ने खड़ी बोली को कल्पना का नया रूप-रंग देने, उसे अधिक अन्तर्भाव-व्यंजक बनाने एवं प्रकृति की साधारण-असाधारण वस्तुओं से अपने चिर-सम्बन्ध का सच्चा मार्मिक अनुभव करने में 'प्रसाद' जी के पूर्व ही प्रवृत्त हो चुके थे (जाने-अनजाने 'शुक्ल' जी यही 'छायावाद' की देन को भी स्वीकार कर चले हैं, जिसे वे अन्यत्र एक कलाबाजी और अनुभूत्याभास से अधिक महत्व देने को तैयार न थे)।

'प्रसाद' जी के विकास और 'छायावाद' के प्रारम्भ को समझने के लिए 'इन्दु' की फाइलों का सदैव बड़ा ऐतिहासिक महत्व रहेगा। 'प्रसाद' जी के काव्य—राकेश की कलाएँ 'इन्दु' में भी क्रमशः वर्धमान हुई हैं। 'झरना' की 'प्रथम प्रभात' कविता 'इन्दु', कला, ४ खंड १, किरण ५, मई सन् १६१३ में प्रकाशित हुई है। 'इन्दु' इसके करीब ४ वर्ष पूर्व श्रावण द्वितीया संवत् १६६६ वि० (१६०६ सन्) में प्रथम-प्रथम प्रकाशित हुई थी। 'प्रसाद' जी के भांजे श्रीअम्बिकाप्रसाद गुप्त जी इसके सम्पादक थे। 'चित्राधार' का प्रथम संस्करण सन् १६१८ और 'द्वितीय संस्करण, सन् १६२८ में हुआ है। 'प्रथम संस्करण' में 'खड़ी बोली' और 'व्रजभाषा', दोनों की ही रचनाएँ हैं। एक प्रकार से 'चित्राधार' का 'प्रथम संस्करण' सन् १६१८ तक प्रसाद की दस पुस्तकों की ग्रन्थावली है। इसमें उनके प्रारम्भिक नाटक, कहानियाँ, चम्पू एवं कविताएँ सभी हैं। पुस्तक-रूप के प्रकाशन-क्रम एवं रचना-काल-क्रम की दृष्टि से 'प्रसाद' जी की कृतियों में बड़ा उलझाव है। १६१८ ई० में होने वाला 'चित्राधार' का 'प्रथम संस्करण' अपने भीतर 'कानन-कुसुम' (१६१२ ई० में प्रथम प्रकाशित) का 'द्वितीय संस्करण' अंगीभूत किए हुए हैं। 'कानन-कुसुम' के प्रथम संस्करण में व्रज भाषा और खड़ी बोली, दोनों की ही रचनाएं थीं। 'चित्राधार' के प्र० सं०

में 'कानन-कुसुम' का परिवर्धित संस्करण हुआ, जिसमें और भी रचनाएं जोड़ी गयी हैं। 'कानन-कुसुम' के १९२७ ई० में होनेवाले तृ० संस्करण में केवल खड़ी बोली की ही रचनाएं रखी गयीं। ब्रजभाषा वाली कविताएँ १९२८ ई० में होने वाले 'चित्राधार' के द्वि० सं० में रख दी गयीं। प्रारम्भ में 'प्रसाद' जी की प्रतिभा के विकास को अध्ययन करने की सामग्री १९२८ सन् में होने वाले 'चित्राधार' के द्वि० सं० में प्राप्त हो जाती है। यह स्पष्ट है कि इस प्रारम्भिक सामग्री पर 'भारतेन्दु' जी के युग-प्रभाव की छाप है, किन्तु 'आँसू' आदि पर रची गयी उनकी घनाक्षरियों में 'भारतेन्दुयुगीन' प्रभाव के होते हुए भी उनमें 'प्रसाद' जी की मौलिक-प्रतिभा के भविष्य-संकेतक चिह्न स्पष्ट हैं। उनमें जीवन की नव-स्फूर्ति से स्पन्दित कल्पना का अभिनव उन्मेष और पुराने-नये एवं अमूर्त उपमानों की नवीन व्यवस्था स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। सत्रह वर्ष की आयु में, 'भारतेन्दु' के जुलाई सन् १९०६ के अंक में ब्रजभाषा में लिखा गया उनका रीतिकालीन प्रभाव का शृंगारिक सवैया उनकी प्रथम प्रकाशित रचना कही जाती है। तब से लेकर 'आँसू' आदि पर लिखी गई घनाक्षरियों एवं ब्रजभाषा की अन्यान्य रचनाओं में उनकी प्रतिभा निरन्तर विकास करती गयी है। उनमें नव-पथ की खोज का संकल्प निखरता गया है। 'भारतेन्दु-युग' के प्रभाव से आगे बढ़कर वे 'महाराणा का महत्व' एवं ब्रजभाषा-लिखित 'प्रेम-पथिक' में 'द्विवेदी-युग' की सीमा में विकसित होते दिखलाई पड़ते हैं। ये रचनाएं गद्यात्मक स्थूल वर्णनों एवं उपदेश-प्रधानता की ओर स्पष्ट झुकी दिखलाई पड़ती हैं। १९१३—१९१४ सन् से लिखी गयी इनकी कविताएं जो 'कानन-कुसुम' द्वि० सं० एवं 'झरना' प्र० सं० में प्रकाशित हैं, 'इन्दु' के अंकों में पहले ही निकल चुकी है। १९२० तक लिखी गयी कविताएँ 'झरना' में संकलित हैं। रचना-काल एवं प्रकाशन-काल के इसी व्यतिक्रम के कारण आलोचकों को छायावादी काव्यधारा के विकास-निरूपण में भ्रान्तियाँ हुई हैं। 'प्रसाद' जी की अधिकांश रचनाएं 'इन्दु' में ही प्रकाशित

हैं, अतः 'सरस्वती' आदि अन्य पत्रिकाओं की फाइलों पर छायावादी काव्य-धारा के विकास-स्रोत को ढूँढ़ने वाले के लिए त्रुटि करने का स्पष्ट कारण है। आचार्य शुक्ल जी ने 'सरस्वती' के आधार पर छायावाद का प्रारम्भ मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त एवं बदरीनाथ भट्ट से माना है। 'सरस्वती' के जून मास के भाग १३, संख्या ६ के अंक में, सन् १९१२ में 'प्रसाद'-द्वारा रचित 'जलद आवाहन' कविता छपी है। इसके बाद उनकी रचनाएं 'सरस्वती' में नहीं दिखलाई पड़तीं। पर 'प्रसाद' जी मौन नहीं थे। उनकी सर्जना-शीला प्रतिभा 'इन्दु' में अपना प्रकाश कर रही थी। पहले कही गयी 'प्रथम-प्रभात' रचना जो अब 'झरना' के चतुर्थ संस्करण के पृ० ५ पर छपी है, 'इन्दु' में मई १९१३ में ही छप चुकी है। पृ० ७ पर प्रकाशित 'खोलो द्वार' कविता जनवरी १९१४ ई० में ही 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। 'शुक्ल' जी के ही अनुसार "गुप्त जी की 'नक्षत्र-निपात' (सन् १९१४) 'अनुरोध' (सन् १९१५), पुष्पांजलि (१९१७), 'स्वयमागत' (१९१८) इत्यादि कविताएं ध्यान देने योग्य हैं' (इतिहास, पृ० ७२२), पर 'झरना' की कितनी ही रचनाएँ इसके पूर्व या इसके साथ ही रची गयी हैं, जिनमें आत्माभिव्यंजन, लाक्षणिक वैभव एवं कल्पना का नवीन उन्मेष इन रचनाओं से कहीं अधिक हैं। 'गुप्त' जी की इस समय की रचनाओं में सैद्धान्तिक एवं बुद्धि-प्रसूत चिन्तन की रूखी चूलें स्पष्ट उभरी हुई हैं। अन्तः-प्रेरणा की संवेदनीय उत्फुल्लता के जीवित स्पर्श का 'गुप्त' जी की रचनाओं में बराबर खटकता है, पर 'प्रसाद' जी की उनसे पहले और उनके साथ भी लिखी गयी इस कोटि की रचनाएं शैली-सम्बन्धी प्रयोग के पूर्णता के अभाव में भी आन्तरिक प्रेरणा से सम्पन्न हैं। उदाहरण-स्वरूप कुछ उद्धरण पर्याप्त होंगे—

'मेरे आँगन का एक फूल।

सौभाग्य-भाव से मिला हुआ, श्वासोच्छ्वासन से हिला हुआ,

संसार–विटप में खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक फूल–फूल ।'

❀ ❀ ❀

'निकल रही है उर से आह,
ताक रहे सब तेरी राह ।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी,
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी ।'—(गुप्त)

× × +

'वर्षा होने लगी कुसुम मकरन्द की ।
प्राण–पपीहा बोल उठा आनन्द में ।
कैसी छबि ने बाल–अरुण–सी प्रकट हो,
शून्य हृदय को नवल राग–रँजित किया ।'

—('प्रसाद'–'प्रथम प्रभात' १९१३ ई०)

❀ ❀ ❀

'भींग रहा है रजनी का वह, सुन्दर कोमल कवरी-भार ।
अरुण किरण सम कर से छू लो, खोलो प्रियतम, खोलो द्वार ।।
धूल लगी है, पद काँटों से बिंधा हुआ, है दुःख अपार ।
किसी तरह से भूला-भटका आ पहुँचा है तेरे द्वार ।।'

—('प्रसाद'--'खोलो द्वार' १९१४ ई०)

❀ ❀ ❀

'आज इस घन की अँधियारी में,
कौन तमाल झूमता है इस सजी सुमन क्यारी में ?
हँसकर बिजली-सी चमका कर हमको कौन रुलाता,
बरस रहे हैं ये दोनों दृग कैसे हरियारी में ?'

—('प्रसाद'–'विन्दु' १९१४)

❀ ❀ ❀

'कोर बरौनी का न लगे हाँ, इस कोमल मन को मेरे ।
पुतली बनकर रहें चमकते, प्रियतम ! हम दृग में तेरे !'

—('प्रसाद'-'प्रियतम' १९१३ ई०)

❀ ❀ ❀

स्निग्ध कामना-कुसुम रचित यह मालिका—
लज्जित है; प्रियतम के गले लगी नहीं।
प्रियतम ! ऐसा ही क्या तुमको उचित था।
प्राण प्रदीप न करता है आलोक वह—
जिसमें वांछित रूप तुम्हारा देख लूँ ।'

—('प्रसाद'—'अर्चना' १९१५)

❀ ❀ ❀

'बरसते हों तारों के फूल
छिपे तुम नील पटी में कौन ?
उड़ रही है सौरभ की धूल
कोकिला कैसे रहती मौन।
चाँदनी धुली हुई है आज
बिछलते हैं तितली के पंख ।
सम्हलकर, मिलकर बजते साज
मधुर उठती हैं तान असंख ।'

—('प्रसाद'—'होली की रात' १९१६ ई०)

उपर्युक्त रचनाएँ 'इन्दु' के १९१३ (मई), १९१४ (जनवरी), १९१४ (अगस्त), १९१३, १९१५ (फरवरी) अंकों में पहले ही प्रकाशित हो चुकी हैं और 'झरना' के द्वि० सं० १९२७ ई० में बाद को संगृहीत हुईं । अन्तरानुभूति का स्पर्श, चित्रमत्ता एवं अभिव्यक्ति में सौन्दर्य्यानुभूति की सूक्ष्मातिसूक्ष्म कल्पनात्मक पकड़, सभी कुछ इन कृतियों में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है ।

श्री मुकुटधर जी पाण्डेय की 'इन्दु' में प्रकाशित रचनाएँ नितान्त गद्यात्मक हैं। बाद की रचनाएँ जिनका 'शुक्ल' जी ने उल्लेख किया है, 'झरना' में प्रकाशित 'खोलो द्वार' एवं 'अनुनय' आदि कविताओं से कहीं बाद की हैं। 'कुररी-क्रन्दन' बाद की रचना है। 'आंसू' और 'उद्गार' नामक कविताएँ १९१७ ईस्वी और उसके बाद की हैं। बख्शी जी की गीति-रचनाएँ १९१५–१६ ई० की हैं। पं० बदरीनाथ भट्ट जी की जो रचना 'शुक्ल' जी ने अपने 'इतिहास' में १९१३ ईस्वी की कही है—

'दे रहा दीपक जलकर फूल,
रोपी उज्ज्वल प्रभा-पताका अंधकार-हिय-हूल।'

उसमें आत्म-व्यंजना के स्थान पर प्राचीन अन्योक्ति-पद्धति का उपदेशात्मक तत्व प्रधान है। इससे लगभग २ वर्ष पूर्व सन् १९११ ई० की 'इन्दु', कला ३, किरण १, आश्विन (१९६८ वि०) में 'प्रसाद' जी की 'प्रभो' रचना निकल चुकी है—

'विमल इन्दु की विशाल किरणें प्रकाश तेरा बता रही हैं'

❀ ❀ ❀

'तुम्हारा स्मित हो जिसे देखना, वह देख सकता है चन्द्रिका को'

❀ ❀ ❀

'प्रसार तेरी दया का जिसको हो देखना तो देखे सागर,
तुम्हारे गाने की धुन में नदियाँ निनाद करती ही जा रही हैं।'

अनन्तता की यह उज्वल काव्यात्मक अनुभूति इतनी सरलता सहजता एवं संवेद्यता के साथ १९११ ई० में ही 'प्रसाद' द्वारा व्यक्त हो चुकी थी। 'प्रसाद' जी स्वभाव से बड़े ही संकोची, आभिजात्य शालीन एवं प्रचार-प्रदर्शन से बहुत दूर थे, अतएव अपने समसामयिकों में प्रतिभा एवं प्रवर्त्तन की दृष्टि से आगे होने पर भी बहुत दिनों तक दबे-छिपे रहे। उनका स्थान उनकी शुद्ध प्रतिभा के मूल्य द्वारा अर्जित स्थान है। उन्हें प्रारम्भ से ही ऊपर उठा देनेवाले पृष्ठ-पोषक न मिले और न उन्होंने पैदा

करने-ढूंढ़ने का प्रयत्न ही किया। 'रवीन्द्र' के उदय ने भारतीय साहित्य के वातावरण में अपनी ज्योति से एक प्रेरणा की ओर–छोर व्यापी हिलकोर अवश्य उठायी और हिन्दी के कवि भी उससे प्रेरित हुए थे, स्वयं 'गुप्त' जी भी; पर अपने गुरु आचार्य द्विवेदी की छाया को वे न छोड़ सके।

उपर्युक्त विवेचन एवं आँकड़े से इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया कि 'प्रसाद' जी ही 'छायावाद' के अन्तर्गत आनेवाली हिन्दी-खड़ीबोली नवीन काव्यधारा के वास्तविक प्रवर्त्तक थे। निराला, पन्त एवं 'झंकार' के 'गुप्त' 'प्रसाद' के बाद के हैं।

छायावादी काव्य-धारा के विकास को समझने के लिए 'झरना' की कविताओं का महत्व अत्यधिक एवं अविस्मरणीय है। इसका प्रथम संस्करण सन् १९१८ ई० एवं द्वितीय संस्करण सन् १९२७ में हुआ। 'खोलो द्वार' कविता 'झरना' के प्रथम संस्करण में नहीं है, किन्तु द्वि० सं० में संकलित है। 'झरना' में प्रकाशित 'विन्दु' शीर्षक में आनेवाली अन्तिम रचनाओं में 'रे मन' से प्रारम्भ होने वाली रचना को छोड़ शेष ५ रचनाएँ, 'कहो', 'पाईबाग', 'निवेदन' और 'खोलो द्वार'—शीर्षक कविताएँ 'चित्राधार' के प्रथम संस्करण में आये 'काननकुसुम' के द्वितीय संस्करण सन् १९१८ में भी प्रकाशित हुई हैं। स्थूल-वस्तुगत साम्य से और अधिक गहराई में उतरी, प्रभाव एवं सूक्ष्म स्वानुभूति के आधार पर की गयी कल्पना-प्रवेग में चित्रात्मक अभिव्यक्ति छायावादी कवियों की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। वे 'स्थूल' एवं 'बाह्य' वस्तुवत्ता से सन्तुष्ट नहीं। शरीर से लेकर आत्मा तक की विस्तृत परिधि में, सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों को पकड़कर उनकी ग्राह्य अभिव्यक्ति का सभी छायावादी कवियों ने अपनी शक्ति-साधनों की सीमा में भरसक प्रयत्न किया है। बाह्य वस्तु-विषयों की प्रेरणा में अपने 'स्व' के भीतर होने वाले कम्पन को 'प्रसाद' ने १९११ सन् से ही लाक्षणिकता के साथ अभिव्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया था। 'विन्दु' शीर्षक से आई रचनाएँ इसका स्पष्ट प्रमाण हैं। 'सुमन तुम कली बने रह जाओ'—कविता में पुष्प को देखकर उठी स्वानुभूति कितनी मार्मिक और व्यंजना-पूर्ण है—

'कुसुम तुम कली बने रह जावो,
ये भौंरे केवल रस-लोभी इन्हें न पास बुलावो।'

इसी प्रकार 'अमा को करिये सुन्दर राका !' 'हृदय में छिपे रहे इस डर से' और 'आज इस घन की अँधियारी में' पंक्तियों से प्रारम्भ होनेवाली कविताएँ आन्तरिक स्पर्श से पुलकित हैं। 'आया देखो विमल वसन्त' में वसन्त 'मन-रसाल की मुकुल-माल' की कोमलता में डूब गया है। प्रेम और सौन्दर्य की लालसा इन कविताओं में रमणीय आवरण से झाँकने लगी है। प्रकृति के प्रति आकर्षण तो 'चित्राधार' के 'परागखण्ड' में आने वाली 'शारदीय शोभा', 'प्रभात कुसुम', 'नीरद', 'सन्ध्या तारा', 'चन्द्रोदय', 'इन्द्रधनुष' आदि रचनाओं में ही दिखलाई पड़ने लगता है। 'अनुनय', 'सुधा में गरल' 'वेदनें, ठहरो' 'पी ! कहाँ ?' और 'उपेक्षा करना' आदि कविताएँ वेदना-विवृति का आरम्भ हैं।

'होली की रात', 'झील में' एवं 'हृदय का सौन्दर्य' शीर्षक कविताओं में प्रकृति के भीतर मानव-हृदय की-सी अनुभूतियों का ग्रहण, प्रतीकात्मक व्यंजना एवं अन्तर्मुखी दृष्टि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। मूर्त्त-अमूर्त्त एवं स्थूल-सूक्ष्म प्रस्तुत-अप्रस्तुत-विधान की प्रवृत्ति भी सुन्दरता के साथ व्यक्त होने लगी थी। नीचे लिखी पंक्तियाँ उदाहरण-स्वरूप देखी जा सकती हैं—

'बरसते हो तारों के फूल
छिपे तुम नील पटी में कौन ?
उड़ रही है सौरभ की धूल
कोकिला कैसे रहती मौन !
चाँदनी धुली हुई है आज
बिछलते हैं तितली के पंख।
सम्हलकर मिल कर बजते साज
मधुर उठती हैं तान असंख॥

(झरना—पृ० ५५)

'तारों के फूल' में रूपक का 'व्यधिकरण'–आरोप (विभक्ति भेद को रखते हुए आरोप करना) हुआ है। 'कौन' से रहस्यात्मक वृत्ति की झलक है। 'सौरभ की धूल उड़ने' में मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, 'चाँदनी धुली हुई··· तितली के पंख' में प्रभाव-साम्य के आधार पर 'सूक्ष्म' के लिए 'स्थूल' का 'अप्रस्तुत'-विधान हुआ है। 'प्रार्थना' कविता में प्रभाव-साम्य के आधार पर लाया गया अप्रस्तुत-विधान कितना अनुभूत्यात्मक है—

'दृष्टि फिर गई तुम्हारी, किया—
सृष्टि ने मधु-धारा में स्नान।
बह चली मन्दाकिनी मरन्द—
भरी, करती कोमल कल गान ॥'
—(झरना—पृ० ५४)

× ÷ ×

तरल हीरक लहराता शान्त
सरल आशा-सा पूरित ताल।
सिताबी छिड़क रहा विधु कान्त
बिछाये सेज कमलिनी जाल।
(झरना – पृ० ५६)

कहीं प्रकृति की उज्वल आभा से मानस का अजिर जगमगाया गया है, तो कहीं मानस के आलोक से प्रकृति का प्रशस्त आँगन सजाया गया है। बाह्य सौन्दर्य के स्थान पर आन्तरिक सौन्दर्य का प्राधान्य छायावादी काव्यधारा की मुख्य विशेषता है। मानस की विविध वृत्तियों को स्वयं प्रकृति के उपकरणों का उपमान मानना 'प्रसाद' की अन्तर-दृष्टि का ही परिचायक है। प्रतीकों का रमणीय विधान भी निम्न पंक्ति में दर्शनीय है, जहाँ 'मानस में मधु-लहरी का उठना' और 'कूल पर मलयज के वास' की प्रतिष्ठा हुई है—

'अरुण हो सकल विश्व अनुराग
करुण हो निर्दय मानव-चित्त;

उठे मधुलहरी मानस में,
कूल पर मलयज का हो वास।'
(झरना—पृ० ५२)

सन् १९०९ ई० के 'इन्दु', कला १, श्रावण में 'प्रकृति-सौन्दर्य' शीर्षक एक प्रबन्ध भी प्रकाशित हुआ है। प्रकृति के मानवीकरण एवं मानव-भावापन्नता के संकेत भी देखने योग्य हैं—

'निशा का नीरव चन्द्र-विनोद,
कुसुम का हँसते हुए विकास।
चन्द्रिका से उज्ज्वल आलोक,
मल्लिका-सा मोहन मृदुहास।'
—(हृदय का सौंदर्य, पृ० ५२)

× × ×

'आज इस हृदयाब्धि में, बस क्या कहूँ।
तुंग तरल तरंग ऐसी उठ रही—
शीतकर शत-शत उदय होने लगे।
तारिकाएँ नील नभ में आज ये,
फूल की झालर बनी हैं शोभती।'
—('झरना', 'मिलन', पृ० ४२-४३)

'झरना' की रचनाओं में 'मानववाद' का उदात्त स्वर एवं आत्मानन्द की ध्वनि भी गूँजते हुये सुनाई पड़ते हैं—

'प्रार्थना और तपस्या क्यों ?
पुजारी किस की है यह भक्ति।
डरा है तू निज पापों से,
इसी से करता निज अपमान।।'
—('झरना', 'आदेश' पृ० ६४)

इस प्रकार जब 'प्रसाद' जी १६११ ई० से ही गुप्त भगीरथ की भाँति सभी प्रकार की उपेक्षाओं को सहते हुए, प्रदर्शनों एवं कवि-सम्मेलनों के अखाड़े से दूर, काशीपुरी के एकान्त क्रोड़ 'काली महाल' मुहल्ले की चाँदनी रातों, वसन्ती प्रभातों एवं उजेली सन्ध्याओं में नवयुग की जिस काव्य-गंगा को अवतरित करने के प्रयत्न में संलग्न थे, तब हिन्दी-काव्य में व्रज-भाषा की खुमारी में उठने वाली वाहवाहियाँ अपना रंग जमाये हुए थीं। काशी में पुरानी रीतिकालीन कविताओं की धूम थी। सम्मेलनों की बाजी भी कवित्त-सवैया वालों के हाथ में ही थी। इसी बीच प्रथम विश्व-महायुद्ध छिड़ गया। इस भीषण रक्त-पात एवं मानव की आसुरी लीला ने संसार के विचारकों के चित्त को बड़ी चोट पहुँचाई। इस भौतिकतावादी सभ्यता और उसके यांत्रिक जीवन की विकृतियों के प्रति वितृष्णा से उनका मन भर गया। इस वर्बरता ने उनके कोमल मन को प्रकृति, कल्पना एवं कला के सुषमा-लोक की ओर प्रत्यावर्तित किया। भारत पर भी इसका प्रभाव अनि-वार्यतः पड़ा। भारतीय पाश्चात्य सम्पर्क में आये और उनके ज्ञान-विज्ञान से भी परिचित हुए। पाश्चात्य सम्पर्क ने हमारी सामाजिक रूढ़ियों की कट्टरता को शिथिल किया। जातीयता से राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की दृष्टि का विस्तार हुआ। धर्म-सरणियों के स्थान पर उनकी पृष्ठ-भूमि में छिपी दार्शनिक चिन्तना की ओर बुद्धि गई। तर्क एवं विवेचन की शक्तियों ने दृष्टि में व्यापकता प्रदान की और जीवन के स्थूल संघटन की ओर से उसके संचालक सूक्ष्म तत्वों के देखने की वृत्ति जाग्रत हुई। आर्य-समाज द्वारा उद्भावित एवं उद्बोधित हिन्दू-कट्टरता में एक व्यापक उदारता एवं यथार्थ-चेतना से संभावित सहिष्णुता का जागरण हुआ।

'प्रसाद' जी का जन्म सन् १८८६ में काशी के एक सम्भ्रान्त वैश्य-परिवार में हुआ था। पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' १८६६ ई०

में बंगाल के महिषादल स्टेट में उत्पन्न हुए थे और पं० सुमित्रानन्दन पन्त अल्मोड़ा से २० मील दूर कौसानी नामक ग्राम में सन् १६०० ई० के मई मास में पैदा हुए (यही 'सरस्वती' पत्रिका का भी जन्म-वर्ष है)। 'पन्त' जी अवस्था में 'प्रसाद' जी से लगभग ११ वर्ष और 'निराला' जी से ७ वर्ष छोटे हैं। छायावाद के इस 'प्रस्थान-त्रयी' की कविताओं का रचना-काल भी इसी क्रम से प्रारम्भ हुआ। सन् १६१६ में, जब 'प्रसाद' जी की 'स्वप्नलोक' 'झील में' आदि रचनाएँ 'इन्दु' में निकल रही थीं और 'महाराणा का महत्व' एवं ब्रजभाषा की 'प्रेम-पथिक' पुस्तक निकल चुकी थीं, तब 'निराला' जी की प्रथम कही जाने वाली सुप्रसिद्ध रचना 'जुही की कली' काफी प्रसिद्धि पा चुकी थी; अधिक से अधिक यह सन् १६१५ में लिखी गई होगी।

यह कवि की १६ वर्ष की अवस्था में लिखी गई, हिन्दी के 'मुक्त-छन्द' की प्रथम रचना है। 'निराला' जी ने सम्भवतः ब्रजभाषा एवं अवधी में भी प्रारम्भ में अभ्यास किया होगा। उनके मुख से सुना गया यह छन्द इसका संकेत करता है—'करि अङ्ग-भंग ब्रजभाषा के समस्त छन्द ब्रज-अवधी में अब कविता हमें लिखुनो है।' 'पन्त' जी ने १६०७ में एक गज़ल लिखी थी। १६१६ में 'तम्बाकू का धुआँ' आदि कविताएँ छपीं। सन् १६१६ में हरिगीतिका-छन्द में पहली रचना छपी। ये रचनाएँ अल्मोड़ा से निकलने वाले 'अल्मोड़ा अखबार' के अङ्को में दबी पड़ी हैं। 'प्रसाद' एवं 'पन्त' जी ने हिन्दी-प्रदेश में जीवन प्रारम्भ किया था, अतः उन पर प्रारम्भ में 'द्विवेदीयुगीन' प्रभाव अवश्य पड़े थे और उन्होंने कवित्त एवं रोला, हरिगीतिका में भी रचनाएँ की थीं, पर 'निराला' जी के कवि-जीवन का प्रारम्भ एवं संस्कार वंग-भूमि में हुआ, अतः उनमें निरालेपन और छन्द-मुक्ति की नव-चेतना प्रारम्भ से ही दिखलाई पड़ती है। 'पन्त' जी अल्मोड़े से काशी के 'जयनारायण हा० स्कूल' में पढ़ने चले आए और 'वीणा'

में संग्रहीत उनकी अधिकांश रचनाएँ १९१९ ई० तक की लिखी हुई हैं। 'निराला', 'पन्त' और 'प्रसाद' तीनों ही नव-पथान्वेषी रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'गीतांजलि' के प्रकाशन से उन्मिष्ट हुए थे। 'गीतांजलि' सन् १९११ में प्रकाशित हुई। नव-पथ की उत्कंठा की धुंध में प्रकाश-सा लहरा उठा। 'प्रसाद' के 'कानन-कुसुम', 'चित्राधार' एवं 'झरना' की रचनाओं में 'गीतांजलि' की प्रेरणा स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। 'पन्त' जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'वीणा' की कविताओं में वे 'रवीन्द्र' से प्रभावित हुए हैं। 'वीणा' के पृ० ८ पर प्रकाशित 'मम जीवन की प्रमुदित प्रात' कविता में उन्हें 'गीतांजलि' के 'अन्तर मम विकसित कर'—गीत से प्रेरणा मिली थी। 'जुही की कली'—कविता में 'निराला' जी का छन्द—पद—बन्ध एवं नाद—सौन्दर्य वंग—संकार का ही हिन्दी—विकास है। 'पन्त' जी एवं 'निराला' की अपेक्षा 'प्रसाद' जी पर राविन्द्रिक प्रभाव कम है। 'प्रतीक', ४, हेमन्त—अङ्क के पृ० २७ पर 'मेरा रचना—काल'-लेख के भीतर 'पन्त' जी ने स्वयं लिखा है कि 'वीणा' की कविताएँ १९१८—२० के बीच की ही हैं। 'श्रीमती नायडू और 'ठाकुर' की अङ्गरेज़ी रचनाओं में मुझे अपने हृदय में छिपे सौन्दर्य और रुचि की अधिक मार्जित प्रतिध्वनि मिलती थी, (पृ० २९, वही)। 'वीणा'—काल की रचनाओं में उन्होंने प्रकृति की छोटी—मोटी वस्तुओं को अपनी कल्पना की तूली से रंग कर काव्य की सामग्री इकट्ठा की है। 'गीतांजलि' में उज्ज्वल कल्पना की जो उड़ान दिखलाई पड़ी, वह मूर्तिमत्ता एवं नाद—सौन्दर्य की अपूर्व लाक्षणिक आभा से प्रभास्वर थी। उसमें प्रतीकों एवं 'अप्रस्तुतों' का साग्रिक विधान था। 'गीतांजलि' के कोमल—कान्त पद-बंध ने हिन्दी के रुद्ध शब्द—विधान को सँवारने में बड़ी प्रेरणा दी थी।

हिन्दी में प्रगीत—रचना का प्रारम्भ समझने में कानपूर से निकलने वाली 'प्रभा' का काफ़ी महत्व है। यों तो 'एक भारतीय आत्मा' एवं

'नवीन' जी ने ही इनका आरम्भ कर दिया था, पर बाबू जयशंकर प्रसाद द्वारा यह काम वास्तविक रूप में प्रारम्भ हुआ। इनके साथ सर्व श्री मुकुटधार पाण्डेय, बदरीनारायण चौधरी एवं रूपनारायण जी पाण्डेय आदि भी आये, पर ये कुछ दूर चलकर ही समाप्त हो गये। इस नवीन काव्य-रूप के निर्माण में जिस उच्च प्रतिभा की आवश्यकता थी वह 'प्रसाद' के अन्य समसामयिकों में न थी। इन कवियों में राष्ट्रीयता की बहिरागत प्रेरणा-मात्र नहीं काम कर रही थी; इनका आधार जीवन की व्यापक प्रेरणा थी। यही कारण है कि इनकी रचना में नये युग की ताजी भावना और आन्तरिक अनुभूति का चेतना-मय संस्पर्श है। इनमें रचनाकारों के व्यक्तित्व का उन्मेष है, उनकी भाव-सत्ता में उनका व्यक्तित्व भी पवमान है। १९२० ई० में 'निराला' जी भी रियासत की नौकरी छोड़ घर चले आये। 'अनामिका'-संग्रह में आने-वाली अधिकांश कविताएँ लिखी जा चुकी थीं। 'परिमल' की कुछ कविताएँ भी इसी के आसपास की लिखी हैं। 'निराला' ने 'जुही की कली' शीर्षक मुक्त-छन्द की कविता और एक लेख 'सरस्वती' में भेजा। लेख तो छप गया, पर कविता लौटा दी गई। पर निराला' का उत्साह भंग न हुआ। वे बराबर कठिनाइयों, उपेक्षाओं और अपमानों से जूझते हुए ललकारते रहे—

'तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा
पत्थर की निकले फिर गङ्गा-जल-धारा।'

× × ×

'आज नहीं है मुझे और, कुछ चाह
अर्ध-विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धन-मय छन्दों की छोटी राह।'

('अनामिका')

सन् १६१८-१६ में प्रथम विश्व-महायुद्ध समाप्त हो गया। सन् १६२० में गांधी जी ने अफ्रीका से आकर भारत के राजनीतिक मच पर प्रवेश किया। 'जलियाना वाला-कांड' भी हुआ और भारतीयों में एक विराट् स्वाधीनता-चेतना जाग उठी। गांधी जी ने अपने आन्दोलनों द्वारा जन-जागरण के यज्ञ में आहुतियाँ डालनी शुरू कीं। आशा-निराशा की धूप-छाँह से हमारी राष्ट्रीयता का अभिर्यान गतिमान होता रहा। इसी नवीन सांस्कृतिक एवं जीवनोद्वेलित पृष्ठभूमि में छायावादी काव्य की सर्जना पसरती गई। कितने ही समालोचकों ने जन-जागरण, व्यक्ति-स्वातंत्र्य एवं राष्ट्रीय उन्मेष की इस वीथिका से छायावादी काव्य-धारा का कोई सम्बन्ध न मान उसे पलायनशील एवं वायवी कल्पनाओं का साहित्य मानते हैं। कुछ इसे अङ्गरेज़ी के 'रोमानी पुनर्जागरण' की प्रतिध्वनि और कुछ बँगला की अनुगूँज बतलाते हैं। राष्ट्रीयता ने एक ओर तो प्रत्यक्ष रूप से काव्य में प्रसार किया और मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, सनेही एवं गोपाल शरण सिंह की रचनाओं में प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति प्राप्त की, दूसरी ओर कवियों का एक वर्ग प्रगीत-मुक्तकों एवं भाव-गीतों में अपनी अभिव्यक्ति पाने लगा। 'प्रसाद' जी ने तो 'झरना' से हिन्दी में कविताओं का एक नया द्वार खोल ही दिया था, अब 'निराला' और 'पन्त' ने अपनी नव-नवोन्मेषशालिनी कल्पना से उसे भाषाभिव्यक्ति का नूतन पथ प्रदान किया और 'वस्तु' के क्षेत्र में अछूती भूमियाँ उन्मुक्त कीं। खड़ीबोली के रुक्ष कलेवर में नवीन आभा और नव्य शक्ति का का उत्थान किया। 'निराला' ने उसे मुक्त-वृत्त के निकष पर भी कसा। अर्थ, अभिव्यक्ति और संगीत एकाकार हो गये। स्वानुभूति की प्रधानता के कारण कवि की भाव-धारा का भी उन्नयन होता गया। 'गुप्त' जी के आख्यान-मूलक काव्य-रूप से यह प्रगीत-काव्य-रूप एक अगला चरण है। आगे चलकर कथानक-मूलक काव्य

एवं प्रगीतों की दो धाराएँ चली और जिनका युगानुकूल अपने-अपने ढंग पर स्वतंत्र विकास हुआ। 'गुप्त' जी एवं हरिऔध के 'सॉनेट' (चतुर्दशपदी), माखनलाल जी के मुक्तक-गीतों से बढ़ती हुई प्रगीतों की परंपरा सन् १९२५ के लगभग प्रकाशित होनेवाले 'प्रसाद' के के 'आँसू'-संग्रह में सहसा खिल उठी और उसकी सुरभि से हिन्दी का उपवन महमहा उठा। 'झरना' के बाद छायावादी काव्यधारा में 'आँसू' दूसरी चोट है, जिसने सहृदयों का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। सन् १९२० ई० तक 'सरस्वती' का सम्पादन आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी करते रहे। इस पत्रिका के द्वारा नवीन काव्य-धारा पर बराबर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, अंकुश लगते चल रहे थे। 'द्विवेदी' जी ने इस धारा को जीवन की नवीन परिस्थितियों एवं सामाजिक मनोविज्ञान के नवीन विकासों की उद्भूति न समझ कर बाहरी प्रभाव की अनुकृति एवं उच्छृंखल युवक-स्फूर्ति से अधिक महत्व न दिया। उन्होंने प्राचीन एवं परंपरागत विधानों को इतना चिरन्तन और सर्वकालोपयोगी मान लिया था कि उसमें तनिक भी परिवर्त्तन उनकी दृष्टि में विकृति का ही सूचक था। नयी धारा के कवि प्राचीन के परिष्कार के लिए भी व्याकुल थे और नवीन की खोज के लिए उत्सुक भी। निश्चय ही कानपूर की 'प्रभा' पत्रिका, उस समय नवीन के लिए 'सरस्वती' से अधिक उदार एवं प्रवर्धक थी। श्री पं० माखनलाल जी की भाव-वंकिमा-युक्त रचनाएँ 'प्रभा' में ही प्रकाशित हुईं। श्री माखनलालजी की रहस्य-परक रचनाएँ बाद में इतनी उन्मुक्तता के साथ आयीं। उस समय उनमें राष्ट्रीयता-युक्त बाह्यवादिता की ही प्रधानता थी, हाँ, शैली की भंगिमा-वंकिमा अन्य राष्ट्रीय कवियों की अपेक्षा तब भी उनकी विशेषता थी। प्रारम्भ में वे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी आदि के सम्पर्क में अधिक थे और अपनी अनुभूतियों की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति के विरुद्ध कदाचित् अधिक सजग। नवीन कवियों की कल्पनाओं में अधिकांश आलोचकों

को अनौचित्य एवं अव्यवस्था दिखलाई पड़ती थी, उनके शब्द—विधान में उन्हें चिन्त्य प्रयोगों की भरमार मिलती थी। काशी—हिन्दू-विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विद्वान् श्री लाला भगवानदीन 'दीन' जी द्वारा प्रकाशित 'लक्ष्मी' पत्रिका का स्वर भी नव-काव्य-विरोधी ही था। उसमें छायावादी कवियों पर नित्यप्रति व्यंग्यात्मक छींटे एवं कटूक्तियाँ निकला करती थीं। छायावादी कविता पुराने आलोचकों एवं कवियों के लिए व्यग्यं एवं विनोद की खासी सामग्री थी। कवि-सम्मेलनों में भी ये विस्मय एवं विनोद की भावना से ही देखे जाते थे। 'प्रसाद' जी जैसे गम्भीर स्वभाव के कवि तो सम्मेलनों से सदा ही दूर रहे। हाँ, ब्रज-भाषा के कवित्त-सवैयों एवं खड़ी बोली की घनाक्षरियों के सामने उनके गीतों के मधुर स्वर का आकर्षण जनता की एकरसता में वैभिन्न्य-जनित तुष्टि का साधन अवश्य बन जाता था। 'आसू' के प्रकाशन ने १६२५ ई. से पाठकों को इस नवीन काव्य की समझ-बूझ के लिए अवश्य गम्भीर बनाया। पुराने अप्रस्तुतों की भंगिमा-युक्त नव्य-लाक्षणिक व्यवस्था, नवीन प्रतीकों के प्रयोग, मूर्त्त अमूर्त्त-विधान, मानवीकरण, ध्वन्यर्थ-व्यंजना एवं विशेषण-विपर्यय की नवीनता-युक्त शैली ने पुराने आलोचकों की दकियानूसी जबान को कुछ शिथिल किया। अन्तर की वेदना-सिक्त अनुभूतियों ने पूर्वाग्रह-रहित प्रौढ़ विचारकों एवं नव वय के सहृदय पाठकों पर ऐसी मोहिनी फेर दी कि साहित्यिक वाद—विवादों—एवं अन्त्याक्षरी प्रतियोगिताओं में—

'जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति—सी छायी।
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आयी ॥'

—का स्वर भी चाव से सुना जाने लगा। पर 'अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा जगने' पर चलने वाले कलम-कुठारों की धार भी

अभी 'इकसार' चल रही थी और कबीर के 'सन्त-जन सूरमा' की भाँति पुराने विरोधी आलोचक अपनी 'समसेर' चलाये जा रहे थे।

पं० सुमित्रानन्दन जो पन्त की प्रसिद्ध रचना 'पल्लव' का प्रकाशन 'आँसू' के लगभग एक वर्ष बाद होता है। यद्यपि 'पन्त' जी की प्रारंभिक रचनाओं का संग्रह 'वीणा' पुस्तक रूप में १६२७ ई० में प्रकाश में आयी, किन्तु रचना-काल-क्रम से 'ग्रंथि' (सन् १६२०) 'उद्गास' (१६२१) एवं 'आँसू' (१६२२ ई०) पहले की ही रचनाएँ हैं। ये तीनों ही रचनाएँ कथानक-गीति हैं और इनमें छायावादी काव्य-धारा के नवीन भावोच्छ्वास, नवीन वेदना एवं बाँकी लाक्षणिकता के साथ नये वेग से सामने आये। भावुक नवयुवक-हृदय की पीड़ा रोमानी कल्पना की छाया पाकर पसर उठी है। विशेषणों की विपर्यय-प्रणाली में पाठकों एवं श्रोताओं को नया आकर्षण मिला। 'खड़ीबोली' की खड़-खड़ाहट एक ऐसा मधुर आवरण ले रही, जिसमें पूरा-पूरा न समझने वालों के श्रोत्र भी एक कान्त स्पर्श का अनुभव करने लगे थे। 'पल्लव' इन विशेषताओं का एक सुविकसित, सुनिश्चित एवं सुव्यवस्थित रूप लेकर सन् १६२६ ई० में हिन्दी-संसार के सामने आया। निरन्तर विरोध—व्यंग्य सहते हुए भी इन नवीन कवियों का सृजन-वेग मन्द नहीं पड़ा, पर इन विरोधी व्यंग्य-कर्त्ताओं की जितनी ही चोटें पड़ती गयीं, उनकी अन्तस्साधना और पुष्टतर होती गयी। उसमें परिष्कार—परिमार्जन हुआ, पर दबी नहीं, क्योंकि उसकी प्रेरणा का मूल जीवन एवं समय की परिस्थितयों में रस खींच रहा था। वह युग की एक आवश्यकता थी। भाव-भाषा की दिशा में हिन्दी—खड़ी बोली के उन अभावों की वह पूर्ति थी, जो अब तक न हो सकी थी और जीवन की बहुमुखी विकास गतियों को देखते हुए जिसकी पूर्ति अनिवार्य थी। अब इस नवीन काव्य-धारा ने हिन्दी पाठकों एवं श्रोताओं में अपने लिए सहृदय प्रशंसकों का एक वर्ग भी पैदा कर लिया था।

'पल्लव' के प्रकाशन के ६ वर्ष पूर्व ही सन् १६२० में एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना घटी थी। 'गिरीश' जी के 'साहित्य-मंत्री'-काल में 'प्रयाग विश्व-विद्यालय' के 'जैन हॉस्टल' के एक कवि-सम्मेलन में एक ऐसी बात हो गई, जिसकी साधारणतया आशा न थी और जो अपने बाह्यरूप में एक साधारण उत्सव भले ही था, पर जिसमें होने-वाली घटना नवीन काव्य की एक प्रकार से प्रथम विजय-घोषणा थी। ८-६ बजे रात का समय था। आकाश से निर्मल चन्द्रिका बरस रही थी। द्विवेदीयुगीन काव्य-प्रतिभा के ज्वलन्त महाकवि, धवल-केश-पाशधारी श्रीयुत 'हरिऔध' जी सभापति के आसन पर विराजमान थे। कुछ देर पश्चात् सौम्य-शालीन, गौर-वर्ण, आकर्षक व्यक्तित्व वाला एक पच्चीस-वर्षीय कृश-कान्त युवक मंच पर आया। व्यंग्य-विद्रूप एवं विस्मय-कुतूहल से भरे उस वातावरण में युवक ने 'छाया' नामक कविता का पाठ प्रारम्भ किया। स्वर, भाषा एवं कल्पना की कमनीयता की उठान के साथ 'कटी-छटी नव कविता-सी' तक ही मालोपमा की लड़ी पहुँची थी कि 'हरिऔध' जी ने अपने गले की माला को युवक के गले में डाल दिया। सारा सम्मेलन विस्मय-विमुग्ध हो उठा। यह कौन-सा युवक कवि है जिसकी कविता पर मुग्ध होकर 'मर्यादा-काव्य' के महारथी कवि 'हरिऔध' जी ने अपनी माला उसे पहना दी! दूसरे ही दिन यह घटना वायु-वेग से फैलने लगी। पत्र-पत्रिकाओं में भी इसका उल्लेख हुआ। पुरानी धारा के समर्थकों में एक सनसनी फैल गयी और उन्होंने अपने संघटन की नींव को हिलती हुई अनुभव किया। नवीन पथ के समर्थकों की बाँछें खिल गईं। साधारण जन-समुदाय पर 'छायावाद' की यह पहली विजय थी। नवम्बर सन् १६२१ में एक कवि-सम्मेलन में 'पन्त' जी ने 'स्वप्न' और सन् १६२२, अप्रेल में कायस्थ पाठशालाके प्रांगण में 'बादल' कविता पढ़ी। 'बख्शी' जी भी मुग्ध थे। बख्शीजी उस समय 'सरस्वती' के सम्पादक थे। श्री शिवाधार पाण्डेय

(आङ्ल-विभाग, प्र० वि० वि०) ने लगभग ८ पृष्ठ का 'पन्त' जी की प्रशंसा में एक लेख लिखा । सन् १९२२ में अजमेर में 'उच्छ्वास' कविता छपी । सम्मेलन-पत्रिका ने उसकी हँसी उड़ाई और प्रो० शिवाधार पाण्डेय ने उसे 'नवयुग' का प्रारम्भ कहा । इस समय कलकत्ते के 'मतवाला' में 'निराला' जी की रचनाएँ निकला करती थीं, वही 'मतवाला' जिसके लिये स्वयं 'निराला' जी ने कहा है कि यदि 'मतवाला' न होता तो 'निराला' भी न होता । यहीं उनका 'निराला' नामकरण हुआ । हिन्दी की तत्कालीन सम्मानित पत्रिकाएँ इन नवीन कविताओं को प्रकाशित ही नहीं करती थीं । मिर्ज़ापुर के बाबू महादेव प्रसाद जी द्वारा संचालित 'मतवाला' ने हिन्दी-काव्य के लिए विष समझे जानेवाले इस नवीन काव्य को शंकर की भाँति अपने कण्ठ में स्थान देकर 'शिव' बनाया । अभी 'निराला' जी की 'अनामिका' नाम की छोटी-सी कविता-पुस्तक ही 'मतवाला' के तत्वावधान में निकल चुकी थी, पर 'निराला' के मुक्त-छन्दों की प्रतिकूल-अनुकूल प्रतिक्रिया प्रत्येक साहित्य-विचारक के मन में हो चली थी । सन् १९२२ ई० में 'समन्वय' नामक 'रामकृष्ण-मिशन' की ओर से प्रकाशित होने वाली दार्शनिक पत्रिका के सम्पादन-विभाग में जाकर भी वे वहाँ अधिक समय तक टिक न सके थे । यह अवश्य है कि इस काल में कवि की दार्शनिक रुचि को सम्यक् खाद्य एवं पोषण प्राप्त हुआ । कहते है 'समन्वय' के लिए 'निराला' जी का नाम स्वयं आचार्य द्विवेदी जी ने स्वामी माधवानन्द जी के पास लिखा था और वह भी उनकी 'प्रभा' में प्रकाशित 'अध्यात्मफल' नामक कविता के आधार पर । 'जुही की कली' के 'सरस्वती' से लौट आने के क्षोभ में कविता को 'गृह-गृह की पार्वती' और 'उर-उर की आरती' बनाने के लिए कृत-संकल्प मनस्वी 'निराला' ने 'पंचवटी प्रसंग' रचना इसी समय स्वच्छन्द छन्द में लिखी थी । अपने 'दार्शनिक' के लिए 'समन्वय'-सम्पर्क का

पूर्ण उपयोग करने वाले 'निराला' का मुक्त कवि-स्वभाव वेदान्त-विषयक नीरस इस साम्प्रदायिकपत्र का संपादन करते हुए ('मुकुल की बीबी' में कवि-द्वारा स्वयं लिखित) सरस कविता—कुमारी की उपासना के लिए छटपटाने लगा था। और सन् १६२३ के निकट वे 'मतवाला' में आ गये थे। स्वयं 'निराला' जी के ही शब्दों में वे 'लगातार साहित्य—समुद्र—मंथन' कर रहे थे, 'पर निकल रहा था केवल गरल। पान करने वाले, अकेले महादेव बाबू। शीघ्र रत्न और रम्भा के निकलने की आशा से अविराम ""मथते जाने की सलाह दे रहे थे' (मुकुल की बीबी)। 'मतवाला' के एक वर्ष समाप्त करते-करते 'निराला' की कितनी ही प्रौढ़ रचनाओं ने हिन्दी के भंडार को सम्पन्न कर दिया था, पर उनकी चमक अभी सामान्य हिन्दी—पाठक तक उस रूप में न आई थी, जैसा चाहिए था। कवि अपनी उपेक्षा की विष—ज्वाला से स्वयं जला जा रहा था। 'परिमल' की अधिकांश रचानाएँ इसी काल में लिखी गई हैं।

सन् १६२६ ई० में 'पन्त' का 'पल्लव' बड़ी धूम-धाम के साथ निकला। 'पन्त' जी ने अपने प्रयत्न एवं नवीन काव्य-दिशा की विशिष्टताओं पर एक विस्तृत भूमिका लिखी, जिसमें अपने शब्द—शोधन की नवीन दृष्टि एवं विषय—वस्तु की प्रसूति—परिष्कृति पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला। रीतिकालीन शृंगार की स्थूलता एवं मांसलता का विरोध करते हुए 'पन्त' जी ने नये काव्य में शृंगार के सुरुचि—पूर्ण उद्धार एवं उसकी मानसिकता—पूर्ण सूक्ष्म अनुभूतियों की कलात्मक अभिव्यक्ति की बात बहुत बल देकर कही। रीतिकालीन काव्य के भीतर जड़ीभूत यांत्रिकता के विरोध में उन्होंने आन्तरिक भावनाओं एवं कल्पनाओं तथा वस्तु के आन्तरिक सौन्दर्य्य के प्रकाशन का पथ सामने रखा।

'पन्त' जी ने जिस प्रवेग के साथ पुराने और विशेषकर मध्यकालीन शृंगार–दृष्टि का विरोध किया, उससे कितने ही पंडितमानी महंथों की नौंक-भौं चढ़ गईं। हिन्दी-संसार ने पन्त के सुकुमार प्रकृति-चित्रण, लाक्षणिक वैचित्र्य, शब्द-संगीत की कोमलता एवं चित्रात्मक अभिव्यक्ति को बड़े कुतूहल के साथ देखा। उनके आन्तरिक प्रभाव एवं वैयक्तिक अनुभूति के आधार पर किये गये 'लिंग' के नव प्रयोगों की खिल्लियाँ भी उड़ाई गईं। 'पल्लव' में प्रकृति इतने उभार के साथ अपने 'मानवी कृत' अलंकृत एवं मानव-भाव-रंजित रूप में सामने प्रस्तुत हुई कि 'प्रसाद' एवं 'निराला' में प्रकृति-चित्रों की अधिकता पर प्रकृति-वाद को ही 'छायावाद' का प्राण घोषित कर दिया गया। 'पन्त' जी की 'पल्लव'–कालीन रचनाएँ प्रयाग में ही लिखी गई हैं। यहाँ कवि को अंगरेजी के विद्वान् श्री शिवाधार पाण्डेय जी का वरद सम्पर्क प्राप्त हुआ और उनकी प्रेरणा से उन्होंने शेली, कीट्स एवं वर्डस्वर्थ आदि कवियों का गम्भीर अध्ययन किया। इन कविताओं ने कवि की प्रकृति-दृष्टि को आलोकित अवश्य किया, पर 'पन्त' की प्रकृति-सम्बंधिनी कविताएँ अंगरेजी के रोमानी-पुनर्जागरण-युग' की अनुकृति नहीं कही जा सकतीं। वह कवि के चिर प्रकृति-सेवन एवं एकान्त-भ्रमण की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित हैं। 'पन्त' जी ने 'पल्लव' के प्रारम्भ में ही कहा—

'न पत्रों का मर्मर-संगीत
न पुष्पों का रस-राग-पराग।'

'पल्लव' कवि की काव्य-प्रतिभा का नवीन पल्लव है। वह पल्लव की भाँति ही सहज एवं अकृत्रिम वातावरण में फूट निकला है। अभी कवि ने जो नवीन पथ-संधान किया है, उसका यह प्रारम्भिक चरण है, अतः इसमें उच्च कोटि की काव्य-कला एवं पुष्ट रसात्मकता की आशा, कवि के शब्दों में ही, अकाल प्रत्याशा है; किन्तु कवि ने अपने पाठकों को इतना तो अत्यन्त विश्वास के साथ सूचित कर दिया कि 'पल्लव' की

काव्य-कला हिन्दी-काव्य की एक नयी दिशा-दृष्टि है। रीतिकालीन शृंगार की स्थूलता के विरुद्ध उसने 'पल्लव' में स्पष्ट कहा—

'स्वस्ति मेरे अनंग नूतन
पुरातन मदन—दहन।'

कवि ने नवीन काव्य को 'सुप्त सपनों की सजग प्रभात' कहते हुए पुराने पथ से अपने प्रयास का स्पष्ट विभाजन किया।

छायावादी काव्य–धारा की इन रचनाओं में कवि के व्यक्तित्व के स्वर स्पष्टतः प्रमुख थे। हमारे यहाँ काव्य एवं साहित्य के विचार-विवेचन में कवि का व्यक्ति-पक्ष सदैव पृष्ठभूमि में ही रहा; उस पर स्पष्ट रूप से बहुत ही कम विमर्श हुआ। 'अहम्' के दमन को बहुत दिनों से अपना साध्य मानने वाली भारतीय चिन्ता-धारा कवि के इस अहम्-प्रकाश को कैसे सहन कर सकती थी। वस्तु-दृष्टि को प्रधानता मिलने के कारण द्रष्टा की व्यक्तिगत अनुभूतियों के काव्य-प्रकाशन को 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त के विरुद्ध मानकर दिग्गज आलोचकों ने इसे 'अस्पष्ट' 'मूल के स्थान पर छाया' के विस्तार आदि जाने कितने ही फतवे देने शुरू किये। सन् १९२७ में 'पन्त' जी ने 'इंडियन-प्रेस' से अपनी 'वीणा' प्रकाशित करवाई। कहा जाता है कि उसकी भूमिका इतनी उग्र एवं विद्रोह-स्वर-पूर्ण थी कि हिन्दी के कुछ गण्य-मान्य विद्वानों ने उसे अपने ऊपर आक्षेप माना और किन्हीं कारणों से 'वीणा' की वह भूमिका 'वीणा' के साथ हिन्दी-संसार में दो चार हाथों के सिवा आगे न फैल पायी। वस्तुतः अपने विभिन्न दिशाओं से आनेवाले इन विरोध-प्रहारों से ये नये कवि बहुत ही क्षुब्ध थे। २५ अगस्त, सन् १९२७ को 'बेली-रोड' प्रयाग से लिखते हुए 'पन्त' जी ने 'वीणा' की नवीन भूमिका में आत्म-विश्वास के आधार पर यह घोषणा की कि अत्यन्त विनीत तथा शिष्ट शब्दों की चाटुकारी का रोचक जाल फैलाकर, 'उसकी (नवीन-विरोधी हिन्दी आलोचक की) रण-कुशल कठफोरे की-सी ठोंठ' को वह प्रसन्न नहीं कर

सकता और न वह उनकी 'लम्बी-सी चोंच के लिए शोरबा तैयार करने' में ही वह सफल हो सकता।

इन दिनों 'प्रसाद' जी मुख्यतया नाटकों की रचना में व्यस्त थे, पर स्फुट रूप से काव्य की रचना भी चला करती थी। बुद्ध के करुणा एवं तितिक्षा के भावों से भी वे प्रभावित हो चुके थे। प्रकृति के प्रति कुतूहल एवं राग-पूर्ण दृष्टिपात, आन्तरिक प्रेमोच्छ्वास एवं कवि के व्यक्तित्व को संवेदित करनेवाले प्रभावों की चित्रात्मक अभिव्यक्ति, व्यक्तिगत राग-विरागों तथा विवशताओं के गान और सामाजिक परिस्थितियों से जनित सूक्ष्म मानसिक प्रतिक्रियाओं के प्रकाशन की प्रवृत्तियाँ नवीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ होती जा रही थीं। विरोधों के बीच से नवीन काव्य बाधाओं को चीरता आगे बढ़ता जा रहा था। इन प्रगीतों में वस्तु एवं अभिव्यक्ति तथा भाव और छन्द में सामंजस्य का तत्व बढ़ता जा रहा था। 'आँसू' द्वारा प्रवर्तित अतीत की सुखदायिनी स्मृतियों के प्रति 'प्रसाद' जी के करुणोद्‌गार नवोत्थित कवियों के लिए पर्याप्त आकर्षक बन गये थे। 'पल्लव' के आधार पर प्रकृति के प्रति कमनीय कल्पना की दृष्टि भी सुस्पष्टतर होती जा रही थी और प्रेम-सौन्दर्य की भावनाएँ एवं विरहानुभूतियाँ ऊपर उभरती आ रही थीं। 'प्रसाद' जी ने दुःख एवं करुणा की समस्त विषण्ण छायाओं एवं कटुताओं की अभिव्यक्ति के साथ ही उन्हें जो एक दार्शनिक समरसता की पृष्ठभूमि प्रदान कर दी थी, उससे उनके व्यक्तिवादी स्वर में भी एक औदात्य आ गया था।

सन् १६२६ ई० में ही श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' भाग २ का तृतीय संस्करण निकाला, जिसमें 'प्रसाद' पन्त, 'निराला' आदि को स्थान तो मिला, पर वह 'हिन्दी के कविता-कानन में विदेशी फूलों की सजी हुई क्यारी' ही कही गई। मुक्त छन्द को 'कगारू-छन्द'

नाम दिया गया। गांधी जी के उपयोगितावादी विवादों का भी उसमें उल्लेख किया गया।

'निराला' जी सामाजिक एवं साहित्यिक रूढ़ियों से निरन्तर जूझते जा रहे थे। साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में नवीन धारा अवश्य प्रवलतर होती जा रही थी और पुरानी धारा क्षीयमान, पर साहित्य-पीठों एवं माध्यम-द्वारों पर पहरा अभी 'द्विवेदी-युग' का ही चल रहा था। यह होते हुए भी ये नवचेता कलाकार रक्त-रंजित चरणों से अपना रास्ता विश्वास-पूर्वक तै करते जा रहे थे। 'निराला' के काव्य-मुक्ति के उद्घोष को अभी पूर्ण स्वीकृति नहीं मिल पायी थी। मात्राओं की निश्चित संख्या की अनिवार्यता के विरुद्ध तो 'पन्त' ने ही 'पल्लव' में आंशिक विद्रोह किया था, किन्तु तुकान्तों का मोह उनसे भी नहीं छूट सका था। 'परिवर्त्तन' में यह प्रवृत्ति पूर्ण रूप से परिलक्षित होती है। उन्होंने अपने 'पल्लव' के प्रवेश में 'निराला' के मुक्त-छन्द का मज़ाक उड़ाया, जिसकी प्रतिक्रिया में 'निराला' ने 'पन्त और पल्लव' नाम की एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिख डाली। 'निराला' जी ने जाति-गोत्र-परंपरा के विरुद्ध अपनी पुत्री 'सरोज' का विवाह पं० शिवशेखर द्विवेदी से कर दिया। १६२७ ई० से ही उनका स्वास्थ्य खराब चल रहा था। इसके बाद ही वे द्वितीय बार कलकत्ते गये थे और कुछ महीनों अपने जामाता द्वारा संचालित 'रंगीला' नामक मासिक पत्र का संपादन भी किया, किन्तु वहाँ रह न सके और लौट कर काशी 'प्रसाद' जी के यहाँ रुके। १६२८ ई० में 'निराला' जी श्री दुलारेलाल भार्गव के यहाँ 'गंगा-पुस्तक-माला' का संपादन करने लगे। 'सुधा' में भी इनके लेखादि प्रकाशित होने लगे। इसी काल में सर्वश्री इलाचन्द्र जोशी एवं डा० हेमचन्द्र जोशी से इनका साहित्यिक विवाद छिड़ गया। 'सुधा' में जोशी-बंधुओं के लेख 'साहित्य-कला और विरह' शीर्षक से प्रकाशित हुए। 'निराला' जी ने सन् १६२६ में 'कला के विरह में

जोशी–बन्धु' शीर्षक से उनके उत्तर दिये। लेख के प्रारम्भ में उन्होंने अपने तथा अपने प्रति किये जाने वाले क्रूर व्यवहारों का जिन मर्मवेधी शब्दों में वर्णन किया है, उससे हृदय हिल जाता है। 'अपने हाथों अपनी नाक काट कर दूसरों का सगुन बिगाड़ने वाले' आचार्यों की ओर उन्होंने स्पष्ट निर्देश किया।

'निराला' जी इस समय घोर अर्थिक संकट से काल–पात कर रहे थे। जनता के लिए उन्होंने कथा–साहित्य की भी रचना की। सन् १६३० में 'गंगापुस्तकमाला' से ही 'निराला' की प्रसिद्ध कविता–पुस्तक 'परिमल' निकली। 'अनामिका' के बाद जितनी अवशिष्ट रचनाएँ थीं, वे सब 'परिमल' में संगृहीत हुईं। प्रारम्भ में ही बार–बार हिन्दी के पदवी–धारियों द्वारा अंधकार की गुहा में ढकेले जाने के बावजूद भी प्रकाशचेता गायक ने 'जग को ज्योतिर्मय कर दो!' की ही स्वर–साधना की। प्रारम्भ में लगभग १५ पृष्ठ की भूमिका स्वयं कवि ने लिखी–'यह हिन्दी के उद्यान में अभी प्रभातकाल ही की स्वर्णच्छटा फैली है। उसमें सोने के तारों का बुना कल्पना–जाल ही अभी है, जिससे किशोर कवियों ने अनन्त-विस्तृत नील प्रकृति को प्रतिमा में बाँधने की चेष्टाएँ की हैं, उसे प्रभात के विविध वर्णों से चमकती हुई अनेक रूपों में सुन्दर देखकर।.....इसीलिए, अभी जागरण के मनोहर चित्र, आह्लाद–परिचय आदि जीवन के प्राथमिक चिह्न ही देख पड़ते हैं, विहँगों का मधुर कल–कूजन, स्वास्थ्य–प्रद स्पर्श–सुखकर शीतल वायु, दूर तक फैली हुई प्रकृति के हृदय की हरियाली, अनन्तवाहिनी नदियों का प्रणय–चंचल वक्षःस्थल, लहरों पर कामनाओं की उज्ज्वल किरणें, चारों ओर बाल–प्रकृति की सुकुमार चपल दृष्टि। इसके सिवा अभी कर्म की अविश्राम धारा बहती हुई नहीं देख पड़ती। इस युग के कुछ प्रतिभाशाली अल्प–वयस्क साहित्यिक प्राचीन गुरुडम के एकच्छत्र साम्राज्य में बग़ावत के लिए शासन–दण्ड ही पा रहे हैं, अभी उन्हें

साहित्य के राज-पथों पर साधिकार स्वतंत्र-रूप से चलने का सौभाग्य नहीं मिला।' इस उद्धरण से 'पन्त' जी के 'पल्लव वाल' की ओर स्पष्ट संकेत है। साथ ही इसमें नवीन हिन्दी-काव्य की उस समय की प्रमुख प्रवृत्तियों का भी समुचित विश्लेषण हो गया है। प्रकृति-शोभा के प्राभातिक रूपों के प्रति बाल-जिज्ञासा-वृत्ति और हिन्दी के नामधारी महन्थों द्वारा उसके विरोध आदि-सभी की ध्वनि इसमें गुंजायमान है। किन्तु 'निराला' के सामने नवीन कविता का भविष्य स्पष्ट था-'परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इस नवीन जीवन के भीतर से शीघ्र ही एक ऐसा आवर्त्त बँधकर उठने वाला है, जिसके साथ साहित्य के अगणित जल-कण उस एक ही चक्र की प्रदक्षिणा करते हुए उसके साथ एक ही प्रवाह में बह जायँगे, और लक्ष्य-भ्रष्ट या निदाघ से शुष्क न हो एक ही जीवन के उदार महासागर में विलीन होंगे। यह नवीन साहित्य के क्रिया-काल में सम्भव होगा। अभी तो प्रत्येक नवयुवक लेखक और कवि अपनी ही प्रतिभा के प्रदर्शन में लगा हुआ है। अभी उनमें अधिकांश साहित्यिक अपने को समझ भी नहीं सके।' नवीन उदय की दुर्बलताओं की ओर भी 'निराला' की दृष्टि निर्धूम थी, किन्तु यह अटल विश्वास था कि यह नवीन काव्य नवीन जीवन के भीतर से ही पनप रहा है, बाहर से नहीं।

'परिमल' को उन्होंने तीन खंडों में बाँटा है। एक खण्ड में सम-मात्रिक सांत्यानुप्रास रचनाएँ हैं, दूसरे में विषम-मात्रिक सान्त्यानुप्रास और तीसरे में 'स्वच्छन्द छन्द' की कविताएँ संगृहीत हैं। 'निराला' के 'स्वच्छन्द छन्द' में भी एक ऐसी आन्तरिक लय और भाव-संगीत मिला कि सहृदय पाठक उसके काव्यत्व एवं कला से आच्छन्न होने से अपने को रोक न सका। इस भूमिका में 'निराला' अन्य प्रान्तीय भाषाओं के उस समय के साहित्य की पृष्ठभूमि की व्यापक मर्मी दृष्टि लेकर आये। हिन्दी में एक सुव्यवस्थित एवं प्रांजल भाषा का प्रश्न

भी उनके सामने स्पष्ट था। उन्होंने 'मनुष्य की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति' का उद्घोष किया और निःसंशय रूप से कहा कि 'मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना' बन्धन-युक्त एवं बन्धन-मुक्त कविता का अन्तर बताते हुए उन्होंने कहा कि दोनों में वही अन्तर है जो 'बाग की बँधी और बन की खुली हुई प्रकृति' में। उन्होंने चित्रों की प्रशस्तता एवं सीमा-प्रस्तृति की ओर भी निर्देश किया। 'पन्त' की अपेक्षा 'निराला' में चित्रों की विशालता एवं एक सीमा-हीनता में उनके सीमा के विलय की वृत्ति सदैव बलवत्तर रही। 'मुक्त काव्य' का इतिहास खोजते हुए 'निराला' जी ने सर्वश्री 'प्रसाद', रूपनारायण पाण्डेय, 'गुप्त' जी, 'हरिऔध' जी, सियारामशरणजी गुप्त एवं 'पन्त' जी की 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाली 'ग्रंथि' की कविताओं का उल्लेख करते हुए, अतुकान्त काव्य और मुक्त-काव्य के बीच 'छन्द की भूमि में रहते हुए भी उसकी मुक्तता' की विभाजन-रेखा खींच कर, 'जुही की कली' के उद्धरण से उसे पुष्ट किया। इस भूमिका पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट आभासित हो जाता है कि 'परिमल' के प्रकाशन के समय 'निराला' भाव-मुक्ति के लिए छन्द-मुक्ति के प्रति अधिक सचेत थे।

विषयों के प्रति पुरानी और नवीन दृष्टि का अन्तर समझने के लिए 'निराला' की 'परिमल' प्रथम-खण्ड की 'नयन' शीर्षक कविता देखी जा सकती है जिसमें 'वर्ण्य' की वस्तुवत्ता के स्थान पर द्रष्टा की स्वानुभूति और उसके निरूपण में प्रयुक्त 'अवर्ण्यों' की परंपरा कवि के लिए स्पष्टतः प्रियतर मालूम पड़ती है। नवीन कवि 'वस्तु' की अपेक्षा वस्तु के अपने मन पर पड़े प्रभाव में अधिक रीझता दिखलाई पड़ता है। 'अप्रस्तुत'-चित्रों की प्रस्तुति के लिए 'माया', 'तुम और मैं' 'विधवा' आदि रचनाएं दर्शनीय हैं। 'मानवीकरण' की दृष्टि से 'तरंगों के

प्रति', 'यमुना के प्रति' और संध्या-सुन्दरी' रचनाएँ परिलक्षणीय हैं। 'निराला' की कवि-चेतना में समष्टि-तत्व अन्य सामयिक कवियों की अपेक्षा अधिक सचेत रहा है। 'परिमल' में ही उनकी 'भिक्षुक' नाम की प्रसिद्ध कविता संकलित है।

'प्रसाद' की 'कामायनी' का लिखना, उनके निकट सम्पर्क के लोगों का कहना है, १६२०-२२ से ही प्रारम्भ हो गया था। सन् १६२८ में 'त्यागभूमि' में 'नारी और लज्जा' शीर्षक से इसका कुछ अंश प्रकाशित हुआ था। 'प्रसाद' जी इस समय अन्तर्मुखी होकर जीवन एवं मानस के उस मंथन में लगे हुए थे, जिसका पुष्ट रूप सन् १६३७ में 'कामायनी' के रूप में प्रकट हुआ। डा० रामकुमार वर्मा 'अभिशाप' के साथ १६३० में ही आ चुके थे, किन्तु अभी 'वर्मा-त्रय' का अभिधान नहीं हुआ था। इसी वर्ष श्री महादेवी वर्मा का प्रथम काव्य-संग्रह 'नीहार' नाम से प्रकाशित हुआ। 'नीहार' का प्रकाशन नवीन काव्य की मान्यता की दिशा में हिन्दी-पाठकों के सामने दूसरी महत्व-पूर्ण घटना थी। 'पन्त' की 'छाया' कविता पर मुग्ध होकर श्री 'हरिऔध' जी ने उन्हें अपना सभापति-माल्य पहना दिया था, अबकी बार नवीन काव्य को 'नीहार' की भूमिका के रूप में 'हरिऔध' जी का आशीर्वाद मिला। जहाँ 'द्विवेदी' जी द्वारा 'सुकवि किंकर' नाम से 'पन्त' आदि की नवीन कविता-प्रवृत्तियों को प्रहार मिल चुका था, वहीं जब वयोवृद्ध महाकवि श्री 'हरिऔध' जी ने उसकी प्रशस्ति की, तो नयी धारा की धाक जम गयी। यह ग्रंथ उनका (महादेवी जी का) आदिम ग्रंथ है, फिर भी इसमें उनकी प्रतिभा का विलक्षण विकास देखा जाता है। ग्रंथ सर्वथा निर्दोष नहीं, किन्तु इसमें अनेक इतनी सजीव और सुन्दर पंक्तियाँ हैं कि इनके मधुर प्रवाह में उधर दृष्टि जाती ही नहीं ('नीहार' की भूमिका, २८-४-३०)। 'भूमिका के पृष्ठ ४ पर उन्होंने सुश्री महादेवी जी के कवि के लिए सुझाव भी

दिये—'मैं श्रीमती महादेवी वर्मा का हिन्दी—साहित्य—क्षेत्र में सादर अभिनन्दन करता हूँ और उनसे यह विनय भी कि उनकी हृत्तंत्री की अपूर्व झंकार में भारत माता के कण्ठ की वर्त्तमान ध्वनि भी श्रुत होनी चाहिए, इससे उनकी कीर्ति उज्वलतर होगी। 'हरिऔध' जी को इस बात का भली प्रकार बोध था कि उनके इस अभिनन्दन का लोग दूसरा भी अर्थ लगावेंगे, अतः उन्होंने स्पष्टतः कहा कि 'कहा जा सकता है, एक स्त्री का उत्साह—वर्धन करने के लिए बातें कही गईं। मैं कहूँगा यह विचार समीचीन नहीं, ऐसा कहना स्त्री—जाति की सर्वतोमुखी प्रतिभा को लांछित करना है। वास्तव में बात यह है कि ग्रंथ की भावुकता और मार्मिकता उल्लेखनीय है; उसका कोमल—शब्द—विन्यास भी अल्पाकर्षक नहीं।' यह 'हरिऔध' जी की व्यक्तिगत अनुभूति नहीं, नवीन काव्य के प्रति हिन्दी—पाठकों एवं सच्चे समालोचकों की भावना का प्रतीक है। नवीन काव्यधारा के कोमल पद—विन्यास, अनुभूतियों की नव्य प्रफुल्लता एवं प्रभाव—कारी शक्ति की स्पष्ट स्वीकृति है। तभी तो 'हरिऔध' जी ने उसे 'प्रफुल्ल पाटल' कहा। पहले कवि स्वयं अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने को बाध्य थे और आलोचक न पाकर स्वयं लम्बी भूमिकाएँ को लिखने को बाध्य थे। अब उन्हें आलोचक मिलने लगे।

इस बीच 'छायावादी काव्य' का विरोधी पक्ष भी चुप नहीं बैठा था। वह बराबर अपना कार्य करता जा रहा था। इन विरोधियों की नवीन कवियों पर प्रतिक्रिया भी स्वास्थ्यकर ही हो रही थी। सन् १९३२ में 'पन्त' की 'वीणा' और 'पल्लव' से बची रचनाएँ 'गुंजन' नाम से प्रकाशित हुईं। 'गुंजन' में 'पल्लव'—कालीन रचनाओं के होने से पिछला वातावरण भी मिलता है, किन्तु इसमें कवि के 'उन्मन गुंजन' में 'व्यक्ति'—स्वर के स्थान पर 'व्यक्ति' के 'समष्टि—चिन्तन' का कोण उठता हुआ दिखलाई पड़ता है। अपनी हृदयानुभूतियों की सीमा से

उठकर कवि 'सबके उर की डाली देखने' को उत्सुक हुआ है। इसमें 'पन्त' का 'चिन्तक' जगा है। इसके पूर्व कवि के पिता की मृत्यु हो चुकी थी और वे अस्वस्थ भी रह चुके थे। 'पल्लव' के ५४ पृष्ठों के विस्तृत 'प्रवेश' की क्षुब्ध प्रतिक्रिया का स्वर 'गुंजन' में सृजन में समाता दृष्टिगत होता है। कवि 'आत्मा के चिर धन' को खोजने को उत्सुक हुआ। 'पल्लव' का कल्पना-प्रेम सुव्यवस्थित होकर चिन्तन का सहगामी बन गया है। कवि मानवता की ओर झुका है। १६३१-१६३४ के बीच 'पन्त' जी कालाकाँकर में रहे। 'नौका-विहार' कविता में यह उल्लेख आया है। अपने जीवन की सुख-शान्ति के इन वर्षों में 'पन्त' जी ने प्रकृतिस्थ होकर जीवन पर विचार किया है। यहाँ आकर उनके 'दूर बन के राजकुमार' कवि ने जीवन का 'मधु-संचय' किया है। इसमें १६१८ से लेकर १६३२ तक की चुनी हुई ४६ रचनाएँ हैं। इस बीच की 'ग्रंथि', 'उच्छ्वास' एवं 'आँसू' रचनाएँ अलग छपी हैं। इतने लम्बे समय तक फैलाव के कारण ही इसमें 'वीणा' की भाँति विनय-सम्बन्धी रचनाएँ भी हैं। 'पर-सेवा' का वर भी माँगा गया है। आशा, उल्लास एवं रहस्यात्मकता का पुट यहाँ स्पष्ट हो गया है। 'पल्लव' में जो 'पन्त' प्रकृति के एकान्त साधक थे और कहते थे—

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
'बाले, तेरे रूप-जाल में कैसे उलझा दूं लोचन

उन्होंने उसी के आसपास ऐसी पंक्तियाँ भी लिखीं जो 'गुंजन' में 'रूप-तारा तुम पूर्ण प्रकाम' और 'उषा-सी स्वर्णोदय पर भोर'—जैसी भावनाएँ लेकर व्यक्त हुईं। प्रकृति 'पन्त' का प्रथम आकर्षण थी, किन्तु किशोर-काल से 'नारी' भी उनके आकर्षण का केन्द्र रही। उन्होंने प्रेम की अपेक्षा नारी को उपासना और अभ्यर्थना की दृष्टि से ही अधिक देखा है। 'रीतिकाल' की वासना-पुत्तली 'नायिका' 'पन्त'

के काव्य में 'देवि' बन गई है। नवयुग के वसन्त में नये कवि-अलियों के गुंजन से 'पन्त' का कवि तुष्ट हुआ है। 'गुंजन' में कवि की आस्तिकता, जीवन-प्रवाह में सुख-दुख के समरस एवं सन्तुलनशील मूल्यांकन, जीवन-जगत् को माया न समझ उसके प्रति ममत्व के भाव, मानव की निजी महत्ता, नारी की सार्थकता, विश्व-वेदना में तप-तप कर उज्ज्वल बनने की कामना, कल्पना के स्वप्न-लोक को छोड़कर उसकी प्रतिभा की जीवन-निकटता के प्रमाण हैं। तभी तो उसे 'मृदु-मृदु रज का तन' भी सुन्दर लगने लगा है। सन् १९३३ में ही नवीन सामाजिक धारणाओं के शीतल प्रकाश को लेकर 'पन्त' की 'ज्योत्स्ना' भी प्रकट हुई। 'ज्योत्स्ना' एवं 'गुंजन' दोनों ही कृतियों में प्रकृति की सुषमा के बड़े ही विस्मारक एवं मादक चित्र उपस्थित हुए हैं। कवि ने प्रकृति पर अपनी भावनाओं का मधुर आवरण भी डाला है। स्वयं अपने कवि पर भी 'विहंगम' का आरोप किया है। भाषा-कला के उच्च विकास की दृष्टि से नौका-विहार रचना का शब्द-संकलन, संगीत प्रवाह एवं भाव तथा छन्द की एकप्राणता अनुपम है। 'छाया-बाद' के 'छाया-वन' में 'पन्त, के 'गीत-खग' का यह कलरव-गुंजन हिन्दी-काव्य-धारा के माधुर्य का अपूर्व गुंजन है।

छायावादी काव्य-धारा की सहज-श्री निरन्तर खिलती आ रही थी और विरोधियों की विकलता-व्याकुलता भी बढ़ती जा रही थी। प्रयाग में श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' 'अभ्युदय' में कड़े लेख लिख रहे थे, जो व्यक्तिगत आक्षेपों के निकट तक लहराने लगे थे। उधर काशी में श्री ज्वालाराम नागर 'विलक्षण' एवं जगन्नारायण शर्मा 'कवि पुष्कर' के नेतृत्व में 'छायावाद' नामक एक पत्रिका निकली। लेख, कविता, व्यंग्य-चित्रों एवं सम्पादकीय टिप्पणियों, प्रहसनों, व्यक्ति-गत आक्षेपों-आदि सभी उचिता-नुचित एवं शिष्टाशिष्ट साधनों से नवीन काव्य को हिन्दी-क्षेत्र से उखाड़

फेंकना इनका लक्ष्य था। लगभग सन् १९३६ के आगे-पीछे इसका बड़ा जोर रहा। मुख-पृष्ठों पर छायावादी कवि अनन्त की ओर फटे दिल से उड़ते हुए चित्रित किये जाते थे। सन् १९३५ में 'प्रसाद' जी की 'लहर' और १९३६ में 'निराला' की 'गीतिका' प्रकाशित हुई। नाटकों के गीतों को छोड़कर कविता-संग्रहों में 'लहर' के गीत 'प्रसाद' जी की गीतात्मक प्रतिभा के चरम निदर्शन हैं। जीवन का विषाद 'आँसू' में बहकर 'प्रभात का शीतल हिम-कण' बन चुका था। उल्लास, उन्मेष एवं आशा प्रोज्ज्वल हो चुके थे। 'प्रसाद' जी ने 'लहर' में निराशा में आशा, संघर्ष में शान्ति एवं दुःख में सुख को पहचान लिया था। उन्होंने जीवन की पराजित एवं पथ-भूली लहर को पुलिन के विरस अधर चूमने का आमंत्रण दिया। सुख-काल की मादक स्मृतियाँ इसमें मधुरतम होकर आई हैं। उन्होंने अपने 'अधीर यौवन' को परखा है, आँखों के बचपन को दुहराया है। यही नहीं, कवि ने जीवन के प्रभात को भी जगाया है। 'लहर' में जीवन की अधिकता अधिक संतुलित होकर आई है। उसने कहा—

'छोड़कर जीवन के अतिवाद
मध्यपथ से लो सुगति सुधार।'

'लहर' में भाषा और भाव की संगति और प्रगाढ़ हुई है। 'कामायनी' के उपयुक्त भाषाधिकार कवि की कितनी ही रचनाओं में मंजरित हो उठा है। भाषा-संगीत भी 'आँसू' से कहीं आगे है। अन्त में तीन मुक्त-छन्द की तुकान्तहीन रचनाएँ आई हैं जो इतिहास का पृष्ठाधार लिये हुए हैं। 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' और 'प्रलय की छाया' शीर्षक कथा-गीतियाँ तो अपने भाव-प्रभाव एवं भाषा-संगीत की दृष्टि से हिन्दी की गिनी-चुनी रचनाओं में शीर्षस्थानीय हैं। वातावरण की सघन प्रभाव-सृष्टि एवं रसमयता 'प्रसाद' के गीतों की अपनी अद्वितीय विशेषताएँ हैं। ऐसा आह्लादक प्रभाव अन्य गीतकारों की कृतियों में अत्यन्त विरल है।

'निराला' की 'गीतिका' अपने संगीत, शब्द-साधन एवं नाद-सौन्दर्य के लिए उनकी कला–प्रतिभा का उच्च निदर्शन है। पश्चात्य और पूर्वी संगीत-प्रणालियों को पचाकर बंग–गीतों के संस्कारों की छाया में उन्होंने गीतिका के श्रेष्ठ गीत लिखे हैं। उन्होंने इसकी भूमिका में कहा है कि 'मुझे ऐसा मालूम देने लगा कि खड़ी बोली की संस्कृति जब तक संसार की अच्छी-अच्छी सौन्दर्य–भावनाओं से युक्त न होगी, वह समर्थ न होगी।' पर निराला ने भारतीय आत्मा का ही युगानुकूल विकास किया है। न वह पाश्चात्य अनुकृति है और न बंगला का जूठन। पता नहीं उनके नये इतिहास में 'गीतिका' के प्रति लिखे गये डा० द्विवेदी के ये शब्द मेरे गले के नीचे क्यों नहीं उतर पाते कि 'गीतिका' के गीत ठूँठे हैं। संगीत की ओर अपना प्रमुख ध्यान रखने के कारण ही कवि ने स्वयं कहा है कि मैंने अपनी शब्दावली को काव्य के स्वर से भी मुखर करने की कोशिश की है। 'वर दे वीणावादिनि वर दे', '(प्रिय) यामिनी जागी' और 'भारति जय, विजय करे' आदि गीत हिन्दी के उच्चकोटि के गीतों में परिगणित हैं। 'परिमल' में आयी 'भिक्षुक' जैसी कविताओं की विचार-धारा भी 'गीतिका' में विकसित हुई है। 'छोड़ दो, जीवन यों न मलो' रचना इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इन गीतों जैसी गेयता खड़ी बोली में अन्यत्र नहीं। 'निराला' के गीत स्वानुभूति–मूलक न होकर बाह्य-वर्णन-प्रधान हैं, अन्य गीतकारों से इनके इन गीतों की यही विशेषता है।

सन् १९३२ में 'भारत' में 'निराला' के लेख 'वर्तमान धर्म' पर व्यंग्य करते हुए श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' में 'साहित्यिक सन्निपात' शीर्षक से कई लेख लिखे थे। उन्होंने 'निराला' की भाषा-दुर्बोधता एवं स्पष्टता पर घोर आक्षेप किये थे। बराबर 'निराला'-विरोधी लेख निकालते रहे। 'चौबे' जी ने 'निराला'–विरोधी एक आन्दोलन ही चला दिया। इसमें श्री मोहनलाल महतो, रामदास गौड़ एव हैदरा-बाद के डा० नरोत्तमदास भी मिल गये थे। 'निराला' को पागल घोषित

किया जाने लगा। नये काव्य के विरोधियों में श्री पद्म सिंह शर्मा भी थे। उन्होंने 'पल्लव' पर बहुत गहरे प्रहार किये थे। 'तरुण' के द्वारा श्री रघुपति सहाय 'फिराक' भी 'उर्दू' की प्रशंसा और हिन्दी की ईर्ष्या से 'पन्त' तथा प्रसादादि कवियों पर दिल की खाज उतारा करते थे। जिन दिनों 'निर्मल' जी के विरोधी लेख 'अभ्युदय' में निकलते थे। आज के प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक और तब के 'छायावादी काव्य-धारा' के प्रशंसक श्री डा० रामविलास जी शर्मा ने इस नये काव्य को प्रगतिशील, रूढ़ि-विरोधी और वांछनीय सिद्ध करने के लिए लेख लिखे थे। सन् १६३६ में श्री 'विलक्षण' नागर की 'छायापथ' नामक १३३ पृष्ठ की एक परावृत्ति-रचना (पैरोडी) निकली, जो 'आँसू' छन्द में लिखी गई थी और जिसमें उसी का मज़ाक उड़ाया गया था। आप 'स्वनाम धन्य' और 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधियों से विभूषित थे। 'विलक्षण' जी ने इस पुस्तक के 'दो शब्द' में उसे 'स्तुत्य प्रयास' कहते हुए अपने 'समालोचक-मरीचि-माली' के लिए प्रतीक्षा करने का अनुरोध किया और अपनी इस कृति को केवल 'उषा का आगमन' कहा। अपने व्यंग्य में उन्होंने अपने को छायावाद का हृदय से समर्थक घोषित किया। वे डर गये थे, क्योंकि 'गुप्त' जी ने गोल गोल तूँबें वाली टूटी हृत्तंत्री उठाली थी (झंकार) और 'हरिऔध' जी 'नीहार' की भूमिका लिखकर शून्य में जा रहे थे! उन्होंने 'हरिऔध' जी पर अप्रत्यक्ष रूप से 'बुद्धि-वार्धक्य' का आक्षेप भी किया। यह पुस्तक क्या थी, एक प्रकार से नये काव्य के विरोधी 'बुग्गड़ों' के लिए सामान्य 'रक्षा-पंक्ति' (फ्रंट) थी। सनेही' जी ने कहा, "छायावाद क्या है।"—इसका उत्तर देने में कवियों को जो कठिनाई होती थी, अच्छा हुआ कि इसका एक स्पष्ट उत्तर 'छायापथ' द्वारा दिया गया। मैं 'विलक्षण' जी की प्रतिभा और विद्वत्ता का मुद्दत से कायल हूँ।" 'पोद्दार' जी ने उसे 'उपादेय और परमावश्यक' बतलाया। 'गिरीश' जी ने उन्हें 'परशुधर' के रूप में देखा। पं० कृष्णशंकर शुक्ल

(काशी) के शब्दों में 'उन्होंने छायावादियों के मनचले जवानों को उन्हीं के अखाड़े में पछाड़ा था।' किशोरीदास वाजपेयी ने 'ऐसी सुन्दर रचना के प्रकाशन' पर उन्हें बधाई दी और उल्लास प्रकट किया कि नवीन कवि रूपी चूहे 'कविता कल्याणी' को अब कुतर न सकेंगे। मथुरा से श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने उसमें 'पथ-परिष्कार की सद-भिलाषा' देखी। दिल दबाकर श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी ने भी कहा—"छायावादी कवियों की खूब खबर ली गई है (कर्मवीर)।' इस पुस्तक का नमूना निम्न छन्द में लिया जा सकता है—

'पीड़ाएँ जहाँ मधुर हों
हो नीरवता का रोना।
हो अलसाई अलकों के
स्वप्निल विस्तर पर सोना॥

—('छायापथ' पृ. ३०)

× × ×

छाया में सजीवता हो
असली हो जहाँ गदाई।
उन मनोऽतीत भावों की
जिस ओर बजे शहनाई॥'

—(वही, पृ० १२६)

इसीमें श्रीनागर जी ने अपनी विलक्षण-प्रतिभा के विलक्षण विकार, ७०० पृष्ठ के 'छायावाद' नामक अप्रकाशित ग्रंथ की घोषणा की, जिसका उद्देश्य 'कवि नामधारी छायावादियों के काले कारनामे' का भंडाफोड़ था। श्री जगन्नारायण शर्मा 'कवि-पुष्कर' ने 'ठहर तो नानी' नाम की पुस्तक, गुप्त ब्रदर्स, सत्ती चौतरा, काशी से प्रकाशित कराई, जो उनके शब्दों में 'छायावादी छोकरों को छठी का दूध याद करादेने वाला मारू राग था।' इस प्रकार छायावाद के विरुद्ध एक ओर मारू राग'

गाये जा रहे थे, दूसरी ओर छायावादी काव्य अनाहत गति से 'कामायनी' में परिणत हो रहा था।

बौद्ध, सांख्य एवं शैव-दर्शनों के अनुशीलन-परिशीलन में 'प्रसाद' जी के 'दार्शनिक' की मान्यताएँ निश्चित हो चुकीं थीं। वह एक अखण्ड जीवन-दर्शन की अनुभूति कर चुका था। समाज में स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध की भी एक स्वस्थ परिकल्पना 'कामायनी' की विशेषता है। इसमें कवि ने अपने समय तक प्राप्त अधुनातम ज्ञानराशि का समुचित उपयोग किया है। 'कामायनी' में आज की विज्ञान-प्रधान यांत्रिक सभ्यता और अनुचित अहं की विवृति में उठी अनेक मानव-विकृतियों का भी विवेचन हुआ है। 'श्रद्धा' और 'इड़ा' को हम 'हृदय' और 'बुद्धि' अथवा 'विश्वास' और 'तर्क' का प्रतीक भी मान सकते हैं। आज का 'श्रद्धा'-रहित और 'इड़ा-उद्धत' यह विज्ञान-युग 'मनु' की भाँति ही असन्तुलित एवं पथ-भ्रष्ट हो चला है। यही कारण है कि धन-धान्य एवं जीवन-आवश्यकताओं के अधिकाधिक साधनों की अधिकृति में भी वह विक्षुब्ध, अशान्त एवं सुख से बहुत दूर है। उसके ज्ञान, इच्छा और कर्म में सामंजस्य नहीं। आज का सामान्य मानव अहं-पीड़ित, भोगी एवं अधिकार-लोलुप हो उठा है। ऐसे ही विध्वस्त, पथ त्रस्त मानव-समाज के लिए 'कामायनी' अपने शीतल सन्देश का सुधा-घट लिए खड़ी है, युग के तृषाकुल कण्ठ की शुष्कता को सींचने के लिए। छायावादी काव्य-धारा जीवन की अन्तःसलिला का बहिर्प्रवाह है, अतः उसमें जीवन के 'स्थूल' की अपेक्षा 'सूक्ष्म' की अभिव्यक्ति प्रमुख है। छायावादी काव्य प्रमुखतः कथा-काव्य नहीं, वह भाव-काव्य है। इस काव्य-धारा पर प्रायः यह आक्षेप किया जाता रहा है कि इसमें जीवन के सूक्ष्म-मधुर स्वर तो मिलते हैं पर वे बिखरे और जीवन के एक व्यापक सामंजस्य से विरहित हैं। उनमें जीवन के कुछ मधुरतम क्षणों का सुधा-संगीत तो अवश्य गुंजरित हुआ है, पर जीवन की एक गुरु-गम्भीर, प्रस्तृत-प्रशस्त वाणी का अभाव है; वह हमारी कुछ

सूनी घड़ियों को भरी-पुरी, नीरव क्षणों को लय-मुखर, उदास पलों को जगमग तो अवश्य बना सकता है, पर 'व्यष्टि' से आगे बढ़कर 'समष्टि' के स्तर पर उसकी देन अत्यन्त दुर्बल है। 'कामायनी' इन प्रवादों का प्रतिवाद है। उसमें छायावादी 'अन्तर'-प्राण-कला-प्रणाली को सब प्रकार से सुरक्षित रखते हुए कथा-तत्व की भी प्रतिष्ठा हुई है और 'व्यष्टि' के साथ-साथ 'समष्टि'-के लिए भी महान् सन्देश संग्रहीत हुआ है। 'कामायनी' में कर्म-कोलाहल भी है और 'हृदय की बात' भी। उसमें 'स्फुट' और 'प्रबन्ध' का मणि-कांचन संयोग चरितार्थ हुआ है। 'कामायनी' 'प्रसाद' के सम्पूर्ण जीवन-मंथन का शुद्ध नवनीत है, उसमें 'प्रसाद' के जीवन एवं सम्पूर्ण छायावादी काव्य-धारा की सारी साधना परिणत हो उठी है। 'काव्य' के क्षेत्र में शैली के कंचुक को उतार कर देखा जाय, तो वस्तु और भाव-क्षेत्र में अब तक यह युग 'कामायनी' से आगे नहीं बढ़ सका है। 'कामायनी' 'व्यष्टि' 'समष्टि', और 'सृष्टि' का एक साथ विकास-इतिहास एवं भविष्य-प्रकाश है। क्या दर्शन, क्या व्यक्ति-मनोविज्ञान और क्या समाज मनः शास्त्र, क्या भाव और क्या अभिव्यक्ति-जिस कोण से ही इसे खोलने का प्रयत्न किया जाय, यह एक अद्भुत् काव्य-मंजूषा है। जन-साधारण के लिए 'कामायनी' समझने की कठिनाई प्रयत्न-जनित नहीं, विषय की गहराई और काव्य-कला के अत्यन्त उच्चस्तर पर उसके निरूपण का अनिवार्य प्रतिफल है। जीवन के सहज समतल एवं सामरस्य-स्तर की प्राप्ति ही 'कामायनी' का जीवन-मंत्र है। नयी जीवन-परिस्थितियों में नवीन आचरण की व्यवस्था देने वाला यह नये युग का महाकाव्य, हमें पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दृष्टियों के समन्वय के साथ नव-संस्कृति एवं नवीन सर्जना का उदय सन्देश लेकर उपस्थित हुआ है। 'कामायनी' का यह सांस्कृतिक नव-निर्माणकारी सन्देश, 'कुरुक्षेत्र' 'कैकेयी', 'आर्यावर्त्त' 'अजेय खण्डहर' एवं 'अशोक' आदि प्रबन्धों से गतिमान होता हुआ अपने

निश्चित बिन्दु की खोज में आगे ही बढ़ेगा। 'मानवता अवश्य विजयिनी होगी।' दूसरी पीढ़ी के नवीन धारा के छायावादी कवियों में व्यक्तिवादी स्वर बढ़ता जा रहा था। सभी पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ अवश्य प्रकाशित होने लगीं। कितने ही नासमझ कवियशोप्रार्थी बालक और किशोर नयी धारा के नाम पर हल्की छिछली वासना के बाजारू स्वर के गीत भी छपाने लगे। और कुछ केवल ललित-कोमल शब्दों की संघटना को ही नया काव्य मानकर अर्थ-हीन पंक्तियाँ गढ़ने लगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि छायावादी काव्य-साधना की व्यक्तित्व-चेतना, स्वानुभूति-निरूपण एवं कान्त कला-विन्यास का बहुत कुछ भ्रान्त अर्थ भी लगाया गया। ये ऊटपटांग रचनाएँ ही नये काव्य-विरोधियों को जन्म देती गईं। उनमें रसहीन और निरुद्देश्य लाक्षणिकता हास्यास्पदता की ओर बढ़ जाती थी। विच्छृंखल चित्रों की निर्मिति, अपूर्ण और असमर्थ प्रतीकों का चयन अशुद्ध-असिद्ध शब्द-रचना की स्वैरिता उन्हें दुर्बोध और नीरस बना देती थी। इससे कभी इन निरंकुश कविमानी जीवों पर खीझकर और कभी अपने पुराने संस्कारों की प्रतिक्रिया-वश व्यंग्य और परावृत्ति-परक रचनाएँ भी निकला करती थीं। इन्हीं अधकचरे कवियों की उच्छृंखलता से अनुचित प्रेरणा पाकर श्री महादेवी वर्मा आदि महान् कवयित्रियों पर भी व्यंग्य-बाण चलने लगे थे। श्रीविश्वनाथ लाल 'शैदा' (आजमगढ़) की 'मदारी' में निकलने वाली व्यंग्य-रचनाएँ उस समय के उच्छृंखल कवि-लालसी प्राणियों पर अच्छा चाबुक चलाती थीं। उसकी रचनाओं को मात्र पुराचीन-प्रतिक्रिया कहकर नहीं टाला जा सकता था। उसमें काव्य-साहित्य की नवयुवकों में बढ़ती हुई अव्यवस्था पर सच्चा खेद भी था। उस समय 'मदारी' में प्रकाशित उनकी निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'नाँच बँदरवा, नाँच बँदरियाँ।

× × ×

यों अनन्त की ओर न जाओ।

अपने मन की साफ़ बताओ ॥
'शैदा' गली-गली मैं जानूँ ।
झूठ कहो तो कैसे मानूँ ॥
लड़ी-गड़ी है कहाँ नजरिया ।
आसमान से मिली अटरिया ॥
नाँच बँदरवा, नाँच बँदरिया ।'

'कामायनी' के प्रकाशन के पूर्व ही सुश्री महादेवी वर्मा एवं 'बच्चन' हिन्दी के उच्च गीतकारों में मान्य हो चुके थे। डा० रामकुमार वर्मा और भगवती चरण वर्मा भी ऊँचे कवियों में गिने जाने लगे थे। इनमें यदि वर्गीकरण करना ही आवश्यक हो, तो स्थूलतः महादेवीजी और डा० रामकुमार वर्मा एक श्रेणी में और 'बच्चन' तथा भगवती चरण वर्मा दूसरी श्रेणी में रखे जायँगे। प्रथम युग्म छायावादी काव्य-धारा की ही कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों, मुख्यतः 'रहस्य-वृत्ति' को लेकर आगे बढ़ा। इनमें सामाजिकता की लोक-पृष्ठ-भूमि तो अवश्य कम होती गई, पर व्यक्तिगत भाव-साधना के क्षेत्र में यह इतने ऊँचे उठ गया है कि परिष्कृति और कलात्मक संयम की सीमाएँ पराकोटि पर पहुँचकर एक अभूतपूर्व ज्योति से जगमगा उठी हैं। जिस उच्छृंखल भावाभिव्यक्ति से आचार्य 'शुक्ल' जी को बड़ी चिढ़ थी, उसकी यहाँ गंध भी नहीं। इसी से अपने 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में उन्हें लिखना पड़ा—'गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवी जी को हुई, वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्रांजल प्रवाह और कहीं मिलता है, न हृदय की ऐसी भाव-भंगी। जगह-जगह ऐसी ढली हुई और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली है कि हृदय खिल उठता है। (पृ० ८०६)।' 'नीहार' में उन्हें 'हरिऔध' जी का आशीष-चन्दन मिला था। सन् १९३२ में 'रश्मि' और १९३५ में 'नीरजा' निकली। 'नीरजा' के 'वक्तव्य' में श्री रायकृष्णदास जी ने लिखा, "'नीरजा' यदि अश्रुमुखी वेदना के

कणों से भींगी है, तो साथ ही आत्मानंद के मधु से मधुर भी है। मानो, कवि की करुणा अपने उपास्य के चरण-स्पर्श से पूत होकर आकाश-गंगा की भाँति इस छाया-मय जग को सींच देने में ही अपनी सार्थकता समझ रही है" (पृ० २)। सन् १९३६ में 'सान्ध्यगीत' प्रकाशित हुआ। सन् १९४० में इन चारों के १८५ गीतों का संकलन 'यामा' के नाम से प्रकाशित हुआ। सन् १९४२ में 'दीप शिखा' नाम से उनके बाद के गीतों का संग्रह प्रकाश में आया। कला और भाव दोनों ही दृष्टियों से महादेवी जी की कृतियों में साधना का उत्तरोत्तर विकास होता गया है। इन नामों में एक प्रतीकात्मक अन्विति व्यंजित होती है। दिन के चार यामों की भाँति इन गीत-संग्रहों में भी एक विकास परिलक्ष्यमाण है। 'नीहार' से महादेवी की रहस्य-साधना प्रारम्भ हुई है। उस समय कवियित्री के भावों में एक प्रकार का नीहार-धुंध-सा दिखलाई पड़ता है, उनकी दिशा स्पष्ट नहीं है। अभाव और विषाद की अस्पष्ट छायाएँ एक अज्ञात लोक की प्रतिकृतियाँ बन गई हैं। 'रश्मि' में भावों का पथ कुछ आलोकित हुआ है और विषाद में आशा की किरणें फूटी हैं। 'नीरजा' में प्रकाश की किरणों से चुम्बित होकर कवियित्री की साधना खिल उठी है और भावों की स्पष्टता बढ़ गई है। प्रेम की मधुरता पंखुरियाँ खोलने लगी है। 'सांध्य गीत' की रचनाओं में साधिका लक्ष्य के निकट अनुभव होने लगती है। विश्राम की लहरें उसे छूने लगी हैं। उसे अन्त में 'तिमिर में पदचिह्न' भी मिल जाते हैं। 'दीप-शिखा' में पहुँचकर कवियित्री की आत्मा साधना-शिखा से झिलमिला उठी है। यह साधना-शिखा नवीन प्रभात तक जलने की व्रती है। अन्त के ५० वें गीत में वह कह उठती है—'सजल है कितना सवेरा।' उसे शेष रात की माप की भी परवाह नहीं है 'पूँछता क्यों शेष कितनी रात ?' रूपकों का इतना सफल निर्वाह और चित्रों का ऐसा सुस्पष्ट अङ्कन सम्पूर्ण छायावादी काव्य-धारा में विरल है।

डा० रामकुमार वर्मा महादेवी की धारा के कवि हैं, पर इनमें चिन्तन का प्राबल्य और बुद्धि की सचेतता विशेष है। इनमें पुरुष-हृदय का अपेक्षाकृत अधिक स्पन्दन है, किन्तु इसीसे इनमें महादेवी-सी अनुभूति-मधुरता और भाव-मसृणता नहीं है। अपनी गति के आराध्य की आरती बन जाने की मनुहार करने पर भी उनमें महादेवी के हृदय-प्रदीप की पेशल साधना-शिखा और नीर-भरी बदली की सजलता नहीं। पर डा० साहब के गीतों की बन्ध-कला महादेवी से अधिक सचेत है। महादेवी भावों के प्रवाह में तुक आदि का उतना ध्यान नहीं रखतीं, पर डा० साहब के गीत विधान-बंध में उर्दू की गजलों की-सी कसावट रखते हैं। 'प्रिय तुम भूले, मैं क्या गाऊँ', 'जो प्रतीक्षा में पली वह बात, क्या तुम जानते हो', 'आज मेरी गति तुम्हारी आरती बन जाय'—आदि गीतों का बंधान बड़ा ठोस हुआ है। दूसरी ओर डा० साहब के गीत चित्रों का उतना सहारा लेकर नहीं चलते, जितना देवी जी के गीत। इन चित्रों के कारण देवी जी के गीतों में जहाँ फैलाव और विस्तार आ जाता है, वहाँ डा० साहब के गीतों में भावों की मुखाग्रता तीव्रतर होती है। डा० साहब की 'अंजलि' १६३१, 'रूप-राशि', 'निशीथ' और 'चित्र-रेखा' १६३३ और 'चन्द्र किरण' १६३७ में प्रकाशित हुईं। इधर के गीतों का संग्रह 'आकाश गंगा' नाम से निकला है। किन्तु डा० साहब में महादेवी जी-सा वैयक्तिक स्वर भी उतना तीव्र नहीं। दूसरी धारा 'बच्चन' और भगवती चरण वर्मा की है। 'बच्चन' में छायावादी गीत-परंपरा की अगली कड़ी का विकास हुआ है। प्रकृति के प्रति रागानुराग की अभिव्यक्ति, विरह की अस्पष्ट-अज्ञेय चित्र-रंजना और 'असीम'—'अनन्त' के संकेतों को छोड़कर 'बच्चन' ने हिन्दी गीत-परंपरा को साधारण मानव की भाव-भूख के स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। उनमें मानववादी स्वर स्पष्ट है। वे मानव की प्राकृतिक भूखों और उसकी तृप्ति को पाप नहीं समझते। मानव के प्रेम, वासना, हास और रुदन—सबका मूल्य है। 'बच्चन' के

गीतों में मानव की मानवता में ही उसकी महत्ता की राहें प्रकाशित की गई हैं। मानव की प्यास और उसकी भूख उदर और काम, दोनों ही क्षेत्रों में तिरस्कार्य और त्याज्य नहीं। वासना की स्वस्थ तृप्ति ही मानव-जीवन का सहज-पथ है, दमन और निरसन आत्म-प्रवंचना। 'बच्चन' में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की छाया में मानव के विकसित 'अहं' की गौरव-वाणी भी सुनाई पड़ती है। वे 'क्षत शीश, मगर नत-शीश नहीं' के मानने वाले हैं। मानव का अपना आत्म-विश्वास बड़ा मूल्यवान है—

'प्रभंजन, मेघ, दामिनि ने
न क्या तोड़ा, न क्या फोड़ा।
धरा के और नभ के बीच
कुछ साबित नहीं छोड़ा॥
मगर विश्वास को अपने बचाये कौन बैठा है'—
—('सतरंगिनी'–'जुगनू' कविता)

वस्तु-चित्रण-तत्व और प्रकृति के स्वतंत्र चित्र जिस प्रकार महादेवी जी में नहीं के बराबर हैं, 'बाह्य' मात्र 'अन्तर' का प्रतीक बनकर ही आया है, उसी प्रकार 'बच्चन' की प्रारम्भिक कृतियों में भी। फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि उमर-खैय्याम की रुबाइयों की दिशा में लिखी गई, सन् १९३५ में प्रकाशित 'मधुशाला' के साथ 'बच्चन' का प्रवेश हिन्दी रङ्ग-मंच पर एक कुतूहल-जनक घटना थी। अपनी 'भावुकता-अंगूरलता' से 'कल्पना की हाला' खींचकर कवि शाकी बनकर मस्ती के प्याले के साथ आया था। उन दिनों हिन्दी-प्रदेश के प्रत्येक कवि-सम्मेलन में 'बच्चन' के सिर ही लोक-प्रियता का सेहरा था। हिन्दी में उर्दू की ग़ज़लों की-सी मस्ती न पाने वाले दिल उछल पड़े। यह 'हालावादी' भाव-धारा चाहे अपनी साहित्य-परम्परा के लिए भले ही अपनी न रही हो, पर इसमें भाव-तारतम्य, भाषा-सुबोधता एवं अभिधात्मकता की सीधी अभिव्यक्ति-शैली का अपूर्व अपनापन था। सन् १९३६ में 'मधुबाला'

एवं १९३७ में 'मधु-कलश' प्रकाश में आये। इन तीनों संग्रहों में वैयक्तिक चेतना का एकान्त स्वर सर्वत्र मुखर था। अपनी जवानी के वेग में उसने वृद्धों से प्रश्न भी किये और वासना के आक्षेप के मानव-वादी उत्तर भी दिये। १९३८ में 'निशा-निमंत्रण' और १९३९ में 'एकान्त संगीत' प्रकाशित हुए। इन संग्रहों में पहले की अपेक्षा बहिर्जगत् की चेतना और वस्तु-चित्रण भी आया है। 'आकुल अन्तर' और 'विकल विश्व' का कवि 'सतरङ्गिनी' और 'मिलन यामिनी' में रूप, प्रेम और उल्लास के गीत गाने लगा है। उसकी 'आज मुझसे दूर दुनियाँ' 'नीड़ का निर्माण फिर-फिर' तक ही सीमित न रही। वह यह भी अनुभव कर लेता है कि 'जो बीत गई, सो बात गई।' उसका प्रेम-मनुहारी हृदय 'सिन्दूरी चाँद' के साथ पहली बार अपना प्यार देने को मचल उठता है। वह 'जीवन पाकर' 'सजीवन' खोजने को चला है। 'बच्चन' प्रेम के मादक लोक से स्वस्थ-स्वच्छ प्रेम की ओर भी आये हैं, जहाँ उन्होंने अपने प्रिय को अपने आकुल भुजबंधन का बन्दी न बनाकर, विश्व के अनन्त 'दुखिया-जन' के पास भेजा है!

श्री भगवतीचरण वर्मा का 'मधु-कण' तो १९३२ में ही निकल चुका था, 'प्रेम संगीत' १९३७ में प्रकाशित हुआ। 'मानव' भी उनकी कविताओं का संग्रह है। वर्मा जी में भी मधु, मदिरा, प्याला और हाला का उल्लेख प्रायः आता है, पर 'बच्चन' और वर्मा जी की अनुभूतियों में अन्तर है। 'बच्चन' की वैयक्तिक चेतना अधिक तीव्र है। उनमें अभावों की कटुता और विरोधों की खीझ है, साथ ही जवानी की एक—प्रज्वलनशील उष्ण चेतना भी। वर्मा जी में अपनी मस्ती और बाह्य-विभोरता है। उनकी प्यास में ज्वलन की अपेक्षा शीतलता और आवेग-उद्वेग की अपेक्षा सहज भोग की प्रकृतिस्थता अधिक है। 'बच्चन' में वर्मा जी की अपेक्षा तीव्रता, कसावट और गीत-रूप का विन्यास अधिक पुष्ट है। सन् १९३७ में ही पं० इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती', सुश्री

तारा पाण्डेय का 'शुक-पिक' और श्री गोपाल शरण सिंह की 'कादम्बिनी' प्रकाश में आयी। श्री 'नरेन्द्र' का 'कर्ण-फूल' १६३६ ई० में निकल चुका था। 'पलाश-वन' और 'प्रवासी के गीत' उसके बाद के कविता-संग्रह हैं। श्री आरसी प्रसाद सिंह का 'कलापी' १६३१ ई० में प्रकाश में आया। श्री उदय शंकर भट्ट ने १६३६ ई० में 'मानसी' और 'विसर्जन' प्रकाशित करवाये। इसी साल डा० गोपाल शरण सिंह की 'संचिता' निकली। सन् १६४० के पूर्व बिहार के सर्वश्री जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', मोहनलाल महतो 'वियोगी', जानकी-वल्लभ शास्त्री और मनोरंजन जी के नाम भी परिगणनीय हैं। मलिन्द जी की रचनाएँ आज भी निकला करती हैं। इन गीतकारों में जहाँ भावों की तीव्रता और उलझाव की कमी हुई है, वहाँ अभिव्यक्ति में सुलझाव भी आया है। इन तक आकर छायावाद के सैद्धान्तिकवाद होने का आग्रह और आत्मा-परमात्मा के नाम पर दी जाने वाली आध्यात्मिक व्याख्याओं का अवधारण कम होने लगा है। कविता के भीतर से जीवन को देखने की दृष्टि प्रमुख होती गई है। धीरे-धीरे नवीन धारा मानसिक तनाव को छोड़कर चिन्तन और अनुभूति के जीवन-स्तर पर बहने लगी थी। 'कुसुम-कुंज', 'सरस सुमन', एवं 'बंशी-ध्वनि' वाले 'भक्त' 'नूरजहाँ' में जीवन का सहज रूप उतार रहे थे। सन् १६३६ में 'प्रसाद' जी का निधन हो गया था। 'प्रस्थान-त्रयी' में 'निराला' और 'पन्त' अब भी अपनी सर्जना में तत्पर थे। १६३८ में 'निराला' का 'तुलसी-दास' प्रकाशित हुआ। अन्य छाया-वादी कवियों की अपेक्षा 'निराला' की बहिर्चेतना अधिक प्रबुद्ध रही है। महात्मा तुलसीदास के उन्नत, संगठनकारी व्यक्तित्व के विकास को तत्का-लीन सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि में आकलित करते हुए कवि ने उनके तथा उनके युग के मनोसंघटन का अत्यन्त पुष्ट एव ओजस्वी ढंग से निरूपण किया है। इसमें 'निराला' की समष्टि-चेतना तथा समाहार-शक्ति का चूड़ान्त विकास हुआ है। भाव-गाम्भीर्य में

भाषा की तत्सम एवं समास-बहुल सुदीर्घता भले आ गई हो, पर उसके वर्ण-वर्ण में कवि के अप्रतिहत व्यक्तित्व एवं अनवरुद्ध स्वर-शक्ति का तेज चमकता है। वाणी का ऐसा प्रकरणानुसार मन्द्रोच्छल प्रवाह अन्यत्र अप्रतिम है। इसी प्रकार 'राम की शक्ति-पूजा' में छायावादी युग का तेज स्वरमाण हुआ है। 'सरोज-स्मृति' कवि की तटस्थ ग्रहण-शक्ति का अद्भुत निदर्शन है।

"निराला' की सामाजिक, चेतना तो यथार्थ—अंकन की ओर बढ़ ही रही थी और वे 'खजोहरा' और 'कुकुरमुत्ता' जैसी व्यंग्य-प्रधान रचनाओं की ओर आ ही रहे थे, 'पन्त' ने १९३७ ई० में ही अपनी कलित कान्त वाणी का 'युगान्त' कर दिया था। अपने ही शब्दों में वे अपनी 'लजाती कल्पना' और 'जन-भीरु भावना' को एकान्त से खींच-कर समाज की ओर ला रहे थे। वे अपने 'प्राकृतिक दर्शन' को अस्वास्थ्यकर समझने लगे थे। 'पन्त' जी की स्वर्ण-लोक-विहारिणी चेतना धरती के कोलाहल की ओर उतर आई और वे विविध सामाजिक समस्याओं एवं राजनीतिक उलझावों पर चिन्तन का आलोक डालने लगे। सन् १९३९ में 'युग-वाणी' भी उद्घोषित कर दी। उनके परियों के लोक में धरती धुवाँ उतरने लगा। उन्होंने कल्पना से विराग-सा ले लिया। सौन्दर्य की खोज पर तथ्य-चित्रण प्रधान होने लगा। 'मंजरित आम्र-तरु-छाया' में मिलने की स्मृतियाँ अत्यन्त विरल हो गईं। 'युगान्त' में ३३ और 'युगवाणी' में ८२ कविताएँ हैं। इसमें कवि ने 'युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है और युग की मनोवृत्ति का आभास भी। इसमें तत्कालीन सभी वादों का समावेश हुआ है। 'मार्क्स' और 'गांधी' जी दोनों ही इसमें आये हैं। धनी, श्रमिक, मध्यमवर्गी और कृषक, सभी को संबोधित किया है। इसमें 'नारी-उत्थान' के विशद विचार भी आये हैं तथा 'निराला' जी और द्विवेदीजी' के प्रति श्रद्धा-भाव भी। यहाँ भू की शोभा देखिए—

'देखो भू को, स्वर्गिक भू को, मानव-पुण्य-प्रसू को।'

'पन्त' जी की इस वस्तुवादिता का तत्कालीन प्रगतिवादी आलोचकों ने बड़ा नारा लगाया। प्रकाशचन्द्र गुप्त, 'चौहान' और आचार्य 'शुक्ल' ने हिन्दी में उनकी इन तथ्यवादी रुक्ष रचनाओं का मुक्त कण्ठ से स्वागत किया। 'हंस' तो १९३० से ही प्रगति का नारा लगाता आ रहा था, स्वयं 'पन्त' जी द्वारा संपादित 'रूपाभ' ने भी १९३७ ई० से छायावादी काव्य-धारा के विरुद्ध जेहाद बोल दिया। वाणी के समस्त अलंकारों को छोड़ वे 'जनमन में अपने विचारों को वहन कर सकने की भाषा-क्षमता को ही उसका सबसे बड़ा अलंकार मानने लगे। दर्शन को वे मनुष्य के वैयक्तिक संघर्ष का इतिहास मानने लगे और विज्ञान को सामूहिक संघर्ष का। उनके लिए बौद्धिकता हार्दिकता का ही दूसरा रूप बन बैठी। हिन्दी-संसार में तहलका मच गया कि 'पन्त' प्रगतिवादी हो गये। साम्यवादी साहित्यकारों के शिविरों में घी के दीप जले और छायावादी काव्य-धारा के समर्थकों में निराशा छा गई। 'पन्त' की यह प्रतिक्रिया आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आदि को अखर गई। 'ग्राम्या' (१९४०) में आकर 'पन्त' ने नवीन मार्क्सवादी दृष्टि से ग्रामों को देखना प्रारम्भ किया। वहाँ उन्हें मृत्यु की छाया लहरती मिली और 'दोपहरी' में ही 'सपनों की छाया' छायी हुई अनुभव हुई। नर के नाम पर भूत-प्रेत और शिशुओं के नाम पर 'रेंगते कीड़े' दिखाई पड़े। 'ग्राम्या' में आकर 'पन्त' का गीतकार डूब गया। विषय के साथ मात्र बौद्धिक सहानुभूति होने और हार्दिकता के अभाव में ये कविताएँ रुक्ष तर्क-खण्ड में रूई के पहल की भाँति उधर गईं। भाव की सहज-काव्य-धारा में महाकवियों में एक 'निराला' जी ही बच रहे थे, जो कभी-कभी न लिखने की भी शपथ ले लिया करते थे। हिन्दी काव्य-संसार एकरूखी निष्क्रिय उत्सन्ना से बोझिल हो गया था।

आलोचना-साहित्य में 'शुक्ल' जी का प्रवेश उस क्षेत्र में नव-युग का निर्देश है। उन्होंने रस-पद्धति को आधुनिक मनोवैज्ञानिकता से समन्वित कर और विस्तृत बनाया और वस्तु-तत्व तथा लोक-भाव-भूमि के समर्थन के द्वारा कविता के सामाजिक पक्ष की पुष्टि की। उनके संस्कार छायावादी युग के एकदम विरुद्ध थे। उनमें जीवन की रागात्मकता और बुद्धि की जागरूकता का इतना आग्रह था कि वे मन की गहराइयों और कल्पना की ऊँचाइयों को पसन्द न कर सके। जीवन-जगत् के सहज रूप और अभिधेयात्मक चित्रण उन्हें अत्यन्त प्रिय थे। जिन प्रकृत जीवन-रागों पर उन्होंने बल दिया, वे उन्हें भावनात्मक सूक्ष्मता आनुभूतिक गहराइयों की ओर जाने से रोके रहे। 'साधारणीकरण' और 'लोक-सामान्य-भाव-भूमि' का आग्रह छायावादी वैयक्तिक चेतना के उदात्त एवं सूक्ष्म रूपों के भावन-आस्वादन और उनके बीच भित्ति बन गये। उन्होंने 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' को एक ही मानते हुए उसे 'ज्ञान-काण्ड' की चीज़ बतायी, काव्य के सहज पथ से उसे दूर घोषित किया। शक्ति, शील और सौन्दर्य्य के समन्वय की बात कहते रहने पर भी वे शील और शक्ति को ही अधिक अपना सके। सन् १६२६ में 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक लिखकर उन्होंने इस नवीन काव्य-धारा को बुद्धि वैचित्र्य, कल्पना-क्रीड़ा और भावाभास सिद्ध किया। 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' को एक ही मार्जनी से बुहारते हुए उन्होंने छायावाद' के सामाजिक और वस्तु-पक्ष को भी विस्मृत कर दिया। उनकी यह पुस्तक छायावाद-विरोधी दिशा से किया गया पहला व्यवस्थित और सैद्धान्तिक प्रहार था। नयी धारा के कवि 'प्रसाद', 'निराला' 'पन्त' और महादेवी आदि लम्बी लम्बी भूमिकाओं और निबन्धों में अपनी बात स्पष्ट ही करते रह गये। किन्तु 'शुक्ल' जी के ये तर्क आपाततः इतने प्रभावक थे कि उन्हीं की बात ऊपर रही। पाठक और श्रोता नये काव्य के समर्थन में 'शुक्ल' जी

के उत्तर देने में समर्थ तो नहीं हो सकते थे, पर भीतर ही भीतर इस काव्य-धारा के प्रति उनका आकर्षण बना रहा और बढ़ता भी गया। 'शुक्ल' जी के पास सहृदयता और भावज्ञता की कमी न थी। उनमें रस दृष्टि की सम्पन्नता भी थी, पर वे अपने संस्कारों से विवश थे। जहाँ वे अपने विशाल पांडित्य और तर्क-शक्ति के बल पर अपने आग्रहों का पोषण करने लगे, वहीं उनकी दृष्टि में सीमाएँ भी बन गईं। वे नयी परिस्थितियों में उत्पन्न नयी समाज-दृष्टि और नवीन सांस्कृतिक प्रश्नों को अपनी सहानुभूति-पूर्ण विचारणा न दे सके। उनमें साम्प्रदायिकता का आग्रह स्वयं बढ़ गया, जब कि वे नयी काव्य-धारा को साम्प्रदायिक सिद्ध करने का सतत प्रयत्न करते रहे। जिस रस-ग्राहिता का उन्होंने संकेत किया, यदि उसे ही विकसित कर नवीन काव्य का परिशीलन करते तो उनकी आलोचक-प्रतिभा के मूल-उपकरण इतने परिपुष्ट और सम्पन्न थे कि वे नवीन काव्य के मर्म-दर्शन में उसके कितने ही समर्थकों से कहीं अधिक आगे होते। अपने उक्त निबंध के पृ० ७३ पर उन्होंने छायावादी काव्य-धारा के जिन दोषों का निर्देश किया है वे अन्विति के अभाव, भावनात्मक सचाई की कमी, झूठी कलाबाज़ी, भावानुभूति का कल्पित होना और हवाई कल्पना हैं। अपने 'इतिहास' के पृ० ८१२ पर उन्होंने उसमें 'कल्पना के कला-पूर्ण और मनोरंजक नृत्य' और 'प्रकृति के संकेत से विरुद्ध मनमाने आरोप के रूप में अप्रस्तुत-विधान'-का दोष बतलाया। अपने इतिहास के प्रथम संस्करण में उन्होंने 'नवीन काव्य' को एकदम छोड़ दिया था किन्तु दूसरे संस्करण में अन्ततः उन्होंने इस छायावादी काव्य-धारा पर भी अध्याय जोड़े। बाद में उन्होंने छायावादी रचना-प्रक्रिया की प्रशंसा भी की है—'छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं। उसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि

काव्य का स्वरूप सङ्कुठित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखलाई पड़ी।'
पं० सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य का जैसा भावन उन्होंने अपने इतिहास में किया, उससे उनकी दृष्टि की गम्भीरता का ज्वलन्त प्रमाण छिपा हुआ है, पर वस्तुतः शुक्ल जी छायावादी काव्य को अपने बौद्धिकता, सगुणवादिता, वस्तु-चित्रण-प्रियता एवं लोकसामान्यता के संस्कारों के कारण सहज ममता न दे सके, यह उनकी युग-सीमा या संस्कार सीमा थी।

जब इस धारा के कवियों में प्रारम्भिक उत्साह की ताज़गी थी, तो वे प्रवेश, वक्तव्य, भूमिकाएँ तथा लेख लिख-लिख कर अपना स्पष्टीकरण देते रहे। 'प्रसाद', निराला, महादेवी, पन्त आदि सभी ने ऐसे प्रयत्न किये थे, पर जब पुराने विरोधी अपने घिसे-घिसाये तर्कों पर ही खुँदी करते रहे, तो उनके उत्तर देने का इन कवियों का उत्साह भी ठंडा पड़ गया। 'सुधा' और 'माधुरी' में १९२८ और १९३० के बीच निराला, और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के समर्थनात्मक लेख निकलते रहे थे। स्वयं 'प्रसाद' जी ने 'इन्दु' का फ़िर से उद्धार किया था। पं० इलाचन्द्र जोशी ने 'माडर्न रिव्यू' में छायावाद के विरोध में लेख लिखा था और पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने प्रतिवाद लिखा था। 'नवीन' का एक लेख 'भावों की भिड़न्त' नाम से उन्हीं दिनों प्रभा में प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार आचार्य शुक्ल और पं० रूपनारायण पाण्डेय का वाद-विवाद भी एक स्मरणीय घटना है। आचार्य शुक्ल ने पद्य में इस काव्य-धारा का विरोध करते हुए लिखा था—

'काव्य में रहस्य कोई वाद नहीं ऐसा।
जिसे लेकर निराला नया पन्थ ही खड़ा करे'॥

पाण्डेय जी ने भी इसका उत्तर 'माधुरी. में ही और पद्य में ही दिया था। काल-क्रम से छायावादी काव्य-धारा के व्यवस्थित समर्थक समालोचकों में मेरी समझ में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का स्थान

प्रथम है। वे जब एम० ए० के छात्र थे, तभी से नये काव्य के समर्थन और अपने गुरु आचार्य 'शुक्ल' के विरोध में लेख लिखा करते थे। उनकी सम्वत् १९९७ में प्रकाशित 'जयशंकर प्रसाद' नामक पुस्तक के कुछ निबंध तो सन् १९२९ ई० के ही लिखे थे। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी और प्रो० नगेन्द्र का नाम इसके बाद आता है। इन तीनों आलोचकों ने अपनी-अपनी प्रतिभा, सूध-बूझ और संस्कारों के अनुसार नवीन काव्य की व्याख्या की। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने तो इसी धारा में 'परिचय' 'मधु-संचय, 'नीरव' और 'हिमानी' नामक काव्य संग्रह भी लिखे थे। बाद में आलोचना को ही उन्होंने अपने प्रतिभा-प्रकाशन का मात्र माध्यम बनाया। 'हमारे साहित्य-निर्माता' 'साहित्यिकी' 'कवि और काव्य' 'संचारिणी, 'युग और साहित्य' 'सामयिकी, तथा 'ज्योति-विहग, उनके आलोचनात्मक ग्रंथ हैं। प्रारम्भ में शान्तिप्रिय द्विवेदी को बड़ी ख्याति मिली, पर बाद को उनकी आलोचना प्राभाविकी, या प्रभाववादी' सीमा में ही बँध गई और जीवन परिस्थितियों की कुंठाओं ने भी उन्हें घेरना प्रारम्भ कर दिया। प्रो० नगेन्द्र की 'सुमित्रानन्दन पन्त' पुस्तक बड़ी लोकप्रिय हुई। 'छायावाद' की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उसे रोमांटिक श्रेणी का काव्य निर्धारित किया और उसमें अंग्रेज़ी के 'रोमानी पुनर्जागरण' युग की कितनी ही प्रवृत्तियों की खोज की। 'विचार और अनुभूति,' तथा 'विचार और विवेचन' उनकी अन्य आलोचना कृतियाँ हैं। छायावादी रचनाओं के भाव, कथा वस्तु एवं प्रक्रिया की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में विवेचना करते हुए—डा० नगेन्द्र ने उनकी ऊँचाइयों एवं सीमाओं का आकलन किया। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का 'हिन्दी-साहित्य-बीसवीं शताब्दी' ग्रन्थ हिन्दी में अपने पीछे एक कुहराम लेकर आया। उसमें विद्वान् आलोचक ने प्रेमचन्द और आचार्य 'शुक्ल' आदि के निर्भय खण्डन-प्रतिवाद के साथ हिन्दी संसार में अपने मत को अत्यन्त सतेज रूप में

प्रतिष्ठित किया। श्री शान्तिप्रिय जी ने 'छायावाद' के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन किया था, प्रो० नगेन्द्रजी ने उसके कलात्मक पक्ष का; आचार्य वाजपेयी जी ने 'छायावाद' के दार्शनिक पक्ष के साथ-साथ उसके सांस्कृतिक महत्व का निरूपण किया। उन्होंने 'छायावाद' को एक नूतन सांस्कृतिक भावना का उद्गम माना। जुलाई सन् १६३२ में उन्होंने 'प्रसाद' जी के प्रारम्भिक काव्य-विकास पर एक निबंध लिखा था। सितम्बर १६३७ ई० में 'कामायनी' पर 'प्रौढ़तर-प्रयोग' शीर्षक से एक गम्भीर निबंध लिखकर उसके दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं साहित्यिक पहलुओं पर सम्यक् प्रकाश डाला था। विरोध या समर्थन दोनों ही दशाओं में नवीन काव्य-धारा की चर्चा अब साहित्य-मनीषी को आक्रान्त कर चुकी थी।

आचार्य 'शुक्ल' जी का 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबंध 'केवल इस उद्देश्य से लिखा गया है कि रहस्यवाद पर छायावाद की कविता के सम्बन्ध में भ्रान्ति-वश या जान-बूझ कर जो अनेक प्रकार की बे-सिर पैर की बातों का प्रचार किया जाता है, वह बन्द हो' (भूमिका)। 'शुक्ल' जी के शिष्य श्री पं० कृपाशंकर शुक्ल ने सन् १६३६ में ही 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास' लिखा, जिसमें योग्य शिष्य ने गुरु के द्वारा छोड़ दिये गये कार्य को पूरा करने का प्रयत्न किया था। सुश्री महादेवी पर व्यंग्य करते हुए पृ० ३१२ पर 'शुक्ल' जी ने लिखा कि '.........इसके अतिरिक्त दुखी कवियों की एक टोली और है, जिन्हें सिवा रोने-तड़पने और कलपने के कुछ आता ही नहीं। दुख तथा पीड़ा इनके जीवन की आवश्यक सामग्री हो गई है। 'प्रसाद' जी को भी स्थान-स्थान पर व्यंग्य-बाण पिन्हाए गये हैं। इसमें 'निराला' जी की अपेक्षाकृत प्रशंसा की गई है। 'नेपाली' की 'हरी घास' और 'पीपल' कविता को भी उसके रागात्मक वस्तु-चित्रण और सहज-भाव-भूमि के नाते प्रवर्धना दी गई है। श्री कृष्णशंकर जी ने नवीन कवियों की सहानुभूति

के साथ समझने-समझाने के लिए तो कम ग्रहण किया है, उनकी दुर्बलताओं और परिकल्पित विकृतियों के निरावरण और उत्पाटन के लिए अधिक। मीन तथा खंजन से आँखों की समानता करने के कारण भी पन्त पर प्रच्छन्न आक्षेप हुए हैं।

अपने 'इतिहास' के सन् १९२९ई० के प्र० संस्करण में तो 'शुक्ल' जी ने वर्तमान लेखकों और कवियों का उल्लेख न कर 'अपने सिर की बला टाली थी'। सन् १९४० के द्वितीय संस्करण में 'जी न माना' और 'डरते-डरते' उनकी अमूल्य कृतियों का उल्लेख भी उन्हें करना पड़ा, 'जिससे उन प्रवृत्तियों का पता केवल हिन्दी पढ़ने वालों को भी हो जाय, और वे धोखे में न रहकर स्वतंत्र विचार में समर्थ हों।' यहाँ उन्होंने 'छायावाद' का वास्तविक प्रारम्भ 'प्रसाद' से न मानकर सर्वश्री मुकुटधर पाण्डेय, बदरीनाथ भट्ट और 'गुप्त' जी से माना था।

सन् १९३५ ई० इस दृष्टि से भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है कि इसी वर्ष भारत में 'प्रगतिशील लेखक-संघ' की स्थापना की गई। श्री शिवदान सिंह चौहान ने इसकी नींव काशी में डाली और लखनऊ में मुं० प्रेमचन्द जी के सभापतित्व में इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। यह संघ मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्स की साहित्यक व्याख्या में पूर्णतः विश्वास करता है। इसे भारतीय 'साम्यवादी दल' का साहित्यिक मोर्चा भी कह सकते हैं। इसका आन्दोलन तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति में बलवत्तर होता गया। राष्ट्रीय परतंत्रता और राजनीतिक दासता की यंत्रणाओं ने इसकी आग में घी दिया। देश की आर्थिक दशा गिरती जा रही थी। शासकीय प्रपीड़न भी बढ़ता जा रहा था। राष्ट्रीय भावनाएँ तो शिक्षा-विकास के साथ-साथ बढ़ती ही जा रहीं थीं। नव-शिक्षित युवक-समाज उचित आर्थिक प्रश्रय के प्रभाव में असंतुष्ट होता जा रहा था। गांधीवादी आन्दोलन कुछ अच्छा प्रतिफल नहीं ला रहे थे। ऐसे समय में 'प्रगतिशील-लेखक-संघ' के प्रति असन्तुष्ट बुद्धिजीवी वर्ग की सहानुभूति

बढ़ती जा रही थी। 'हंस' का प्रकाशन तो १६३० से ही प्रारम्भ हो गया था। अब वह प्रगतिवादी विचार-धारा का प्रमुख और प्रतिनिधि पत्र बन गया था। नये लेखकों की नवीन विचार-धारा से सम्बन्धित रचनाएँ बड़ी प्रवर्धना के साथ छापी जाने लगी थीं। श्री शिवदान सिंह चौहान इसके कर्णधार थे। १६३७ में 'पन्त' जी ने अपनी विचार-धारा बदल दी और 'युगान्त' के साथ छायावादी कोमल-कल्पना का लोक छोड़ 'युगवादी' और 'ग्राम्या' की ओर बढ़ चले थे। 'पन्त' जी के साथ नरेन्द्र शर्मा जी भी 'प्रगति' की ओर झुक गये। १६४० ई० में 'कुकुरमुत्ता' लिखने के बाद भी 'निराला' अपनी सहज-भाव-धारा के गीत भी लिखते रहे, १६४३ ई० में प्रकाशित 'अणिमा' और १६५२ की 'अर्चना' उसी साधना के फूल हैं। 'अर्चना' के गीतों में एक सत्यता और तन्मयता की शुचिता है। 'सेवा-प्रारम्भ' जैसी दीर्घ रचनाएँ भी उनकी स्वच्छन्द-गीत-धारा के भीतर ही आती हैं। इसी धारा की कृतियों में हमें कवि का 'सर्वोत्तम दान' प्राप्त हुआ है, अतः यही उनकी मूल-चेतना की प्रतिनिधि-धारा है। 'गर्म पकौड़ी' रचना उनके श्रेष्ठ सामाजिक व्यंग्यों में आती है। 'निराला' की कवि-चेतना के दो पहलू हैं, एक वैयक्तिक और दूसरा सामाजिक। उनकी सामाजिक चेतना समाज के विकृत अंग पर निर्भय होकर अपना चाबुक चलाती है। 'निराला' का व्यंग्य जहाँ एक ओर दुर्बलता पर कटु प्रहार करता है, वहाँ सहानुभूति और हिताकांक्षा से वह कभी भी विरहित नहीं होता। उनकी प्रतिभा प्रयोगशील रही है। 'कुकुर-मुत्ता' उनकी सफल प्रयोगात्मक रचना है। 'सरोज-स्मृति' में कवि की तटस्थता अभूतपूर्व है। कान्यकुब्जों का बड़ा ही यथार्थ वर्णन हुआ है। ओज का ऐसा उच्छल और अन्तः-पुष्ट स्वर हिन्दी के आधुनिक युग में दुर्लभ है। 'निराला' के वीर-भाव में शब्द-ध्वनि नहीं अर्थ-गौरव भरा हुआ है। १६४६ में 'वेला' और 'नये पत्ते' भी 'निराला' के प्रयोग हैं। 'वेला' में उर्दू की बह्रों का प्रयोग किया गया है। और गजलें लिखी गयी हैं। यह प्रधानतः शैली प्रयोग की रचना है। 'निराला' ने

भाषा की दृष्टि से अधिक से अधिक हिन्दी-शब्दों का ही प्रयोग किया है। इनका वायुमण्डल भी हिन्दी का ही है। लघु-गुरु के क्रम में सर्वत्र हिन्दी-प्रकृति का पालन नहीं हो सका है 'हँसी के हार के होते हैं, ये बहार के दिन।' यहाँ 'के','हैं' और 'के' दीर्घ होते हुए ह्रस्व पढ़े जाते हैं। जहाँ शुद्ध हिन्दी-प्रकृति का पालन हुआ है एक अभिनव सौन्दर्य आ गया है—'आये हैं शब्दों के सीकर।' 'नये पत्ते' की रचनाएँ जो 'कुकुर-मुत्ता' से अलग हैं, व्यंग्य-प्रधान हैं। 'महगूँ महँगा रहा' और 'राजे ने अपनी रखवाली की' आदि रचनाएँ साम्यवादी और वर्गवादी स्वर से मुखर हैं। 'देवी सरस्वती' में सामन्तों और पूँजीपतियों की चुटकी है। ये दोनों ही कृतियाँ वस्तु नहीं शैली की ओर अधिक सचेत हैं, अतः इनमें भावों की प्रमुखता नहीं है। 'अणिमा' से ही 'निराला' जी में 'भक्त' की मनोदशा और एक थकान की विश्रान्ति की अनुभूति प्रारम्भ हो जाती है। उद्दामता और उच्छ्लता में प्रशान्ति आ गयी है। 'वेला' और 'नये पत्ते' के रचना-काल में भी उनकी मानसिक दशा अप्रकृत ही रही। 'अर्चना' 'अणिमा' का ही विकास है।

'पन्त' जी भी एक बार बहुत ही अस्वस्थ हो गये। उनकी रोग-शय्या मृत्यु-शय्या बनते-बनते ही बची। अब वे प्रयाग में रहने लगे थे। कुछ दिन 'बच्चन' जी के साथ भी रहे। सन् १९४७ में उनकी नवीन रचनाओं के संग्रह 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्णधूलि' प्रकाशित हुए। 'पन्त' जी ने प्रयाग में अपनी 'लोकायन-संस्था' की योजना भी प्रारम्भ की। 'लोकायन' की स्थापना तो नहीं हो सकी, पर महर्षि अरविन्द के दर्शन से प्रभावित होकर जो एक नूतन रहस्यवाद की चेतना मची, वह संस्कृति के प्रति भी प्रबुद्ध थी। एक बार 'पन्त' जी को लेकर फिर बड़ी चर्चा भयी और प्रगति-शील शिविरों के महासेनापतियों ने फिर संकट का बिगुल निनादित किया। 'ग्राम्या' तक के 'पन्त' उनके 'पन्त' थे, प्रगतिशील पन्त थे, सच्चे जन-प्रतिनिधि कवि थे! सर्वश्री प्रकाशचन्द्र जी गुप्त, शिवदान सिंह चौहान एवं रामविलास शर्मा को ही नहीं, 'शुक्ल' जी को भी 'ग्राम्या' का मोड़ लोक-हितकारी

और श्रेयस्कर लगा था !! 'पन्त' जी के अरविन्द-दर्शन की ओर आते ही 'साहित्यिक मोर्चे' के सिपाही अपना-अपना अस्त्राभ्यास बढ़ाने लगे। 'हंस' में प्रकाशित 'उत्तरा' की आलोचना में श्री रामविलास शर्मा को भी अब याद आया कि 'पन्त' जी 'पल्लव' से कितनी दूर चले गये हैं। पशु-पक्षियों की मुक्त यौन-तृप्ति जब मानव का आदर्श बनने लगी थी, तो किसी भी प्रगतिशील को उसमें मनोवैज्ञानिक कुंठा नहीं दिखलाई पड़ी ! 'युगान्त' की 'मंजरित आम्र तरु-छाया' में चलनेवाला मिलन-व्यापार किसी प्रगतिवादी को नहीं खटका !! 'ग्राम्य-युवती' का 'नखशिख' किसी 'रीति'—विरोधी का कोप-भाजन न बना !!!

'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में 'पन्त' जी पुनः पुरानी भाषा-सजा और कोमल-वर्ण-रंजना के साथ सामने आये, किन्तु अबकी बार कल्पना-कुतूहल के हलके पंखों की तितली नहीं, वह जीवन-जगत् के फूल-शूल में रमनेवाली संचयिका मधुकरी है, उसकी गूँज में नवीन संस्कृति की गुंजार है। वह कहता है—

'बदलेंगे हम चिर-विपण्ण वसुधा का आनन।'

कवि 'विश्व' की नयी कल्पना से उत्प्रेरित है, वह निखिल धरती के जीवन में एकता देखता है, किन्तु 'ग्राम्या' की भौतिकता के स्थान पर अब 'अन्तर्चेतना' का स्वर प्रधान हो उठा है। 'स्वर्ण किरण' में उन्होंने 'व्यक्ति' और 'समाज' के सम्बन्ध का सन्तुलन किया है, उसे सतत सुषमा और सामंजस्य से प्रोद्भासित किया है।

'स्वर्ण-धूलि' में सामाजिक समस्याओं के समाधान की ओर कवि बढ़ा है। 'पतिता' और 'परकीया' रचनाओं में भी एक मर्यादा है। उसका निष्कर्ष है कि—

'स्नेह-युक्त सब रहें परस्पर,
नारी हों स्वतंत्र जैसे नर,
देवद्वार हो मातृ-कलेवर !'

'अवगुंठिता' ('स्वर्ण-किरण') में कवि ने स्त्री के 'देह' और 'मन' में विभाजन दिखाकर कटु व्यंग्य किया है। 'ज्योत्स्ना' में उठी चिन्तन-वृत्ति यहाँ आकर परिणत हो गई है। 'स्वर्ण-किरण' में भावी की कल्पना का चित्र भी उतरा है। 'पन्त' जी की 'स्वर्ण-किरण' में भौतिकता और अध्यात्म की छोर-वादिता दूर कर उनके सामंजस्य में ही जीवन-विकास का पथ दिखलाया गया है। कवि का प्रगतिवादी दृष्टिकोण भी उपस्थित है। 'भू-प्रेमी' और 'संक्रमण' रचनाएँ उदाहरण हो सकती हैं। 'स्वर्ण किरण' में जिज्ञासा और 'रहस्य' के लिए उत्सुकता भी आई हुई है—

'यह ओसों की डाल पिरो दी किसने जीवन के आँगन में ?'

'स्वर्ण-किरण' के प्रकृति-चित्रण न 'पल्लव' की भाँति कल्पना-परक और न 'गुंजन' की भाँति रस-पेशल अथवा 'ग्राम्या' की भाँति वर्णन-प्रधान हैं; उनमें विचारों की प्रधानता है। 'अशोक वन' में राम और सीता प्रतीकात्मक रूप में आये हैं।

'स्वर्ण-धूलि' में भी चिन्तन या विचार का स्वर प्रमुख है। यहाँ मानवता की समस्याओं का निरूपण किया गया है। 'स्वर्ण-किरण' के आदर्श को इसमें व्यवहार पर उतारने का प्रयत्न हुआ है। 'मानसी' रूपक नारी-समस्या पर प्रकाश डालता है। उसकी नवीन समाज की कल्पना भी इसमें संग्रथित है। 'उत्तरा', 'युगान्तर' और 'खादी के फूल' बाद की, १६४८ की रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में सच्ची प्रगति की मुक्त भावना और प्रवाह की उच्छ्लता नहीं है, विचारों के स्रोत, रूप-योजना और वस्तु-अंकन की प्रधानता है।

इधर 'छायावाद' की शव-परीक्षाएँ भी होने लगीं और उसकी मृत्यु की घोषणाएँ सुनाई जाने लगीं। १६४० ई० के आस-पास 'विशाल भारत' में श्री इलाचन्द्र जोशी ने अपने एक निबन्ध में घोषणा की कि छायावाद मर गया। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तकों में इसका सबल उत्तर दिया। 'निराला' जी ने अपने प्रगीतों की गतिमान धारा से उसका

प्रतिवाद किया। 'सरस्वती' के खंड ३७, संख्या ३, १६३६, और खंड ३७, संख्या १, १६३६, में प्रकाशित 'रहस्यवाद का निर्वासन' और 'रूखी रोटी या रहसगान' जैसी कविताओं में व्यक्त स्वर, पं० इलाचन्द्र जोशी के विरोधों से उठकर श्री पं० वृजकिशोर चतुर्वेदी के लेखों-जैसी कृतियों में प्रकट होता हुआ श्री डा० देवराज की सन् १६४८ ई० में प्रकाशित 'छायावाद का पतन' कृति में परिणत हो जाता है। चतुर्वेदी जी के लेख १६४२ में 'वीणा', १६४४,४५ में 'तरुण' के १४-१५ अंकों में प्रकाशित होते रहे। इनके लेख भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों पर ही मुख्यतः केन्द्रित होते थे। महादेवी और 'प्रसाद' जो आदि की कविताओं से 'अवगुंठन' शब्द को शताधिक बार ढूँढकर उन्होंने 'छायावाद' को 'अवगुंठनवाद' नाम भी दिया। इनकी आलोचनाएँ मसखरेपन, चुटकीबाजी, व्यक्तिगत आक्षेप और दुर्वादों तक पहुँचती दिखलाई पड़ती हैं। उन्होंने 'अवगुंठन' को 'छायावाद' का 'प्रणव' घोषित किया। उन्होंने 'छायावाद' को १६४३-४७ के बीच बम्बई के साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' में छपनेवाले अपने लेखों में अंगरेजी का जूठन कहा। उनकी विचारणाओं की गम्भीरता 'पन्त' की 'नौका-विहार' एवं महादेवी की 'बंग भू शत अर्चना ले'—कविताओं की परावृत्तियों में आँका जा सकता है—

'इस शाश्वत–सा ही कवि का क्रम!
शाश्वत इस कविता का उद्गम !!
शाश्वत उन्मन, शाश्वत गुंजन !
शाश्वत हृत्तंत्री का कंपन !!
शाश्वत युग-युग भाषा हिन्दी !
हिन्दी–शिर शाश्वत की बिन्दी !!
'शाश्वत' शाश्वत गुंजार दिया !
भाषा का पुनरुद्धार किया !!'

× × ×

'देवि यह शत अर्चना ले !
भव्य भाषा की सरस 'यामा' हमारी वन्दना ले !
'सान्ध्य' से साधक जिये, सदियों पुरानी यह कहानी !
अन्न, शक्ति, स्वतंत्रता तन, आत्म-चिंतन निरत ज्ञानी !!

....

छोड़ 'छायावाद' दुर्गम, सुगम कोई साधना ले !
बंग–भू की वन्दना ले !
देवि, शत-शत वन्दना ले !!'

कहना न होगा, यह आलोचना सर्वश्री 'विलक्षण' नागर और 'पुष्कर' जी की ही परंपरा है, जो 'छायावाद' पत्रिका और 'छायापथ' तथा 'ठहर तो नानी' जैसी कृतियों से प्रारम्भ हुई थी।

डा० देवराज ने यद्यपि आचार्य 'शुक्ल' जी की सीमाएँ ढूंढ़ने में काफी प्रयत्न किया और छायावादी कविता में शब्द-मोह, चित्र-मोह, कल्पना-मोह केन्द्रापगामी व्यंजना-प्रवृत्ति, रागात्मक और विचारगत असामंजस्य, वास्तविकता पर बलात्कार, 'मूड' की कविता, लोक-संवेदना का तिरस्कार, अर्ध-भुक्त मनोदशाओं की अभिव्यक्ति, धूमिलता, अस्पष्टता, गुम्फन की बारीकी आदि दोषों की व्याख्या करते हुए, पुस्तक के आदि और अन्त में प्रशंसात्मक अंश जोड़कर बड़े कौशल से इस पुस्तक का नाम रखा, 'छायावाद का पतन'। डा० देवराज में भी 'रीति' और 'अलंकार' तथा 'अभिधेयता' के संस्कार हैं, जो उन्हें नवीन काव्य की मुक्त भाव-व्यंजना के रसास्वादन में पूर्वाग्रह बनकर घेरे रहते हैं। वे भी 'शुक्ल' जी के 'राग' और 'लोक-भाव-भूमि' से इतने चिपटे हैं कि उन्हें अनुभूति और उद्गारों की सूक्ष्मता, उनकी सूक्ष्म और अन्तर्व्यापी अन्विति तक डूबने का अवकाश नहीं।

श्री गंगाप्रसादजी पाण्डेय ने भी सन् १९४१ में 'छायावाद और रहस्यवाद' तथा 'महादेवी वर्मा' नामक पुस्तकें लिखकर छायावादी काव्य-धारा को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया था। निकट ही, पिछले वर्षों

'प्रगतिवादी' दल में ही साहित्य के मानों और मार्क्सवादी दृष्टि की मान्यताओं को लेकर वर्ग बन गये हैं। प्रगतिवादी आलोचकों में सर्वश्री शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त और डा० रामविलास शर्मा के मतों में परस्पर भेद-विरोध पैदा हो गये। 'हंस' में विवाद भी चला। श्री चौहानजी द्वारा 'आलोचना' के स्तम्भों में व्यापृत-प्रचारित डा० शर्मा के विरुद्ध 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' के आरोप का आन्दोलन 'प्रगतिशील-लेखक-संघ, के शिविर से बाहर के लोगों का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। डा० श्रीकृष्णलाल एवं डा० केशरी नारायण शुक्ल की शोध-पुस्तकें भी इस युग को समझने में महत्वपूर्ण हैं। इधर हाल में ही प्रकाशित आचार्य वाजपेयी और आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के छात्रोपयोगी आधुनिक इतिहासों ने भी इस काव्य-धारा को समझाने का सुबोध प्रयास किया है। श्री यशदेवजी का 'पन्त का काव्य और युग' तथा श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त द्वारा लिखित आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास' इस धारा को क्षीण, रुग्ण तथा हेय सिद्ध करने के लिए लिखे गये हैं। लेकिन 'गुप्त'जी अब विषय की प्रगतिशीलता के साथ कला पर बल देने लगे हैं। 'छायावाद-युग' पर श्री नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स के यहाँ से श्री शम्भूनाथ सिंह का एक ग्रन्थ अभी ही प्रकाशित हुआ है, जिसमें 'काडवेल' की पद्धति पर इस युग का पहली बार व्यवस्थित विवेचन उपस्थित किया गया है। उसमें श्री शम्भूनाथ सिंहजी ने इस युग की सामाजिक आर्थिक एवं मानसिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए उसकी रचना-प्रक्रिया, अर्थ-भाव-भूमि एवं रूपाकार का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया है। ग्रंथ में प्रभाव-वादिता के स्थान पर सामाजिक चेतना-भूमि पर युग-व्याख्या का सम्यक् प्रयत्न हुआ है। श्री रामरतन भटनागर ने भी अपनी लम्बी पुस्तकमाला में छायावादी युग के प्रमुख कवियों एवं स्वयं 'छायावाद' 'रहस्यवाद' पर पुस्तकें लिखी हैं। उनकी रचनाओं में प्राप्त सामग्री के विवेचन की अपेक्षा सामग्री-चयन की प्रमुखता रहते हुए भी, हिन्दी-पाठकों

के लिए उनका महत्व कम नहीं। अपने कुछ फुटकल निबन्धों एवं 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' के प्रसंगों को छोड़कर डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी भी, लगता है, जैसे नवीन एवं नवीनतम साहित्य पर लिखने से अपने को बचाते हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि नवीन काव्य के प्रति उनकी दृष्टि आचार्य 'शुक्ल' की-सी है और उनके किसी अत्यन्त प्रामाणिक ग्रंथ के न आने का कारण वही है जो 'शुक्ल' जी के 'इतिहास' के प्र० सं० में नवीन कवियों का न लाया जाना, पर उन जैसी श्रेष्ठ विचारक-प्रतिभा के द्वारा प्राचीन पर बहुत कुछ पाकर भी नवीन पर अपेक्षाकृत कम प्रसाद पाना कुछ अखरता है। 'महादेवी की रहस्य-साधना एवं 'सुमित्रानन्दन पन्त' नामक पुस्तकों में श्री 'मानव' जी ने प्रांजल दृष्टि दिखलाई है।

प्रगतिवादी विचारकों द्वारा यह युग अधिकांशतः लांछित ही किया गया है, विचारित बहुत कम हुआ। उनके आलोचक-प्रतिभा-दीपकों ने प्रकाश की अपेक्षा धुवाँ अधिक दिया। जीवन-भूमि की सहज एवं प्राकृतिक उपज होते हुए भी एतद्युगीन काव्य के प्रति 'पलायनवादी', 'पूँजीवादी विकार', 'स्थितिवादी' अथवा 'क्षयशील काव्य' जैसे नामों का श्रेय इसी सम्प्रदाय को है। इधर उनके स्तम्भों की दृष्टि भी परिस्थिति-वश कुछ बदली है और साम्प्रदायिक प्रतिक्रिया को दबाकर उनमें भी अब कला-रूप पर विचार होने लगा है। श्री प्रकाशचन्द्रगुप्त की 'आधुनिक साहित्य' पुस्तक में पहले की अपेक्षा अधिक सन्तुलित दृष्टिकोण दिखलाई पड़ता है। श्री डा० सुधीन्द्रजी का पृथुल ग्रंथ भी निकला है। श्री कन्हैयालाल सहल ने भी 'वाद-विवाद' एवं 'छायावाद', 'रहस्यवाद' पर पुस्तकें लिखी हैं। डा० देवराज की 'छायावाद का पतन' पुस्तक में छायावादी काव्य-धारा पर कुछ गहराई से अवश्य सोचा गया है, पर पुस्तक-लेखन का उद्देश्य प्रतिक्रियात्मक होने से छोटी-छोटी कमियाँ चटकीली करके पहाड़ बना दी गई हैं और अच्छाइयों का उल्लेख स्वल्प

है। पुस्तक में आदि-अन्त के प्रशंसात्मक होने पर भी मध्य का लांछना-स्वर ही प्रधान है।

'बच्चन' और 'नरेन्द्र के बाद यह भाव-तरंगमयी स्वच्छ गीति-धारा अब भी सहजरूप में प्रवाहित है। प्रगतिवाद की लांछनाओं से यह धारा मिटी नहीं, क्योंकि उसका स्रोत जीवन के मूल-उत्स से सम्बद्ध है। नवीन धारा की 'सूक्ष्म-वाद', 'अनुभूतिवाद', 'वेदना-वाद' अथवा 'आन्तरिक सौन्दर्यवाद'—आदि सभी प्रवृत्तियाँ, उसकी जीवन-सम्बद्धता और अव्यावहारिक, शुष्क आदर्शों तथा रीति-कला-वाद की विकृतियों से मुक्त होकर जीवन-भूमि पर उसके अवतरण के ही संकेत हैं। आदर्श यथार्थ के ही परिष्कृत रूप होते हैं और वास्तविकता ही उनका उपादान होती है। जिस आदर्श का मूल यथार्थ में जितनी ही अधिक गहराई तक गया होगा, वह उतना ही अधिक श्रेयस्कर, स्थायी एवं महान् होगा। जब आदर्शों की डाल-पत्तियों एवं फूल-फलों में यथार्थ का रस नहीं पहुँचता, तो वे सूख कर जड़ बन जाते हैं। उनमें फिर से जीवन-रस का संचार ही उसकी पुनर्प्राण-प्रतिष्ठा है। तत्कालीन सामाजिक एवं व्यक्तिगत आदर्शों तथा जीवन के बदले हुए यथार्थ की खाई को पाटकर दोनों को सम्बद्ध करने का शुभ प्रयास ही युग-दृष्टि की सफलता थी। छायावादी समीर के नये-ताजे झोकों ने व्यक्ति-मन के जड़ीभूत, निर्मोक-छन्न वातायनों को खोल दिया। भीतर की गर्मी भी उभरी और साथ ही दमित वांछाओं के स्वास्थ्यकामी उपकरण भी ऊपर आये। वेदना, निराशा, चीत्कार, पीड़न, रोदन, हर्ष, विषाद एवं क्षोभ के तत्व भी उठे, पर इन सभी पुकारों में मानवता के जीवन की ही पुकार है, विवशता ही के विरुद्ध चीत्कार है। इस काव्य-धारा का अन्तिम लक्ष्य निराशा कभी नहीं सिद्ध की जा सकती। इन सभी आशा-कांक्षाओं, स्वप्न-अरमानों एवं हर्ष-रुदनों में जीवन का ही विद्रोह है, जड़ता के विरुद्ध सहज-मुक्त गतिशीलता का ही आग्रह है। अंधकार के ये गायक प्रकाश के याचक और जीवन के समर्थक थे। छायावादी हिलोर ने व्यक्ति-

के अन्तरतम में दबे-सोये सपनों को छूकर जगा दिया, उसके हृदय-मन के निगूढ़ कोनों में कुचली आकांक्षा-चिनगारियाँ समीर के इस प्रचेतक स्पर्श से जी उठीं। विभिन्न मनोमुद्राओं और मानसिक स्थितियों में उठीं इन व्यक्ति-चेतना-पुलकित अनुभूतियों में जीवन-मानों के पुनर्मूल्यांकन और पुनः स्थापना की स्पष्ट-अस्पष्ट माँग है। नवीन जीवन-वेग से बढ़ी नदी की भाँति इस भाव-धारा में आवर्जन-विस्फूर्जन तथा गाज और झाग भी है, किन्तु आवेग वह जीवन का ही है, अ--जीवन या जीवनेतर का नहीं। आगे चलकर यह धारा शारदीय प्रसन्नता से भी शोभित हुई। 'नरेन्द्र' आदि के बाद नेपाली, शम्भूनाथ सिंह, मोती बी० ए०, हंसकुमार तिवारी, प्रदीप, गुलाब आदि से इस धारा ने और अधिक सहजता प्राप्त की है। नेपाली ने हिन्दी प्रगीतों को प्रकृति के सहज क्रोड़ में सजाया है। 'हरी घास', 'पीपल' आदि रचनाओं में प्रकृति का यथार्थ सौन्दर्य है और वस्तु-चित्रण कवि की भावुकता की चाशनी से मधुर हो उठा है। नेपाली के काव्य में यौवन-सुलभ भावुकता एवं सहज अभिव्यक्ति का मसृण आकर्षण है। उनकी भाव-पेशलता में जवानी का मुक्त, गीति-मय उल्लास है। नेपाली की 'पंछी', 'उमंग', 'पंचमी' आदि कृतियाँ उनकी प्रसन्न प्रतिभा की परिचायका हैं। 'चल-चित्र-जगत्' में जाकर अर्थोपार्जन की विवशता के कारण नेपाली की सत्काव्य-प्रतिभा सस्ते गीतों में लग गई और हिन्दी काव्य-साहित्य में उनके नवीन दानों का क्रम रुक गया। नरेन्द्र तो वहां से भी 'अग्निशस्य' कर रहे हैं, पर नेपाली की वह उल्लसित कंठ-ध्वनि अब हिन्दी वालों के लिए कहने की ही बात रह गई। श्री आरसी प्रसाद सिंह, कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह तथा चन्द्रप्रकाश वर्मा की रचनाएँ भी अब उस वेग से नहीं निकलतीं। गया के हंस कुमार तिवारी और विहार के प्रसिद्ध गायक-कवि श्रीजानकी वल्लभ शास्त्री के परिमार्जित स्वर सुनने को अवश्य मिल जाते हैं।

'बच्चन' के बाद जीवन-यौवन की गति-धारा को आगे बढ़ाने वालों में काशी के श्री शम्भूनाथ सिंह का स्थान नया किन्तु बड़े महत्व का है। सन्

१९४० के बाद कविता के क्षेत्र में अपनी 'रूप-रश्मि' लेकर वे पहली बार प्रविष्ट हुए। 'रूप-रश्मि' में कवि के 'रूप' की प्यास और सौन्दर्य की तृषा का युवक-स्वर स्पष्ट है। कवि ने मुक्त रूप में जीवन की वासनाओं को अपनाया है। मारण नहीं, एक स्वस्थ उपयोग उसका पथ है। इन कविताओं में एक बात बड़े स्पष्ट रूप से लक्षित होती है कि उसकी भूख-प्यास में ज्वाला की अपेक्षा स्पृहा का तत्व प्रधान है। रूप-सौन्दर्य के भोग की तृषा एवं तृप्ति को कवि ने ऐसे 'प्रतीक' और 'अप्रस्तुत' प्रदान किये हैं कि उनके मानसिक पुनरानयन द्वारा निर्मित चित्रों की गहराई में मन डूब जाता है। ऐन्द्रिक अनुभूतियों की ऐसी सुखदायिनी एवं तृप्ति-कारिणी अभिव्यक्ति उस पीढ़ी के किसी भी कवि में नहीं मिलती। धीरे-धीरे श्री शम्भूनाथ सिंह का नाम हिन्दी के प्रमुख गीतकारों में आने लगा और नवीनतर पीढ़ी के तरुण कवियों का एक वर्ग ही उनके सम्पर्क में आकर गीत-सृष्टि करने लगा। श्री महेन्द्र, नामवर सिंह, हरिमोहन, व्रजविलास, सूर्यप्रताप सिंह, विजयदेव नारायण शाही, नर्मदेश्वर उपाध्याय से लेकर कुंवर बहादुर सिंह, रामदरश मिश्र, केदारनाथ सिंह, 'अधीर' आदि नव-युवक कवियों की प्रारम्भिक काव्य-साधना शम्भूनाथ सिंह के सम्पर्क और प्रेरणा में ही उठी है। उनके प्रतीकों की नव्यता एवं साद्यिकता में परिमार्जित रुचि एवं प्रभाव-सृष्टि का मोहक आकर्षण है। 'छायालोक' उनके गीतों का द्वितीय संग्रह है। इसी संग्रह ने हिन्दी-संसार पर उनकी गीतकार-प्रतिभा का सिक्का जमा दिया। प्रेम एवं सौन्दर्य-सम्बन्धी अनुभूतियों और आवेगों की ऐसी रसमयी अभिव्यक्ति आज अन्यत्र दुर्लभ है। 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला' एवं महादेवी के गीतों की भाव-साधना निश्चय ही 'छायालोक' के गीतों से कहीं ऊँची है और 'बच्चन' की व्यक्ति-चेतना तथा उनका भाव-संवेग अवश्य ही अधिक प्रबल है, किन्तु शम्भूनाथ सिंह के गीतों में 'प्रस्थान-त्रयी' के कवियों-सी न जटिलता है और न बच्चन-सा अभिधावादी प्रखर स्वर ही। उन्होंने 'पूर्व-छाया-युगीन' भावानुभूतियों को जीवन की सहजता, एवं 'बच्चन' के परुष 'व्यक्तिवादी स्वर' को लाक्षणिक

भंगिमा से अभिषिक्त किया है। सन् १६४५ में 'छायालोक' प्रकाशित हुआ। 'निवेदन' में कवि ने लिखा है, "जीवन के प्रथम प्रभात में जीवन और जगत् के सौन्दर्य की जो रंगीनी 'रूप-रश्मि' में चित्रित हुई, यौवन की चढ़ती वेला में सत्य की प्रखर किरणों ने उसे मिटा दिया। जीवन के पथ पर बढ़ते हुए कवि के सहज-सुकोमल मन ने श्रान्त-क्लान्त होकर विश्राम चाहा। उसे जीवन के सपनों की शीतल छाया अनायास मिल गयी। मन को उस छाया में विश्रान्ति मिली, आगे की यात्रा के लिए आवश्यक शक्ति मिली। 'छायालोक' में उन्हीं श्रम और विश्राम के क्षणों की विविध अनुभूतियाँ अभिव्यक्त हुई हैं। ये कविताएं जीवन के मीठे-कड़वे सत्यों की स्वप्निल छायाएँ हैं।" 'निवेदन' में आये 'मीठे-कड़ुवे सत्य' और उनकी 'स्वप्निल छायाएँ' परिलक्षणीय हैं। इन गीतों में स्वर जीवन का है, उसके संघर्ष का भी। वह मीठा अर्थात् सुखद क्षणों की मधुर स्मृतियों वाला भी है और कड़ुवा अर्थात् दुखद स्मृतियोंवाला भी। जीवन-संघर्ष में प्राप्त सुख-दु.ख की अनुभूतियों का इन गीतों में गान है, पर उनमें नग्न अभिव्यक्ति की प्रत्यक्ष उदग्रता नहीं, उस पर स्वप्निल छाया डालकर अर्थात् उन्हें कल्पना से रंजित कर उपस्थित किया गया है। शम्भूनाथ सिंह जी के गीतों में आये प्रतीक एक नवीन आभा और अभिव्यक्ति से जगमगा उठे हैं। उनकी वर्ण-योजना भी बड़ी आकर्षक एवं रमणीय होती है। कवि को 'ज्योति' और 'किरण' से बड़ा प्रेम है। 'आरती' प्रतीक भी, प्रायः प्रयुक्त हुआ है। 'अप्रस्तुतों' और प्रतीकों की ताजगी तथा 'प्रस्तुतों' के साथ 'अप्रस्तुतों' के प्रभाव-साम्य की योजना अपनी सहज सुन्दरता के कारण भावों में एक परिष्कृत प्रकाश की छटा उपस्थित कर देती हैं।

'प्राण, तुम दूर भी प्राण, तुम पास भी' तथा 'रूप के बादल'-कविताओं में 'अप्रस्तुत' अपनी प्रभा और प्रभाव से अनुभूतियों को प्रोज्ज्वल बना देते हैं। इनके 'अप्रस्तुतों' में रूपाकार के साम्य की अपेक्षा अनुभूति-साम्य की मधुर व्यंजना प्रधान होती है। जीवन की वासना और रूप-सौन्दर्य तथा प्रेम की

उज्ज्वल प्यास शम्भूनाथ के गीतों का प्राण है। उनके गीतों में न तो निवृत्ति का मिथ्या प्रदर्शन है और न प्रवृत्ति का अंधा वेग, उनमें स्वस्थ प्रवृत्ति और जीवन तथा जीवन के मानवीय वरदानों के प्रति सहज भोग की अभिलाषा एवं सुरुचि-शालीनतामयी उदारता है। मिलन-क्षणों की ऐसी मादक एवं तृप्तिमयी अभिव्यक्ति आज के गीतकारों में अत्यन्त विरल है। प्रणय-पुलकित क्षणों के रात-दिनों के प्रति कवि की अनुभूति दर्शनीय है—

'दिन के प्रणय-हास !
निशि प्यार के पाश !!
उड़ती रही ले प्रणय-
-गंध हर साँस !!
पर सत्य कब हो सका स्वप्न-अभिसार ।'

(छायालोक)

ऐन्द्रियता के लिए अंगरेजी का कवि कीट्स विश्व-प्रसिद्ध है। आज के हिन्दी-गीतों में श्री शम्भूनाथ सिंह की ऐन्द्रियता भी एक नवीन वस्तु है। उसमें तृप्ति और प्यास, भोग और संयम, भाव और कला का अनोखा संगम है। उनकी ऐन्द्रियता और रूप-सौन्दर्य की प्यास उनके गीतों में निरन्तर परिष्कृत होती गई है। प्रतीकों के प्रकाश में जीवन-यौवन की सहज अभिलाषाएँ अभिव्यक्त होकर निर्धूम हो उठी हैं, निराशा और कसक पुनीत बन गई हैं—

'ज्योतित किया द्वार !
जीवन-शिखा बार !!
जलता रहा !
आरती-दीप में प्यार !!
पर बाँध पाये किसे ये किरण-तार ।'

(छायालोक)

'दो बड़े नयन'-जैसे गीतों में कजली की स्वर-मादकता, वर्षा की शाद्वलता एवं स्मृति की विविध मुद्राओं में अनुभूत किन्हीं नयनों की मूर्त्तता अत्यन्त

सहजता के साथ स्वरमाण हो उठी है। 'बन्दी नयनों में बन्द हुए दो खुले नयन' जैसी पंक्तियों का विरोध-जनित सौन्दर्य, कला के पक्षपात में भाव से विरहित नहीं, भाव-सहयोग से परिपुष्ट और रससिक्त है।

'निराला' जी के चित्त-विक्षेप के बाद सुश्री महादेवी वर्मा ने एक प्रकार से 'साहित्यकार-संसद' के माध्यम से साहित्य और साहित्यकारों की रचनात्मक और व्यावहारिक समस्याओं का संचालन अपने हाथ में सँभाला, 'पन्त' जी की जनभीरुता अभी तक उन्हें जनता के कोलाहल से दूर रखे रही। उन्होंने जहाँ छायावादी काव्य-धारा का समर्थन, विश्लेषण और प्रवर्धन किया, वहीं उसकी सीमाओं की ओर भी अंगुलि-निर्देश किया। छायावादी कवियों को चुनौती देकर सावधान करते हुए उन्होंने कहा, "छायावाद के कवि को एक नये सौंदर्य-लोक में ही यह रागात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन में नहीं; इससे वह अपूर्ण है। ...अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर, जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर, अपनी सम्पूर्ण संवेदन-शक्ति के साथ जीवन में घुलमिल जावें।" महादेवी जी ने इस काव्य-धारा के सीमान्तों और अतिरेकों की ओर नये कवियों को सावधान किया। इन कवियों ने अपनी सौन्दर्य-पिपासा को नाना कल्पना–चित्रों की सृष्टियों में शान्त करने का विलम्बित प्रयास किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन का व्यापक प्रसार और उसकी अनेकमुखी समस्याएँ अपेक्षित अवधान न पा सकीं। उन्होंने अपने पाठकों और स्वयं को जीवन के धूलि-धूम से ऊपर उठाकर, सुन्दरता के मधुर आलोकमय लोक में रमाने का प्रयत्न अधिक किया और उस मधुर लोक के आलोक से धरती के धूलि-धूम को सजाने-बसाने का प्रयास कम। इसका परिणाम यह हुआ कि साधारण मानवता के पाषाण-बोझिल पंख वहाँ उड़कर अपना स्थान न बना सके, हाँ नीचे की धूमिलता से भरी उनकी आखों को इस चित्रलोक के प्रकाश से सान्त्वना और

बोध अवश्य मिला। इन कवियों की कविताओं में अलौकिकता एवं अशरीरिता का जाने-अनजाने आया हुआ तत्व, उन्हें आत्मसात् कर सकने के मार्ग में जन-साधारण के लिए अवरोधक रहा। 'छायावाद' के 'तृतीय चरण' के इन नवीन कवियों ने अपनी कल्पनाशीलता, प्रेम सौन्दर्य की प्यास, प्रतीक-प्रियता, ऐन्द्रियता एवं साधना को जीवन में घुला-मिलकर तृप्त करना चाहा। ये उड़ते भी थे तो धरती और जीवन तथा मानव हृदय की सहज-वासना भूमि से नाता तोड़कर नहीं। 'प्रथम चरण' के कवियों ने एक असाधारण सौन्दर्य-लोक में अपना नीड़ बनाया था, 'द्वितीय चरण' के कवि (बच्चन, भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र आदि) वैयक्तिक संघर्ष-जनित खीझ और पराजय-प्रतिक्रिया से घिर गये थे, 'तृतीय चरण' के कवि (शम्भूनाथ) भारती, हंसकुमार तिवारी, विजयदेव नारायण शाही, महेन्द्र,गिरिधर, 'विश्व' श्री हरि, रमानाथ अवस्थी, 'सेवक' प्रेमप्रकाश गौतम, 'प्रकाश', 'मुग्ध', बलजीत सिंह 'विरागी', रामदरश, किशोर, अशान्त, नामवर, नर्मदेश्वर, हरिमोहन, 'नीरज', 'भ्रमर', 'दिनेश', आदि जीवन और समाज के संघर्षों को आशा-भरी दृष्टि से स्वीकार कर अपने जय-विजय के गीत गा रहे हैं। इसलिए उनके कल्पना-वर्णों में हमें अधिक अपनापन, मानवपन और घरेलूपन मिलता है। इन गीतों में हमें अपने मन को खींचकर किसी ऐसी अत्युच्च भूमिका पर नहीं बिठाना पड़ता, जहाँ हमारा दम फूलने लगे या जहाँ की ऊचाई से हम सहम उठें। यहाँ मानवता का विश्वास और जीवन की सहजता है।

अपनी 'सारिका' में 'नन्दलाल' को 'छन्दलाल' और 'वनमाली' 'शब्दमाली' बन जाने की मनुहार करने वाले 'झोपड़ी'-लेखक सभाजीत पाण्डेय 'अश्रु' और, 'रत्नाकर', 'रसाल', तथा 'सरेस' की ब्रज-भाषा-काव्य-परंपरा को छायावादी रंगीनी और भाव-सूक्ष्मता एवं चित्रोपमयता की छटा से भास्वर कर देने वाले 'विश्व' और 'निशंक' का

नाम भुला देना सत्य के साथ अन्याय करना होगा। 'अश्रु' जी खड़ी-बोली में घनाक्षरी और सवैयों की ब्रजभाषोपम मधुरता लाने वाले ऐसे दूसरे कवि हैं जिनको 'पन्त' जी के बाद हिन्दी में 'हरिऔध' जी के माल्य-प्रसाद पाने का द्वितीय श्रेय है। उनकी 'कहीं से चलो ढूँढ़ लायें जवानी' कविता पर सहृदय-सम्राट् महाकवि 'हरिऔध' ने आज़मगढ़, अपने ही स्थान पर हुई एक कवि-गोष्ठी में सन् १९४२ में प्रसन्न होकर अपनी माला पहना दी थी। 'अश्रु' जी ने अपनी कविता का प्रारम्भ तो कानपुर में 'हितैषी' और 'सनेही' के सम्पर्क में किया था, पर अपने असमय मरण के ६–७ वर्ष पहले से ही उन्होंने सुन्दर गीत लिखने भी प्रारम्भ कर दिये थे। 'सम्मेलनों' में 'अश्रु' जी का प्रभाव अमोघ एवं पूर्व–निश्चित होता था। तरुणाई के सपनों पर ही इस भावुक कवि ने अपनी जवानी की आहुति दे दी। उनकी रचनाओं का संकलन उन्हीं के सम्बंधी काशी के हास्य-कवि श्री 'कौतुक' बनारसी कर रहे थे, किन्तु अभी तक वे पुस्तक-रूप में सामने न ला सके। इधर के कवियों में सर्वश्री 'अश्रु' और विरह-व्यथा के अमर लोक–गीतों के गायक विश्राम सिंह की जीवन-कहानी का अन्त बड़ा ही करुण और हृदय-विदारक है। विश्राम के विरहों में व्यथा और विरह-वेदना की अथाह पीड़ा कसी हुई है। उनमें विचारणीय बात यह है कि छायावादी अभिव्यक्ति-शैली और उसकी प्रवृत्तियों का प्रभाव न केवल परिमार्जित शिष्ट-गीतों तक ही सीमित रहा, वरन् तत्कालीन जीवन और उसकी अभिव्यक्तियों का अनिवार्य तत्व होने के कारण वह लोक-गीतों में भी लहराया है। प्राकृतिक संवेदना का हेत्वाभास, प्रकृति पर चेतनारोप, प्रतीक-विधान, विरोध-चमत्कार, ध्वन्यात्मकता, लक्षणोपचार एवं स्वानुभूति–मूलक वेदना-विवृति के अत्यन्त हृदयग्राही स्थल विश्राम सिंह के गीतों में प्राप्त होते हैं। आजमगढ़ के 'वेसली-कालेज' के अध्यापक श्री सुखराम सिंह के पास इन विरहों का संग्रह है। जब राहुल जी

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति थे, तो उन्होंने अपने भाषण में इन बिरहोंके रचयिताका बड़े प्रशंसा और समादर-पूर्ण शब्दोंमें स्मरण किया था, पता नहीं हिन्दी लोक-साहित्यकी यह अमर विभूति कब प्रकाश पा सकेगी! श्री 'विश्व' जी ने अपने सवैयों को व्रजभाषा में ही लिखा है, किन्तु उनमें आधुनिक गीतों का सा चित्र-संगुफन, कल्पना-वैभव एवं भाव-सूक्ष्मता की निधि भरी होती है। उनके ये सवैये व्रजभाषा की मरती परंपरा में नवीन प्राण-प्रतिष्ठा करने वाले हैं ही, उन्होंने खड़ी-बोली में बड़े सुन्दर गीत भी लिखे हैं और आज भी वे लिखते जा रहे हैं। आन्तरिक भावों की निष्कपट व्यंजना, पीड़ा की निश्छल तड़पन और प्रेम-सौन्दर्य की स्वच्छ अनुभूतियाँ उनके गीतों की विशेषताएँ हैं। वे व्रजभाषा की चित्रोपमता के मजे कवि हैं अतः उनके गीतों में भी चित्रों का उलझाव, असम्बद्ध एवं भावशोषी कल्पनाशीलता तथा अस्पष्ट अभिव्यक्तियाँ नहीं होतीं। 'विश्व' जी के जीवन की सचाई उनके गीतों की भी निधि होती है।

श्री धर्मवीर भारती की कविताएँ उन्हीं के समान पान-फूल-सी हलकी, कल्पनाओं की मलयजी बयार से झीमती, सहज, सरल, श्लक्ष्ण, एवं रोमानी होती हैं। उनकी अनुभूतियों में उनके सहज-स्मित मुख के ऊपर झलमलाने वाले धूप चश्में की-सी ही शाद्वलता है, हरियालापन है। भारती के गीतों में उनकी ताजी आखों से देखी गयी प्रकृति अपनी विविधता में जैसे उतर आई हो,—कच्ची किरनें, बीमार किरण, ज्योत्स्ना की कली, गुलाबी पँखुरी, सुरमई आभा, उदास जलपरी, चाँदी की बालू, केसरिया सूरज! संस्कृत, उर्दू और बोलचाल की त्रिवेणी से लिया गया उनकी भाषा का पुण्य जल हिन्दी के भावी गीतों के लिए तीर्थराज का प्रसाद बन जाय तो क्या आश्चर्य!! उनकी भाषा में विशेषण उसके प्राण होते हैं, जिनको वे अपनी अनुभूति के रंग और कल्पना की चटक से सजीव बना देते हैं। 'द्वितीय सप्तक' के पृ० १६० पर आई उनकी 'उदास तुम' शीर्षक कविता उनके 'अप्रस्तुतों' की

ताज़गी, उनकी अनुभूतियों की भोली पवित्रता और उनकी मासूम मनुहारों का सफल नमूना है। 'तुम चली प्राण जैसे धरती पर लहराये बरसात'—गीत में उनके कल्पना की निर्माण–विराटता और विशालता के साथ ही उसमें, भाव के साथ उसके आनुपातिक सम्बन्ध की निर्वाह–क्षमता भी दर्शनीय है। प्रायः विराट् चित्रों के ग्रहण करने पर चित्रपटी की विशालता के कारण, उसमें उस चित्र के प्रेरक मूल–भाव का अभाव हो जाता है, पर इस गीत में 'अप्रस्तुतों' के शीशे में प्रस्तुत का रूप अत्यन्त सुस्पष्ट है। 'भारती' की भावुक कल्पना अत्यन्त तरंगशील है। आज के यथार्थ–विकल और समस्याओं के पाषाण से हाँफने वाले इस युग में कल्पना की ऐसी अछूती ऊँचाइयाँ अत्यन्त विरल हैं। इसका कारण 'भारती' के उच्छल व्यक्तित्व की सहज-सरल तरलता है। लगता है, भारती एक स्रोत है—सदा बहता हुआ और गँदलेपन से दूर! उनकी यही मुक्त-प्रवाहशीलता और सीमाओं में उलझकर रुक न जाने वाला उत्साह 'भारती' को कच्चे काँच-सा निर्मल बनाये हुए है, नवनीत-सा कोमल और ठंडे लोहे-सा दृढ़। भारती रूप के फीरोज़ी ओठों पर ही बर्बाद होकर रह जाने वाले कलाकार नहीं, वह तो उनकी हार्दिक सत्यता का प्रमाण है; उनकी मुक्त कल्पना युगकी तलेटियों और इतिहास की ऊँचाइयों तक समान रूप से संचरण करती है—

'सृजन की थकन भूल जा देवता!
अभी तो पड़ी है धरा अधबनी,
अभागे पलक में नहीं खिल सकी
नवल कल्पना की मधुर चाँदनी।
अभी अधखिली ज्योत्स्ना की कली
नहीं जिन्दगी की सुरभि में सनी-
अभी तो पड़ी है धरा अधबनी

अधूरी धरा पर नहीं है कहीं
अभी स्वर्ग की नींव का भी पता।'

('थके हुए कलाकार से', द्वि० सं० पृ० १८१)

ताज़े अप्रस्तुतों के भीतर से झाँकती हुई एक ताजी सौन्दर्य-दृष्टि देखिए—

'इन फ़ीरोज़ी होठों पर बरबाद मेरी जिन्दगी!
गुलाबी पाँखुरी पर एक हल्की सुरमई आभा,
कि ज्यों करवट बदल सोती कभी बरसात की दुपहर!
इन फ़ीरोज़ी होठों पर!

('गुनाह का गीत', वही पृ० १८५)

'भारती' की दृष्टि में कविता जवानी का प्रतीक, आदमीयत की निशानी एवं सौन्दर्य का स्रोत है—

'मर गई कविता?
जवानी मर गई
मर गया सूरज सितारे मर गये
मर गये सौन्दर्य सारे मर गये
सृष्टि के आरम्भ से चलती हुई
प्यार की हर साँस पर पलती हुई
आदमीयत की कहानी मर गई।'

('कविता की मौत' वही, पृ० १०१, १०२)

'भारती' कविता की मुक्ति के प्रति प्रारम्भ से ही सजग हैं और 'कविता की शाहजादी' को 'अपार्थिव कल्पनाओं, टेढ़े-मेढ़े शब्द-जालों, अस्पष्ट रूपकों और उलझे हुए जीवन-दर्शन की शिलाओं' से मुक्त करने के विश्वासी और प्रयासी हैं। उनकी भाषा-भंगिमा को ही भ्रम से उनका लक्ष्य मानकर आज चाहे हम उसे 'प्रयोग' कहें या 'प्रयोगवाद', किन्तु भाषा-प्रयोगों की अपेक्षा भारती के मुक्त भाव-वैभव

और जीवनापेक्षी पूर्वाग्रहीन कल्पना-विस्तार में ही उनकी सच्ची सफलता है। आकाश से धरती, स्वप्न से सत्य और कल्पना से जीवन की ओर उत्तरोत्तर अवतरण उनके कवि का विकास—पथ है, भाषा का रीति—शिल्प नहीं।

'शाही' में हिन्दी की वर्तमान गीत-धारा ने प्रकृति के मनोरम चित्रों और सहज रूपों के प्रति मस्ती और भावुकता से भरी हुई एक चित्रकार की रंगमयी दृष्टि पाई है। प्रभात, वसन्त आदि पर लिखे गये उनके गीत अपने कल्पना-रंगों एवं आनुभूतिक दीप्ति में विशुद्ध स्वानुभूति-निरूपक गीतों से कम तल्लीनकारी नहीं हैं। उनमें बहिर्वादिनी अन्तर्मुखीनता है, अतएव उनकी समस्त कल्पनाशीलता और भावुकता विशुद्ध वैयक्तिक अनुभूतियों के अंकन में न उलझकर बाह्य जगत् का ही अपने आन्तरिक वैभव से श्रृंगार करती हैं। इसे 'मानव-भावाक्षिप्त' वर्णन की कोटि में नहीं ले सकते, क्योंकि यहाँ प्राकृतिक संवेदना का हेत्वाभास नहीं है, जहाँ भोक्ता अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों के रंग में बाह्य सृष्टि को रँग देता है, वरन् यहाँ बाह्य सृष्टि के ही सुन्दर-समाकर्षक दृश्य अपने प्रभाव से कवि के मानस को प्रभावित कर देते हैं और वह उल्लसित होकर अपनी पूर्व संचित राशि से उनका वर्णांकन करने लगता है, उन्हें सरूपता देने लगता है। 'शाही' जी की कल्पना भी बड़ी समृद्ध है, किन्तु वह भारती जी की कल्पना की भाँति प्रकाश की लपकें (Flashes) नहीं छोड़ती चलती, वरन् वह सूक्ष्मता के साथ चित्र-संगुम्फन करती है। 'भारती' जी की कल्पना में यदि उन्मुक्त सीमाहीन विस्तार होता है, तो 'शाही' जी की कल्पना में विशिष्ट एवं ससीम रूपाकार। यह बात भारती जी की उक्त पंक्ति 'ज्यों करवट बदल सोती कभी बरसात की दुपहर इन फ़ीरोजी होठों पर'। से 'शाही' जी की निम्न पंक्ति की तुलना करके स्पष्ट की जा सकती है—

धरा खोलती है मदिर मौन पलकें

कहीं गा रहा दूर कोई प्रभाती!
विभा ने क्षितिज के अरुण-द्वार खोले,
प्रभा ने खिलाये कनक-पुष्प भोले!
मलय वात की रेशमी-डोरियों पर,
मचल-से उठे कल्पना के हिंडोले!
सुरभि-पल्लवित हो गगन मुस्कराता,
चलीं रश्मियाँ ज्योति के गीत गाती!'
—('प्रभात' कविता से)

'शाही' जी की भावुकता में संवेग का वेग होता है और 'भारती' जी की भावुकता में द्रावण, इसी से 'शाही' जी का आवेश कभी-कभी दिवा-स्वप्न की कोटि में पहुँच जाता है। प्रकृति के दृश्यों की सहज-सुषमा 'शाही' जी की मस्ती-भरी भावुकता के वेग में कितनी रंगीन हो उठी है—

'धरती का बेसुध नव यौवन!
गंधर्व-कुटी के द्वार खुले
उस ओर गगन की सीमा पर!
सुर बालाओं का स्वर आया
मलयानिल लहरों में बहकर!
टीलों पर सोई धूप हँसी,
हो गये गुलाबी गाल सरल!
जो दबा रहा, वह दब न सका,
रस फूट पड़ा पाषाणों में!'
—('फागुन')

'उर्दू' के छन्दों की भी रवानी कितनी मस्ती के साथ हिन्दी में सँवर रही है—

'लहरा रहा है मुझ पर किस जिन्दगी का आँचल,

जो उठ रहे दृगों में छवि के हजार बादल !
कुछ इस तरह डुबा दे कि न फिर मिटे खुमारी,
चलता चलूँ जहाँ तक बजती रहे ये पायल !
हाँ मुस्कराती जाओ ओ धूप की कुमारी,
यह आखिरी सफ़र है, यह आखिरी कहानी !'
—('धूप का सागर')

'छायावाद' के 'द्वितीय चरण' में जो दिशा महादेवी जी के गीतों की है, 'तृतीय चरण' में वही दिशा श्री महेन्द्र के गीतों की। विषय-विस्तार और आनुभूतिक बिविधता से ऊपर उठकर, सन् १९३० के बाद से छायावादी गीत-धारा महादेवीजी के गीतों में भाव-साधना की एकान्विति एवं कला की परिष्कृति के एक अत्युच्च स्तर को स्पर्श करली है। उसमें वैयक्तिक चेतना की साधना-दीप्ति का अप्रतिम आलोक जगमगा उठा है। इसी प्रकार 'तृतीय चरण' में आकर रूप, प्रेम एवं व्यथा के गीत, श्री महेन्द्र की चुनी गिनी रचनाओं की स्वानुभूति, सान्द्रता, भावान्विति की एकाग्रता एव शब्द-साधना की सजगता से आदर्श बन गये हैं। स्पष्ट है कि इन गीतों की सीमाएँ भी वही हैं, जो महादेवी जी के गीतों की। इनमें भी वैयक्तिक चेतना चरमता की ओर झुक गई है, पर अँगरेजी 'लिरिक' की परिभाषा के अनुसार महेन्द्र के गीत 'तृतीय चरण' की शोभा हैं। उनके 'आज स्वप्न की बात तुम्हें पा जीवन का विश्वास बन गयी', 'घिरे व्यथा के बादल मन में', 'ओ स्वप्न की जीत, ओ सत्य की हार' और 'मैं तुमको अपना न सकूँगा, तुम मुझको अपना लो—।' आदि गीत हिन्दी के श्रेष्ठ गीतों में गिने जाने योग्य हैं। महेन्द्र की अनुभूतियाँ सदैव चिन्तन-पुष्ट होती हैं। इनमें बुद्धि-विरहित भावुकता के दर्शन नहीं होंगे।

श्री गिरधर गोपाल की 'अग्निमा', 'तृतीय चरण' के अवसाद और निराशा की तीव्रतम अनुभूतियों के गीतों का सुन्दर संग्रह

है। मृत्यु, चिता और ध्वंस की अनुभूतियों से पाठक-श्रोताओं के हृदय को ओतप्रोत कर देने में इनके टक्कर के गीत इधर बहुत कम लिखे गये हैं। इनमें संवेगों का बड़ा सघन वातावरण छाया रहता है। संवेदना इन रचनाओं का प्राण है। श्री रमानाथ अवस्थी का 'आग पराग' उनकी तरुणाई के आग-पानी और स्वप्न-ज्वलन का मादक-स्वर संग्रह है। सहजता और सरलता इनकी विशेषता है। इनमें जवानी का उत्साह भी है और खुमारी भी। श्री नरेश कुमार मेहता ने भी इसी नवीन धारा के 'तृतीय चरण' में ही लिखना प्रारम्भ किया है। उनके ऊपर छायावादी युग के सभी संस्कार वर्तमान हैं। प्रतीकात्मकता, ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, प्रकृति पर मानवीय चेतनारोप के साथ स्वानुभूति-निरूपण की अन्तर्वादी पद्धति उनमें भी उसी प्रकार परिस्फुट है। इधर 'प्रयोग-वाद' के नाम पर असन्तुलित 'अप्रस्तुत' विधान और अन्तर्मन की अपरिपक्व वृत्तियों के गद्यात्मक विन्यास के साथ-साथ बौद्धिक तटस्थता की रुझान अवश्य ही उनमें भी प्रमुख हो गई हैं, पर उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में जहाँ प्रयोग की बहिरागत प्रबुद्धता प्रमुख नहीं और भावनाएँ सन्तुलित कल्पना के सहारे मूर्तिमत्ता की ओर बढ़ी हैं, रसावेश और सौन्दर्यानुभूति का अच्छा पुट मिलता है। 'द्वितीय सप्तक' के पृष्ठ १२६ पर आई 'उषस्' रचना में वर्ण-विधान; श्रुति-चेतना पर आश्रित श्राव्य चित्रों एवं कोमल-कमनीय कल्पना के सहारे चलनेवाली भावुकता परिलक्षणीय है—

'नीलम वंशी से कुंकुम के स्वर गूँज रहे।
अभी महल का चाँद
किसी आलिंगन में ही डूबा होगा
अभी नींद का फूल मृदुल
बाँहों में मुसकाता ही होगा॥

नींद-भरे पथ में बैतालिक के स्वर मुखर रहे !

प्रकृति के चित्र भी 'मानवीकृत' होकर सुन्दर 'अप्रस्तुतों' से सज्जित हुए हैं—

'अमराई में दमयन्ती–सी पीली पूनम काँप रही है '

पृ० १२५ पर आयी 'किरन धेनुएँ' कविता में वैदिक-कल्पनाओं के प्रभाव में जो सांग रूपक बाँधा गया है, वह वैदिक युग की वस्तु भले ही हो, आज के युग में बुद्धि द्वारा छोपा गया ही लगता है, फिर भी कवि के शब्द-संचयन–प्रयोग में नवीनता तो है ही—

'उदयाचल से किरन–धेनुएँ
हाँकता रहा वह प्रभात का ग्वाला !
पूँछ उठाये चली आ रही
क्षितिज-जंगलों से टोली !
दिखा रहे पथ, इस भूमी का
सारस सुना-सुना बोली ।'

दूसरा 'अप्रस्तुत-विधान भी नवीनता के नाते दर्शनीय है—

'सोने की वह मेघ चील,
अपने चमकीले पंखों में ले अन्धकार
अब बैठ गयी दिन अंडे पर । (पृ० १३२)

'द्वितीय सप्तक' में ही कवि ने यह घोषणा की है कि 'पिछली अपनी छायावादी एवं रहस्यवादी रचनाओं को मैं कविता नहीं मानता, क्योंकि किसी भी प्रकार के प्रभाव से लिखी गयी कविता को द्वितीय श्रेणी का काव्य कहना होगा ।' कवि ने अपनी इन रचनाओं को प्रकारान्तर से प्रथम श्रेणी का कहा है, लेकिन फिर न जाने अपनी उक्त 'उषस' रचना को मेहता जी ने क्यों यहाँ स्थान दिया, जो छायावादी काव्यधारा के बाहर की चीज़ है ही नहीं, हो ही नहीं सकती । श्री हरि-मोहन की रचनाओं में कैशोर-तत्व की प्रधानता एवं भाव-कल्पना में

रोमानी रंग की ताजी छटा है। इनकी वर्ण-रंजना भी बड़ी प्रिय होती है। मांसल सौन्दर्य-तृषा एवं वासना से प्रेरित प्रकृति से लाये गये अप्रस्ततुतों द्वारा निर्मित चित्र बीच-बीच में बड़ा उन्मद वातावरण छा देते हैं। श्री नामवर सिंह ने विशिष्ट भाव-मुद्रा में प्रकृति के सुन्दर चित्र उरेहे हैं। इन चित्रों में संस्कृत के 'मध्यकाल' के काव्य से प्रभावित वर्ण-विन्यास हैं। जिस तरह से श्री हरिमोहन की प्रेरणा रूप-सौन्दर्य है, उसी प्रकार श्री नामवर सिंह की प्रेरणा प्रकृति के विविध रूप हैं। 'झुपुर-झुपुर धान के समूह में, हलर-हलर सुनहला बिहान'—जैसी पंक्तियों में ध्वनि एवं गति चित्रों के द्वारा वस्तु-चित्रण को प्रधानता मिली है।

श्री रामदरश के 'पथ के गीत' संकलन में कवि की गतिमान तरुणाई के जीवन-संघर्ष के गीत संग्रहीत हुए हैं। निराशा और विविध मानसिक उलझावों को छोड़कर कवि की प्रतिभा ने, पथ पर विश्वासी और संघर्ष-शील जवानी की गति और विरति के गीत गाये हैं। 'जिन्दगी की राह पर' (पृ० ३) और 'चल रहा हूँ' गीत जवानों की जवानी के विश्वास के गीत हैं। जौनपुर के श्री 'मुग्ध' ने अपने गीतों में प्रेम की रीझ और स्नेह के सलोनेपन पर सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। उनकी अप्रकाशित 'प्रणय' और 'माधव-शतक' रचनाएँ प्रेम-सौन्दर्य की सुरुचि से रस-पेशल और राग-मसृण हैं। श्री बलजीत सिंह 'विरागी' की कविताओं में तरुणाई की उन्मुक्तता और निर्बाध गति है। श्री कपिलदेव सिंह 'कपिल' की 'अरुणिमा' और 'मेघदूत' के गीतों में भावों की विदग्धता और निश्छल पीड़ा की कसक है। कानपुर के श्री 'नीरज' में उर्दू की ज्वलन और 'बच्चन' की प्रवृत्ति-जनित निराशा की घनता है। जौनपुर के श्री 'भुवनेश' ने 'प्रसाद' जी के 'आँसू' की पद्धति पर 'रोदन' नामक पुस्तक लिखी है। श्री रवीन्द्र 'भ्रमर' के युवक-कल्पना एवं प्रेम-भावना के तरंगी गीत दो-तीन वर्षों से ही काफी पसन्द किये जाने लगे हैं। गोरखपुर के श्री श्रवणकुमार के गीत

भी व्यथा-सिक्त होते हैं। इटावा के 'शिशु' ने घनाक्षरियों के अतिरिक्त उर्दू की गज़ल की विधान-पद्धति पर हिन्दी में कविताएँ लिखी हैं। श्री बलवीर सिंह 'रंग' एटा के उर्दू की गजलों के हिन्दी-तर्ज कवि-सम्मेलनों में अनवरत करतल-ध्वनि के बीच कहे-सुने जाते हैं। 'रंग' जी की कविताओं की बंदिश गजलों-सी होती है, जिनका प्रत्येक पद स्वतंत्र होता है।

दिल्ली के श्री शम्भुनाथ 'शेष' और देवराज 'दिनेश' की कविताएँ भी उसी श्रेणी की हैं जिसमें उत्तर प्रदेश के सर्वश्री 'शिशु' 'रंग' और 'नीरज' आते हैं। 'शेष' जी की कविताओं में छोटे-छोटे चित्रों का संगुम्फन विशेष सुन्दर होता है। श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने गद्य के अतिरिक्त कविताएँ भी सुन्दर लिखी हैं।

बिहार के कवियों में श्री आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री, 'प्रभात' हंसकुमार तिवारी नारायण, रुद्र, किशोर 'सेवक' एवं 'अशान्त' के नाम विशेष रूप से सामने आते हैं। शास्त्री जी संस्कृत के उद्भट विद्वान् हैं और 'निराला' जी के भक्त भी। 'निराला' जी के प्रशंसकों एवं भक्तों में हमें कुछ निराले जीवट की आशा करनी ही चाहिए। उत्तर-प्रदेश के श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय और बिहार के शास्त्री जी इसी कोटि में आते हैं। शास्त्री जी के गीतों में संस्कृत की परिमार्जित पदावली के साथ भावों का भींगापन बड़े चोखेपन के साथ व्यक्त होता है। 'मेरी जीवन के बीच तरी' और 'किसने बाँसुरी बजाई'-गीत भाव, बंध और संतुलन की दृष्टि से बड़े सधे हुए गीत हैं। उनके भाषा-संस्थान पर भारतीय शास्त्रीय संगीत का घना आवरण है। श्री हंसकुमार तिवारी के गीतों पर भी शास्त्रीय संगीत का प्रभाव है, पर जहाँ शास्त्री जी में व्यक्तित्व की उन्मुक्तता का प्राधान्य है, इनमें हृदय की विकलता का स्वर प्रगाढ़ है।

कविब्रित्रियों में सर्व-सुश्री विद्यावती 'कोकिल', सुमित्रा कुमारी सिनहा, शान्ति एम० ए० रमासिंह, 'स्नेह' एवं 'सुधा' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। 'कोकिल' जी में प्रणय की त्यागमयी, साथ ही भोग के प्रति अतिरस्कार की साधना प्रधान है। 'सखी री, रस बरसे मैं भीगूँ' में मीरा-सी प्रेम-पुकार भी है। सुमित्रा जी के गीत अनुभूति के साथ चिन्तन का आधार लेकर चलते हैं। 'शान्ति' जी के गीतों में भावुकता के साथ दर्शन की चिन्तना भी है, पर सुमित्रा जी और शान्ति एम० ए० के गीतों में प्राणों को हिला देने वाली आकुलता नहीं होती, चिन्तन का एक सुलझा लक्ष्य होता है। 'सुधा' जी के गीतों में भावाकुलता की मात्रा इन सबसे अधिक है। इसी से उनकी रचनाएँ अधिक हृदय-स्पर्शी होती हैं, पर उनमें चिन्तन की पुष्टता उतनी नहीं।

छायावादी भाव-साधना से प्रारम्भ गीतों और कविताओं की यह जीवित परंपरा 'प्रसाद' से प्रारम्भ होकर उत्तरोत्तर जीवन की व्यापक विविधता को स्पर्श करती हुई मानव के मर्म के निकट आती जा रही है। इसने यदि साधना और व्यक्तित्व में अन्तर्मुख होकर तृप्ति के स्वप्न देखे हैं, तो वृहत्तर होकर जीवन की अनेक-मुखी संवेदनाओं के बीच जागरण का गान भी गाया है। यह भीतर सिमटकर महादेवी के गीतों में चमकी है, तो बाहर फैलकर 'प्रसाद' की 'कामायनी' में प्रशस्त हो उठी है। इसने 'पन्त' में मधुर बनकर संस्कृति के भावी तारों को गुंजरित कर अन्तश्चेतना का स्वर बिखेरा है, तो 'निराला' के विद्रोह के स्वरों में मेघवत् गर्जन भी किया है। 'बच्चन' में जाकर इस धारा ने व्यक्ति के मन के क्षुब्ध कोणों को जगाया है, तो भगवतीचरण वर्मा के स्वरों में मधु-मदिरा का मोल और प्यासे अधरों से अधरों का भेद भी पूछा है। माखनलाल जी की राष्ट्रीयता में उसने अठखेलियाँ खेलीं, तो भारती के फीरोजी-केसरिया कल्पना-कुंजों में कोमल कूजन भी किया। श्रीशम्भूनाथ सिंह में 'रूप-रश्मि' बनकर वह 'छायालोक' में

रमती हुई, 'उदयाचल' तक पहुँच चुकी है, और 'भूमि-गंधा' की तैयारी कर रही है। छायावादी काव्य-धारा को 'वस्तु' क्षेत्र में प्रकृति आदि तक सीमित कर देनेवाले विचारक यह भूल जाते हैं कि ऐसा करके जीवन के मूल से उठी हुई एक व्यापक सर्जन-चेतना को वे झुठलाने का प्रयत्न करते हैं। छायावाद जीवन-स्वप्न के पटलों को फोड़कर उठने वाली गति की वह साहित्यिक दृष्टि थी जिसमें बाह्य को भेदकर अन्तर को छूने-देखने और सँवारने की आकुलता थी, जो भीतर-बाहर के इसी आवागमन के कारण लाक्षणिक बन गई। बाहरी बोझों से दबते हुए मानव-हृदय की पुकार को स्वस्थ स्वीकृति देने लिए 'प्रसाद' के स्वरों में इसने पहले-पहल अपनी आँखें खोलीं और मानव के प्रत्येक कोण को आलोकित करने की अपनी इसी उत्सुकता में वह समग्र जीवन को अपनी बाँहों में भेंटने के लिए निरन्तर आधुनिक गीतों में बढ़ती ही जा रही है, नाम और अभिधान चाहे जो दें।

———

'छायावाद : व्याख्या-परिभाषा'

'छायावाद' हिन्दी-साहित्य में एक ऐसा शब्द है जिसपर शीघ्रता में कुछ कह देना या जिसकी कोई-एक सर्वमान्य परिभाषा दे देना बड़ा कठिन है। हिन्दी के साधारण पाठक ही नहीं, विद्वान् विचारकों के बीच भी यह शब्द कम भ्रान्ति-जनक नहीं। इस शब्द के निर्माण-इतिहास का भी कोई निश्चित स्रोत नहीं। हिन्दी-आलोचकों में स्वयं इस विषय में ऐकमत्य नहीं। श्री गंगाप्रसाद जी पाण्डेय का कहना है कि यह शब्द स्वयं 'निराला' जी द्वारा ही निर्मित है और अपनी 'जुही की कली' कविता के विवाद-विमर्श में सहसा उन्होंने उसे 'छायावाद' कह दिया था; बाद में हिन्दीवालों ने उस आपाततः निकले शब्द को गम्भीरतया ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। आज तो यह नाम हिन्दी-काव्य की धारा-विशेष का संकेतक एवं परिबोधक 'पारिभाषिक' ही हो गया है। कुछ लोगों का कहना है कि यह नामकरण छायावाद के समर्थकों का नहीं, विरोधियों का दिया हुआ है। जब पुरानी परिपाटी के अभिधावादी आलोचक और पाठक, व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर आधृत स्वानुभूतियों की उन्मुक्त लाक्षणिक विच्छित्ति को हृदयंगम करने में अपने को असमर्थ अनुभव करने लगे, उसकी चित्रात्मक व्यंजना उनको दुरूह भान होने लगी, तो उसे वास्तविक की छाया, प्रत्यक्ष न कहकर अप्रत्यक्ष रूप से उसकी छाया झलकाने का ढंग या टेढ़े ढंग से नाक पकड़ने की रीति कहकर व्यंग्य से 'छायावाद' कहने लगे। 'द्विवेदी-युग' के अतिनैतिकतावादी वर्ग ने उसमें आयी प्रेम-सौन्दर्य की अभिव्यक्तियों को 'सजनीवाद' नाम से पुकारना शुरू किया। 'व्यक्ति'-जीवन में जगी नवीन मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं एवं महीन मानसिक चित्रों की व्यंजना के लिए गृहीत 'वीणा', 'तंत्री', 'झनकार'

आदि नये प्रतीकों पर व्यंग्यात्मक प्रहार होने लगे। कोई इसे व्यर्थ का शब्द-जाल कहता, और कोई बाल-चापल्य की शब्द-क्रीड़ा से अधिक उसे महत्व देने को तैयार न होता।

'छायावाद' पर सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से विचार करनेवाले आचार्य पंडित रामचन्द्र जी शुक्ल थे। उन्होंने 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' को समानार्थी और पर्याय-रूप में ग्रहण किया। अपने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक लेख में उन्होंने 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' का मूल 'अज्ञात के प्रति प्रेम' मानते हुए उसकी तात्विकता पर ही प्रहार किया और कहा कि जो अज्ञात ही है वह भाव का विषय नहीं हो सकता। इन रचनाओं का सम्बंध पुराने ईसाई सन्तों एवं बँगला से लगाते हुए आचार्य 'शुक्ल' जी ने कहा कि 'पुराने ईसाई सन्तों के छायाभास (Phantasmata) तथा योरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक 'प्रतीक-वाद' (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बँगला में ऐसी रचनाएँ 'छायावाद' कही जाने लगीं।' उनके कहने का संकेत यह है कि हिन्दी का 'छायावाद' भी अंगरेजी और उसके बीच से आये बँगला के 'छायावाद' की ही अनुकृति है। अपने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबंध में जो अब चिन्तामणि द्वि० भाग में संकलित है, वे कहते हैं कि "हम नहीं समझ सकते कि विना हिन्दी वालों की खोपड़ी को एकदम खोखली समझे, उनके बीच इस प्रकार के अर्थ-शून्य वाक्य छायावाद' के सम्बन्ध में कैसे कहे जाते हैं कि 'वह नवीन जाग्रति का चिन्ह है ; देश के नवयुबकों की यह दहकती हुई आग है इत्यादि, इत्यादि।' भला देश की नयी जाग्रति से, देश-वासियों की करुण दशा की अनुभूति से और असीम—ससीम के मिलन, अव्यक्त और अज्ञात की झाँकी आदि का क्या सम्बन्ध ? क्या हिन्दी के वर्तमान साहित्य-क्षेत्र में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बिल्कुल टूट गया है ?" (पृ० १६६)

'शुक्ल' जी के ये विचार सन् १९३० के आसपास के हैं। बाद को उन्होंने अपना मत-परिवर्तन किया और अपनी राय को कुछ मृदुतर बनाया। अपने 'इतिहास' में उन्होंने विषय और शैली के भेद से इसके दो प्रकार माने। 'अज्ञात' और 'असीम' को विषय बनाकर लिखे गये छायावादी काव्य को उन्होंने साहित्य में अस्वाभाविक माना। शैली की दृष्टि से उन्होंने उसकी विशेषता प्रतीकात्मकता एवं लाक्षणिकता में निर्दिष्ट की। किन्तु यहाँ भी इस शैली को भी फ्रांस का 'प्रतीक-वाद' की अनुकृति कहते हुए भारतीय साहित्य की दृष्टि से इसे 'लक्षणा'-काव्य अर्थात् प्रकारान्तर से द्वितीय कोटि का काव्य बतलाते हैं। अपने 'हिन्दी–साहित्य के इतिहास' में 'पन्त' जी की भाषा-सुकुमारता एवं मार्मिक संकेतों की प्रशंसा करने पर भी 'शुक्ल' जी की वृत्ति इस नवीन काव्य में रमती हुई नहीं दिखलाई पड़ती। संस्कृति और भारतीय चिन्ता-धारा के प्रति 'शुक्ल' जी के अपने निजी विचार-संस्कार थे, और वे लोक-भाव पर आधृत श्रद्धामयी सगुण-वादिता को ही अपना पूर्ण विश्वास एवं ममता प्रदान कर सके। 'रहस्यवाद' को तो उन्होंने 'सामी' प्रवृत्ति बतलाई। उनकी व्याख्या के अनुसार तो छायावादी काव्य का विषय अत्यन्त संकुचित एवं अधिकांशतः अस्वाभाविक ठहरता है और शैली कृत्रिम एवं रस से दूर चमत्कारोन्मुख। उनकी परिभाषा के अनुसार तो इस काव्य-धारा का समस्त सांस्कृतिक महत्व ही लुप्त हो जाता है। नवीन परिस्थितियों एवं पूर्वी-पश्चिमी विचार-संघर्ष के फल-स्वरूप जीवन-समष्टि के मूल में ही जो एक प्रकार का अन्तर्मन्थन हो रहा था, उसके फल-स्वरूप 'व्यक्त-अव्यक्त' एवं अर्द्धव्यक्त वृत्ति-प्रवृत्तियों के स्फुरण का उनके कथनों से कोई कार्य-कारण समाधान भी नहीं प्राप्त होता है उनके अनुसार अस्पष्टता एवं लाक्षणिकता के व्यामोह के अतिरिक्त इस काल में कुछ नवीनता थी ही नहीं। छायावादी काव्य की महत्ता मात्र उसकी शैली-गत नूतनता में ही नहीं, जीवन के नवीन आह्वानों में है

डा० रामकुमार वर्मा की व्याख्या के अनुसार भी 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' में कोई भेद नहीं है। उन्होंने एक ही के लिए दोनों शब्दों का पर्याय-सा व्यवहार किया है। 'आत्मा' में 'परमात्मा' एवं 'परमात्मा' में 'आत्मा' की छाया पड़ने की बात कहते हुए डा० साहब ने आधुनिक कवियों के साथ सेंट अगस्टाइन और जलालुदीन रूमी का भी नाम लिया है। अपनी 'विचार-दर्शन' नामक पुस्तक के पृ० ७२ पर डा० वर्मा ने लिखा है, 'छायावाद' वास्तव में हृदय की एक अनुभूति है वह भौतिक संसार के क्रोड़ में प्रवेशकर अनन्त जीवन के तत्व ग्रहण करता है और उसे हमारे वास्तविक जीवन से जोड़कर हृदय में जीवन के प्रति एक गहरी संवेदना और आशावाद प्रदान करता है। कवि को ज्ञात होता है कि संसार में परिव्याप्त एक महान् और दैवी सत्ता का प्रतिबिम्ब जीवन के प्रत्येक अंग पर पड़ रहा है और उसी की छाया में जीवन का पोषण हो रहा है। एक अनिर्वचनीय सत्ता कण-कण में समाई हुई है। फूल में उसी की हँसी, लहरों में उसका बाहु-बंधन, तारों में उसका संकेत, भ्रमरों में उसका गुंजार और सुख में उसका सौम्य हँसी छिपी हुई है। इस संसार में उस दैवी सत्ता का दिग्दर्शन कराने के कारण ही इस प्रकार की कविता को छायावाद की संज्ञा दी गयी।" डा० वर्मा ने 'व्यक्ति' चेतना अथवा संसार या प्रकृति की वस्तुओं में 'असीम', 'अनन्त' या 'परमात्मा' की झलक और दर्शन को 'छायावाद' के प्रमुख लक्षणों में शीर्षस्थ महत्व दिया। यह स्पष्ट है कि डा० साहब ने 'रहस्यवाद' की पहली परिभाषा की अपेक्षा इसमें जीवन को अधिक महत्व दिया है और इस प्रकार परिभाषा में व्यापकता भी बढ़ गई है, फिर भी उनमें रहस्य-वृत्ति की प्रमुखता के कारण उनकी 'छायावाद' की व्याख्या में भी उसे ही जीवन से अधिक महत्व मिल गया है और जग-जीवन की महत्ता एवं इस लोक को ही स्वर्ग में बदल देने वाली मानवी संभावनाओं का अंश दब गया है। इसके

अनुसार छायावादी काव्य-धारा में व्यक्त, नवीन परिस्थितियों में उत्पन्न नवीन सांस्कृतिक समस्या के समाधान-स्वर भी गौण हो जाते हैं, सांसारिक जीवन में, प्रेम-सौन्दर्य एवं करुणा-पीड़ा के पुनः स्थापित एवं नवोद्‌धृत गानों का उत्साह भी छाया में पड़ जाता है। डाक्टर साहब की परिभाषा निश्चय ही 'छायावाद' के व्यापक रूप पर उतना लागू नहीं, जितना उसकी शाखा-विशेष पर।

महादेवीजी ने अपनी व्याख्याओं में 'छायावाद' एवं 'रहस्यवाद' की भिन्नता का कदाचित् सर्व-प्रथम निर्देश किया। उन्होंने छायावाद का तत्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्‌गीथ बताया। अपनी प्रथम कविता पुस्तक 'नीहार' की भूमिका में उन्होंने यह संकेत किया कि 'रहस्यवाद' 'छायावाद' की ही एक प्रवृत्ति है। "छायावाद के अन्तर्गत न जाने कितने वाद हैं। मेरी रचना का कहाँ स्थान है, मैं यह नहीं जानती। जहाँ जिसका जी चाहे, रखे। कविता लिखने का ध्येय उसे किसी वाद के अन्तर्गत रखना ही तो नहीं है जो चिन्ता करूँ" (वही, पृ० ५)। इस कथन में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो यह है कि 'छायावाद' एक व्यापक पारिभाषिक शब्द है और 'रहस्यवाद' उसी की एक शाखा। दूसरी बात यह है कि छायावादी कहे जाने वाले कवियों ने 'दर्शन' के कठोर अर्थ में किसी 'वाद' को नहीं अपनाया था। उस समय की जीवन-परिस्थितियों एवं सामाजिक परिपार्श्व की यांत्रिकता, निष्प्राणता, जीवन-निरपेक्ष आदर्शवाद और प्राण-शोषी अतिनैतिकता के विरुद्ध मानवीय संवेदनाओं के आधार पर इन भावुक कवियों में जो भावनात्मक प्रतिक्रिया हुई, वही अपने विविध रूपों में इस काव्य में अभिव्यक्त हुई है। इसमें आशा-निराशा, हर्ष-शोक, क्षोभ-सहानुभूति, आकर्षण एवं विकर्षण के विरोधी स्वर एक साथ व्यक्त हुए हैं, किन्तु उनमें आस्था एवं श्रद्धा सवत्र है, अवश्य ही यह श्रद्धा-आस्था जीवन के प्रति है, जीवन की जड़-रूढ़ियों के प्रति नहीं।

वहीं आगे चलकर महादेवीजी ने 'छायावाद' की विशेषताओं या कुछ सामान्य-प्रवृत्तियों की ओर इंगित करते हुए व्यक्तिगत अनुभव में प्राण-संचार, प्रकृति के अनेक रूपों में एक प्राण का अनुभव और 'ससीम'—'असीम' के ऐसे सम्बन्ध का उल्लेख किया जिसमें एक प्रकार के अलौकिक व्यक्तित्व का आरोप हो। स्वानुभूति, प्रकृति में चेतनानुभूति एवं आत्म-परमात्म-सम्बन्ध की अलौकिकता, ये तीन बातें स्पष्ट रूप से देवीजी ने निर्दिष्ट की हैं। वे इसको शैली-विशेष ही नहीं, काव्य-वस्तु भी मानती हैं। यहीं उन्होंने यह भी संकेत किया कि 'रहस्यवाद' 'छायावाद' के आगे की चीज़ है। महादेवीजी की व्याख्या में कहीं से भी किसी 'वाद'-गत कठोरता का आग्रह नहीं दिखलाई पड़ता। 'वस्तु' के क्षेत्र में उन्होंने कोई अनुल्लंघनीय रेखा नहीं खींची है 'स्वानुभूति' एवं 'व्यक्तिगत अनुभूति' से, विचार एवं भावों के क्षेत्र में उन्मुक्ति एवं स्वच्छन्द प्रवृत्ति का स्वर अवश्य स्पष्ट है।

'प्रसाद' जी के 'यथार्थवाद और छायावाद' निबंध में 'छायावाद' पर प्रकट हुई उनकी दृष्टि भी महत्व की है।'कविता के क्षेत्रमें पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परंपरा से जिसमें बाह्य वर्णन की प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे' (पृष्ठ ८६)। इसमें भी 'प्रसाद' जी का किसी 'वाद'-विशेष के प्रति कोई आग्रह नहीं झलकता। उनकी व्याख्या वैज्ञानिक आग्रहशीलता को छोड़कर तत्कालीन परिस्थिति एवं उसकी उस समय के नवीन कवियों पर हुई प्रतिक्रिया तथा काव्य में उस प्रतिक्रिया के व्यक्त स्वरूप की ऐतिहासिकता को ध्यान में रखकर ही की गई है। उस समय के परिपार्श्व और उसकी प्रतिक्रिया पर ही

सभी छायावादी कवियों ने अधिक बल दिया है। प्रथम वाक्य से मुख्यतः तीन बातों पर बल दिखाई पड़ता है। एक तो यह कि इसके पूर्व की 'गुप्त' जी आदि की कविताएँ पौराणिक कथाओं को लेकर चलती थीं, छायावादी कविताओं में 'पुराण कथा' का आधार छोड़ दिया गया और प्रगीतों या मुक्तक-गीतों का प्राधान्य हुआ (सम्भवतः इसी कथा-साहित्य की ओर आदरणीय वाजपेयीजी ने अपनी 'बीसवीं शताब्दी' में उल्लेख किया है. जिस पर आगे चलकर उनके दृष्टिकोण को सामने रखते हुए आलोक-प्रक्षेप किया जायगा)। दूसरी बात है 'देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन' का त्याग। 'प्रसाद' जी ने यहाँ छायावाद' की उस प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है जिसमें सौन्दर्य की स्थूल रूपवत्ता के वर्णन की कमी दिखलाई पड़ती है और सौन्दर्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म आन्तरिक गहराइयों को उभाड़ने का प्रयास प्रधान दिखलाई पड़ता है। तीसरी बात है 'वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति'। 'वेदना' का अर्थ 'पीड़ा' भी लिया जा सकता है और 'शैव'-पदावली में, बहिर्जगत् के संघर्ष में व्यक्ति-मन में उठी सभी दुःख-सुखात्मक प्रतिक्रियाओं या विकारों का मतलब भी। इस प्रकार 'प्रसाद' जी ने नवीन काव्य में 'वस्तु' की स्थूल रूप-रेखा के स्थान पर, कवि-मानस पर पड़ी उसकी भाव-कल्पनात्मक छाया को अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति की ओर इंगित किया है। इसे ही अंग्रेजी में 'सब्जेक्टिविटी' कहते हैं। 'आन्तरिक स्पर्श से पुलकित' पदावली भी भावों में 'व्यक्ति'-चेतना की प्रमुखता की ओर संकेत करती ही है, साथ ही उनमें 'पुलक' अथवा आनन्द या उल्लास की दीप्ति भी होती थी। ये भाव तरंगायमान थे। 'प्रसाद' जी ने 'वस्तु' के साथ-साथ अभिव्यक्ति की नवीनता पर भी बल दिया है। उनके मत से 'वस्तु' के प्रति स्थूल-वर्णन की दृष्टि रखने वाले पुरानी धारा के रचनाकारों के द्वारा प्रयुक्त पदावली, इस आन्तरिक सौन्दर्य के वर्णन में असमर्थ थी, और कवियों को स्थूल

वस्तुवत्ता के सामने अपनी आन्तरिक अनुभूति की 'पुलक' अधिक प्रिय थी। वह उसे छोड़ना नहीं चाहता था, क्योंकि यह 'आभ्यन्तर वर्णन' उसके लिए 'स्पृहणीय' था। इससे नवीन भावानुभूतिकी अभिव्यक्ति के लिए छायावादी कवियों को 'नवीन शैली','नया वाक्य-विन्यास','नवीन शब्दों की भंगिमा' का पथ पकड़ना पड़ा और 'शब्द-विन्यास' में तड़प उत्पन्न कर सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए नया पानी भी चढ़ाना पड़ा। 'प्रसाद' जी के शब्दों में 'बाह्य उपाधि से हटकर आन्तर हेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ।' 'वैदग्ध्य भंगी', 'वक्रता', 'लोकोत्तीर्ण रूप', 'लावण्य', 'छाया' और 'विच्छित्ति' जैसी शब्दावलियों के द्वारा वे नवीन काव्याभिव्यक्ति को भारतीय साहित्य-शास्त्रीय-परंपरा (कुन्तक) से जोड़ते हुए, 'छाया' की परिभाषा करते हैं कि 'छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति-छाया कान्तिमयी होती है।' ध्यान देने की बात है कि महादेवी, डा० वर्मा एवं 'प्रसाद' तीनों ही 'शुक्ल' जी के मत के विरोधी हैं जिसमें वे 'छायावाद' को मात्र एक शैली मानते हैं।

डा० वर्मा की 'हृदय की एक अनुभूति', महादेवी जी की 'व्यक्ति-गत अनुभूति' और 'प्रसाद' जी की 'स्वानुभूति' छायावाद की 'वस्तु' अथवा 'भाव'-गत विशिष्टता पर ही बल देती हैं। किन्तु इस 'अनुभूति' का यह अर्थ नहीं कि वह अलौकिक अथवा प्रकृति-परक ही हो। अनुभूति का यह अवधारणा तो 'शुक्ल' जी के उस आक्षेप का उत्तर और निराकरण था कि 'छायावाद' में शैली की नवीनता के अतिरिक्त कोई सार नहीं है। उनके मत से 'छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ 'प्रस्तुत' के स्थान पर उसकी अभिव्यंजना करनेवाली छाया के रूप में

'अप्रस्तुत' का कथन' (इतिहास, पृ० ७४८)। इसका अर्थ हुआ कि छायावादी कवि सचेत रूप से 'प्रकृत वस्तु' का वर्णन न कर उपमानों के द्वारा उसकी छाया प्रस्तुत करता है। यह 'छायावाद' पर एक बड़ा आक्षेप था। 'शुक्ल' जी का यह कथन उसी पुरानी उक्ति का परिमार्जित और आवेष्टित रूप है कि 'छायावादी काव्य हाथ घुमाकर नाक पकड़ता है।'

इसी 'छाया' शब्द को लेकर बड़ा विवाद चला। 'शुक्ल' जी ने उसका अर्थ 'रहस्यवाद' में स्वप्नों का 'छायाभाव' और 'प्रतीकवाद' में 'वास्तविकता की छाया' (स्वयं वास्तविकता नहीं) लिया। डा० रामकुमार वर्मा ने 'आत्मा' में 'परमात्मा' की छाया और महादेवी जी ने 'छाया' की व्याख्या करते हुए कहा कि 'सृष्टि के बाह्यकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द–छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था। मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।' महादेवी जी 'छाया' का अर्थ स्पष्टतः मनुष्य हृदय की अभिव्यक्ति और चिर उपेक्षित अनुभूतियों के काव्य-गत सूक्ष्म चित्र मानती हैं। 'छायावाद' की परिस्थितिगत ऐतिहासिक व्याख्या भी महादेवी जी ने की है। उनकी इस व्याख्या में अवश्य ही 'पन्त' जी का काव्य उनके सामने प्रमुख रूप से उपस्थित था जब उन्होंने कहा कि 'छायावाद' ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के प्राचीन काल से चले आते हुए विम्ब-प्रतिविम्ब-संबन्ध में प्राण डाल दिये। 'प्रसाद' जी ने अपने उक्त निबंध में स्पष्ट कहा कि 'प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिविम्ब है; इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बंध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।'

'प्रसाद' जी 'छायावाद' की मूल-प्रकृति 'अनुभूतिमय आत्म-स्पर्श' और 'अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की भंगिमा' को मानते थे, जिसका लक्ष्य मात्र बौद्धिक चमत्कार पैदा करना नहीं, आन्तरिक सौन्दर्य की अनुभूति और उसकी तद्वत् अभिव्यक्ति है। 'शुक्ल' जी ने उसे मात्र शैली-चमत्कार, अतः मध्यमकोटि का काव्य कहकर उड़ा देना चाहा। प्रसादादि ने उसके अनुभूति-पक्ष की यथार्थता और सबलता पर जोर दिया। आलोचकों एवं पाठकों के एक वर्ग ने इस अनुभूति को खींच कर 'प्रकृति-दर्शन' या 'सर्ववाद' में सीमित कर दिया!

'पन्त' जी ने अपनी 'आधुनिक कवि' की भूमिका में लिखा है कि "छायावाद" इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न बनकर अलंकृत संगीत बन गया था। 'द्विवेदीयुग' के काव्य की तुलना में 'छायावाद' इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्य-बोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था, और उसका भाव-शरीर 'द्विवेदी-युग' के काव्य की परंपरा-गत सामाजिकता से पृथक् हो गया था। किन्तु वह नये युग की सामाजिता और विचार-धारा का समावेश न कर सका।" 'पन्त' जी के उक्त मत से भी यही सिद्ध होता है कि 'छायावाद' केवल प्रकृति में चेतनानुभूति तक ही सीमित नहीं था, वरन् उसमें 'नवीन' के सौन्दर्य-बोध को नयी शक्ति और नवीन सामाजिकता तथा विचारों का रस था। महादेवी जी के 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह' का संकेत भी 'स्थूलता' के स्थान पर स्थूलता के भीतर छिपी सूक्ष्म चेतना के ग्रहण और स्थूलता द्वारा द्रष्टा की सूक्ष्म चेतना पर डाले गये प्रभाव की अभिव्यंजना से था।

'शुक्ल' जी के शैली-चमत्कार के आक्षेप का उत्तर देते हुए अपनी पुस्तक 'जयशंकर प्रसाद' के पृ० १८ पर आचार्य वाजपेयी जी ने

लिखा कि "इस छायावाद को हम पंडित रामचद्र शुक्ल जी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक-लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्त्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक अस्तित्व और गहराई है।" जहाँ तक सांस्कृतिक मनोभावना का प्रश्न है, वह तो पूज्य वाजपेयी जी की अकाट्य भूमि है, पर स्वतंत्र दर्शन की नियोजना की बात जितनी अविरल स्थिरता के साथ 'प्रसाद' जी के काव्य पर लागू होती है, उतनी औरों के काव्य पर नहीं। 'स्वतंत्र' विशेषण ही विचारणीय हो सकता है। 'प्रसाद' पर बुद्ध, सांख्य और शैव आगमों का प्रभाव है, 'निराला' पर अद्वैतवाद स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द का, 'पन्त' जी पर वर्डस्वर्थ, गांधी, मार्क्स और महर्षि अरविन्द का, महादेवी पर बुद्ध और रहस्यवाद का, डा० रामकुमार वर्मा पर कबीर का। सभी छायावादी कवियों की मान्यता किसी एक ही निश्चित दर्शन पर है भी नहीं, और एक ही कवि के विचार एक साथ ही कई विचार-धाराओं से प्रभावित हैं और बदलते भी गये हैं। श्री 'वाजपेयी' जी ने 'प्रसाद' जी के 'रहस्यवाद' पर लिखे गये निबंध के अनुसार जिस स्वतंत्र दर्शन का संकेत किया है, वह सभी कवियों पर घटित नहीं होता। उसी पुस्तक में एक जगह वाजपेयी जी ने लिखा है कि 'इनमें ('प्रसाद' जी की रचनाओं में) एक नई कल्पनाशीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानसिक वृत्तियों की सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड़, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कुतूहल जो नई चिन्तना का सूक्ष्म प्रभाव है, प्रकट हो रहा है। ये ही छायावाद के उपकरण बनकर आये। इस नवीन प्रवर्त्तन के मूल में एक स्वातंत्र्य-लालसा, शक्ति की अभिज्ञता और सांस्कृतिक द्वन्द्व की एक अनिर्दिष्ट स्थिति देख पड़ती है। ये सभी एक कल्पना विशिष्ट दर्शन के अंग बने हुए हैं, जिसमें बड़ी व्यापक सहानुभूतियाँ है। इस नवीन दर्शन में कल्पना,

भावना और कर्म चेतना की सम्मिलित झाँकी है। इसे अकेले कर्म-संघर्ष से सम्भूत दर्शन हम नहीं कह सकते। यह उसका पूर्वरंग अवश्य कहा जायगा। इसमें कल्पनात्मक और भावनात्मक प्रवृत्तियों को प्रमुखता दी गयी है।' यहाँ भी दर्शन की बात कहते हुए 'वाजपेयी' जी ने उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का भी आकलन किया है। यदि 'दर्शन' का अर्थ एक व्यापक जीवन-दृष्टि से लिया जाय, तो छायावादी काव्य की जीवन-जगत् के प्रति व्यक्त हुई रचनात्मक प्रतिक्रियाएँ अवश्य ही उस कोटि में रखी जाँयगी, किन्तु यदि 'दर्शन' का अर्थ किसी निश्चित मान्यताओं की हद विचार-श्रृंखला के साद्यन्त निर्वहन-निरूपण से है, तो मुझे अत्यन्त विनम्रता के साथ कहना पड़ता है कि समस्त छायावादी काव्य को प्रमाणित करने वाले किसी एक ऐसी दर्शन की कठोर स्वीकृति नहीं। हाँ, छायावादी कविता के बीच से युग का गत्यवरोध एवं सांस्कृतिक द्वंद्व अवश्य मुखर हैं।

'रहस्यवाद' और 'छायावाद' का विभेद करते हुए 'बीसवीं शताब्दी' में 'वाजपेयी' जी ने छायावाद को 'समष्टि-सौन्दर्य-दृष्टि' कहा है। यह 'व्यक्ति-सौन्दर्य-दृष्टि' प्रकृति-जगत् की प्रत्येक उपादान-इकाई को अलग अलग मानकर उनमें चेतन-सौन्दर्य के दर्शन की दृष्टि ही है। यह उसी कोटि की बात है जो अन्य लोगों द्वारा प्रकृति के विभिन्न उपकरणों में चेतनानुभूति कही गयी है।

अपने 'यामा का दार्शनिक आधार' नामक निबंध में श्री वाजपेयी जी ने 'मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या होनी चाहिए।' 'सूक्ष्म' और 'व्यक्त' का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने 'सूक्ष्म' का तात्पर्य साकार क्रियाशीलता और कथात्मकता के अभाव से लिया है तथा 'व्यक्त' को 'अव्यक्त' सत्ता से भिन्नता प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किया है। उसकी दृष्टि में वर्ड्स्वर्थ अव्यक्त की

ओर अधिक झुक जाता है। उसमें सौन्दर्य की सार्वत्रिक भावना थी। कथात्मक आधार को लेकर चलने वाले 'स्काट, और 'सूक्ष्म' के स्थान पर 'स्थूलता' के पुजारी 'बायरन' को उन्होंने शुद्ध छायावाद के दो छोर माने उनके मत से 'प्राकृतिक सूक्ष्म सौन्दर्य की भावना का एक मात्र अधिष्ठाता' 'शेली' ही शुद्ध छायावादी कवि है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या कथात्मक आधार होने से 'प्रसाद' का 'प्रेमपथिक', उनकी 'कामायनी' और 'पन्त' की 'ग्रंथि' 'छायावाद' की कोटि में न गिने जाँयगे? 'वाजपेयी' जी की इस परिभाषा पर तो गीत ही खरे उतर सकते हैं।

आचार्य डा० पं० हजारी प्रसादजी द्विवेदी ने पुरा काल और आदि तथा मध्ययुग को ही अपनी विवेचना का मुख्य विषय चुना है। आधुनिक साहित्य पर कुछ कहने से वे भरसक बचते हैं। अपने 'साहित्य के साथी' नामक पुस्तक में उन्होंने 'छायावाद' एवं 'रहस्यवाद' पर छात्रों की की दृष्टि से कुछ विचार किया है। 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' में भी आधुनिक युग की पृष्ठभूमि में कुछ विचार किया है। इधर हाल ही में प्रकाशित अपने छात्रों के लिए लिखे गये इतिहास में भी विचार किया गया है। डा० द्विवेदी की आलोचना मूलतः शोधात्मक होती है और उस पर संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का भी पर्याप्त प्रभाव है। 'छायावादी युग' पर उनकी आलोचना इतनी खुलकर आई भी नहीं है कि उस पर कुछ अधिक विचार-विमर्ष किया जाय। उन्होंने 'वाच्यार्थ-प्रधान', 'लक्ष्यार्थ-प्रधान' एवं 'व्यंग्यार्थ-प्रधान' नामक तीन कोटियों में काव्य का वर्गीकरण करते हुए 'छायावाद' को 'लक्ष्यार्थ—प्रधान' एवं 'रहस्यवाद' को 'व्यंग्यार्थ—प्रधान' माना है। छायावादी काव्य को उन्होंने 'विषयि-प्रधान' भी कहा है, जिसे अन्य आलोचकों के शब्दों में 'स्वानुभूति—निरूपक' या 'अन्तर्वादी' (सब्जेक्टिव) भी कहा जा सकता है। उनके मत से इस काव्य पर 'फ्रायड' के 'अवचेतनमन' का भी

प्रभाव परिलक्षित होता है। संक्षेप में स्वानुभूति-प्रधानता एवं लाक्षणिकता की ओर संकेत करके डा० द्विवेदी जी मौन हैं।

श्री रामकृष्णशुक्ल ने भी इतिहास-रूप में आचार्य पं० रामचन्द्रजी शुक्ल के बाद इस युग का विवेचन किया है। उनके मत से 'छायावाद प्रकृति में मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है; रहस्यवाद समस्त सृष्टि में ईश्वर का। ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है। इसलिए छाया मनुष्य की, व्यक्त की ही देखी जा सकती है, अव्यक्त की नहीं। अव्यक्त रहस्य ही रहता है।' श्री शुक्ल जी ने 'छायावाद' को परिभाषित करने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर उनकी परिभाषा में अतिव्यापकता और अनिश्चितता का तत्व वर्तमान है। 'आलोचना-समुच्चय' में उनके विचार से अस्पष्टता या गहरी से गहरी लाक्षणिकता 'छायावाद' नहीं है। अपनी व्याख्या में उन्होंने भी आरम्भिक विचारकों की भाँति 'छाया' को केन्द्र बनाया है, पर उनके अनुसार मनुष्य-प्रकृति और जड़-प्रकृति के सामंजस्य की भावना ही अपने अधिक विकास में छायावाद को जन्म देती है। यहाँ प्रकृति ही जीवन का प्रतीक बन जाती है। 'शुक्ल' जी ने छायावादी कवियों की कविता में प्रकृति-चित्रों की अधिकता देख उसे ही 'छायावाद' का लक्षण-सा मान लिया है। छायावादी कविता प्रकृति-वर्णन तक ही सीमित नहीं। वह तो उसके विषयों में एक कही जा सकती है। प्रकृति में मानव-जीवन की छाया देखना, उससे साम्य की स्थापना या उससे उपदेश देने की प्रवृत्ति तो अपने काव्य की बड़ी पुरानी और आदि काल से आगत प्रवृत्ति है। अन्योक्तियाँ इसका मोटा प्रमाण हैं।

श्री कृष्णशंकर शुक्ल ने अपने 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास' ग्रंथ में इस नवीन काव्य-धारा का विवेचन किया है। 'शुक्ल' जी की छायावादी काव्य-धारा से अधिक सहानुभूति नहीं थी, इसलिए उस पर व्यंग्य-विद्रूप अधिक किये गये हैं, सहृदयता-पूर्वक समझने-

समझाने का प्रयत्न बहुत कम। गम्भीर विवेचन के बीच सहसा ऐसी विद्रूपोक्तियाँ आ जाती हैं कि जो कुछ विचार-गम्भीरता का प्रभाव मन पर पड़ा रहता है, वह भी नष्ट हो जाता है।

प्रो० नगेन्द्र इस युग के आलोचकों में एक प्रमुख स्थान रखते हैं। पं० सुमित्रानन्दन पन्त पर प्रथम पुस्तक लिखने के बाद ही हिन्दी-आलोचकों में नवीन काव्य के समर्थकों में उनका नाम प्रमुख-गण्य हो गया। उक्त पुस्तक में वे अंगरेजी-साहित्य के 'रोमानी पुनर्जागरण-युग' से काफी प्रभावित दिखलाई पड़ते हैं। 'छायावाद' की कोई निश्चित परिभाषा देने के बजाय उन्होंने उस युग के काव्य में आई सामान्य प्रवृत्तियों का निर्देश किया और उस पर कुछ हेर-फेर के साथ वे ही लक्षण घटित किये, जो किसी न किसी रूप में उक्त साहित्य पर लगाये जाते रहे हैं। सुश्री महादेवी वर्माजी ने छाया-वादी काव्य-धारा के विद्रोह-पक्ष पर स्यात् सर्वप्रथम अंगुलि-निर्देश किया था। प्रो० नगेन्द्र भी इस विद्रोहात्मक स्वर को उसका प्रमुख स्वर मानते हैं और उसके विद्रोह के सभी पहलुओं की ओर उन्होंने अलग-अलग संकेत किया है। 'छायावाद' 'उपयोगितावाद' के प्रति भावुकता का विद्रोह, धार्मिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातंत्र्य का विद्रोह और काव्य के बन्धनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना का विद्रोह है। प्रश्न हो सकता है कि जब छायावाद विद्रोही काव्य ही है तो फिर उसमें 'अतीत की ओर प्रत्यावर्त्तन' की प्रवृत्ति कैसे आयी? मेरी समझ में यह विद्रोह प्रचलित प्रणाली एवं तत्कालीन वस्तु-स्थिति से है। उस समय की वस्तु-स्थिति से ऊबकर वह अतीतकालीन स्मृतियों में विश्रान्त ले सकता था। इसी प्रकार प्रो० नगेन्द्र द्वारा कहे गये छायावादी काव्य के लक्षणों में 'लाक्षणिकता' एवं 'मूर्तिमत्ता' पर भी आक्षेप हो सकता है कि क्या ये प्रवृत्तियाँ पूर्ववर्त्ती काव्य में नहीं हैं? रही अवश्य हैं, पर इस मात्रा में—इतनी प्रचुरता के साथ नहीं। प्राचीन लाक्षणिकता या तो रूढ़ प्रयोग

बन गयी थी या बौद्धिक चमत्कारोत्पादन के निमित्त आती थी। छायावादी काव्य में यह लाक्षणिकता एवं मूर्तिमत्ता रस-पेशल एवं जीवन की चेतनानुभूतियों से सजीव होकर आयी है। फिर भी यह प्रवृत्ति-मात्र कही जा सकती है, विभाजक लक्षण नहीं। प्रो० नगेन्द्र रीतिबद्ध शास्त्रीयता एवं स्वच्छन्दता की क्रिया-प्रतिक्रिया को इतिहास की अनिवार्य गति मानते हुए 'छायावाद' को 'स्वच्छन्दतावाद' भी मानते हुए दिखलाई पड़ते हैं। "संक्षेप में कह सकते हैं कि जब-जब 'स्थूल' की प्रभुता असह्य हुई है, तब-तब ही 'सूक्ष्म' ने उससे विद्रोह किया है। इस विद्रोह के प्रोद्भास-रूप में जो गान संसार की आत्मा ने उन्मद होकर गाये हैं, वे ही छायावाद की कविता के प्राण हैं।" इस 'सूक्ष्म' के भीतर कवि का स्वानुभूति-निरूपण और आन्तरिक सौन्दर्य की प्रधानता खिंच आते हैं।

अपनी पुस्तक 'विचार और अनुभूति' के पृष्ठ १३० पर महादेवीजी के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि "महादेवी के काव्य में हमें 'छायावाद' का शुद्ध, अमिश्रित रूप मिलता है। 'छायावाद' की अन्तर्मुखी अनुभूति, अशरीरी प्रेम जो बाह्य तृप्ति न पाकर अमांसल सौन्दर्य की सृष्टि करता है, मानव और प्रकृति के चेतन संस्पर्श, रहस्य-चिन्तन (अनुभूति नहीं) तितली के पर और फूलों की पंखुरियों से चुराई हुई कला और इन सबके ऊपर स्वप्न-सा पूरा हुआ एक वायवी वातावरण... वह है महादेवीजी की कविता।" इस उक्ति के अनुसार शुद्ध 'छायावाद' की विशेषताएँ हुईं—(१) अनुभूति की अन्तर्मुखीनता (२) अशरीरी प्रेम और उसकी अतृप्त दशा (३) अमांसल सौन्दर्य (४) मानव और प्रकृति का चेतन संस्पर्श (५) रहस्य-चिन्तन (६) तितली के पंख और फूलों की पंखुरी से चुरायी गयी कला (७) इन सबके ऊपर स्वप्न-सा पूरा हुआ एक वायवी वातावरण। अनुभूति की अन्तर्मुखीनता 'प्रसाद' जी की 'स्वानुभूति की विवृति' के अन्तर्गत ही आ जाती है। 'अशरीरी प्रेम' और 'अमांसल सौन्दर्य' छायावादी कवियों के प्रेम-सौन्दर्य-सम्बन्धी रीति-

कालीन स्थूलता के विरोध, कल्पनानन्द एवं आन्तरिक सौन्दर्य की प्रमुखता की ओर संकेत करते हैं। यह अशरीरिता एवं अमांसलता 'प्रस्तुत' की सूक्ष्म 'अप्रस्तुतों' के सहारे की गई चित्रात्मक व्यंजना के कारण भी आ गई है। 'मानव और प्रकृति का चेतन संस्पर्श इस युग की कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है, जिसे कलावादी 'मानवीकरण' या 'प्रकृति पर चेतनारोप' के अन्तर्गत गिनेगा और दर्शन-वादी उसे 'छायावाद' का मूलभूत दर्शन कहेगा। 'रहस्य-चिन्तन' छायावाद' की शाखा-विशेष ('रहस्यवाद') का विषय है। 'तितली के पंख और फूलों की पंखुरियों से चुराई गयी कला' का संकेत छायावादी कवियों के भाषा-सौकुमार्य्य, कोमलकान्त-परदावली एवं संगीतात्मकता की मसृण शय्या की ओर है, जो कला-पक्ष के अन्तर्गत आता है। सातवीं विशेषता भावुकता, कल्पना-प्रवणता एवं मधुर स्पृहा की वृत्ति से सम्बद्ध है। प्रो० नगेन्द्र ने 'रहस्य-चिन्तन' को छोड़कर, जो सामान्य रूप से 'छायावाद' की विशेषता नहीं, किसी ऐसी विशेषता पर बल नहीं, जिसे छायावाद का अनिवार्य एवं सर्वथा-विभेदक लक्षण कहा जा सके।

अपनी 'विचार और अनुभूति' पुस्तक के पृ० ५, पर प्रो० नगेन्द्र ने 'छायावाद' में 'सर्वात्मवाद' की ओर संकेत करते हुए कहा है कि 'सर्वात्मवाद का बुद्धि-द्वारा ग्रहण तो सहज सम्भव है, परन्तु उसकी अनुभूति के लिए उस समय छायावाद के किसी भी कवि को चैलेंज किया जा सकता था।' उनके मत से 'छायावाद' में 'सर्वात्मवाद' (सर्व-चेतन-वाद) का दर्शन तो है, पर वह बौद्धिक ही रह गया है, आनुभूतिक नहीं।

उन्होंने 'विचार और अनुभूति' के पृ० ५५ पर छायावादी काव्य में आये श्रृंगार के प्रति कहा है कि उसमें श्रृंगार के प्रति उपभोग का भाव न होकर विस्मय का भाव है, इसी से वह मांसल न होकर कल्पनामय है, शरीर की भूख न होकर रहस्यमयी चेतना है। ये सभी उल्लेख

विषय की प्रवृत्ति या प्रकार के विभेद हैं। उसकी प्राणाधापक विशेषता नहीं। इसी पुस्तक के पृ० ५६ पर उन्होंने 'भक्ति' एवं 'रीति-काल' की भाँति इसे भी 'जीवन के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण' और 'विशेष प्रकार की भाव-पद्धति माना है। यहीं नव-जीवन के स्वप्नों और कुंठाओं को उसका आधेय मानते हुए और उसकी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी तथा वायवी बतलाते हुए अभिव्यक्ति को प्रकृति के प्रतीकों का आश्रित कहा है। 'सर्वात्मवाद' को तत्वतः उसकी विचार-पद्धति मानते हुए भी उसे प्रेरणा का सीधा स्रोत मानने से इनकार किया है। यहाँ संसार के अधिकांश काव्य को कुंठा-जनित मानते हुए और छायावाद को भी कुंठा से ही उत्पन्न बतलाकर यह भी घोषणा की है कि कुंठा प्रथम श्रेणी के विश्व-काव्य को जन्म नहीं दे सकती। उन्होंने छ्रायावादी काव्य-धारा के भाव-जागरण को कुंठा की संज्ञा दी है। पृ० ५३ पर उन्होंने कहा कि 'आज से बीस-पचीस वर्ष पूर्व, युगकी उद्बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की, वह काव्य में 'छायावाद' के रूप में 'अभिव्यक्त हुई। जिन प्रवृत्तियों ने हमारी कर्म-वृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया, उन्हींने भाव-वृत्ति को छायावाद की ओर।···राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता, असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुख अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थीं। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे 'अवचेतन' में जाकर बैठ रही थीं, और वहाँ से क्षति-पूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्य-गत समष्टि ही छायावाद कहलायी।' छायावादी भावनाएँ चाहे कुंठा-जनित हों या क्षति-पूर्ति के लिए अभिव्यक्त, पर यह व्याख्या तो अन्य-युगीन काव्यों पर भी लागू हो सकती है। क्योंकि यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो प्रत्येक युग में प्रत्येक मानव के साथ घटित होती रहती है।

श्री शान्तिप्रिय जी द्विवेदी भी छायावादी काव्य के प्रमुख आलोचकों में आते हैं। हिन्दी के साधारण पाठकों ने सन् १६३२-३३ के आस-पास से ही उनकी प्रभाव-वादी आलोचनाओं के प्रकाश में इस नवीन काव्य को समझने और रस लेने का प्रयास प्रारम्भ किया है। १६३८-४० के आस-पास इनकी बड़ी चर्चा होने लगी थी। उन दिनों 'माधुरी' आदि में उन पर संस्मरण एवं रेखा-चित्र भी निकला करते थे। उन्होंने विश्लेषण-प्रणाली में छायावादी काल की वस्तु एवं कला-गत छानबीन करते हुए निष्कर्षों की स्थापना के स्थान पर छायावादी कवियों की कविताओं द्वारा मन पर पड़े हुए प्रभावों की तरल व्याख्या पर अधिक बल दिया।

अपनी 'संचारिणी' पुस्तक के 'छायावाद का उत्कर्ष' नामक अध्याय में श्री शान्तिप्रियजी ने 'छायावाद' को केवल एक कला ही नहीं माना है, वरन् साहित्यिक 'टेकनीक' की दृष्टि से कला होते हुए भी दार्शनिक अनुभूतियों की दृष्टि से वह 'एक प्राण है, एक सत्य है।' उनकी दृष्टि से यह काव्य अभिव्यक्ति ही नहीं एक 'श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। 'शुक्ल' जी के 'छायावाद' को मात्र एक शैली मानने वाले मत का विरोध करते हुए उन्होंने 'छायावाद' के 'छाया' और 'वाद' से दो अर्थ निकाले हैं। "छाया" शब्द यदि उसकी कला के स्वरूप को सूचित करता है तो 'वाद' उसके अन्तःप्रकाश 'अभिव्यक्त' को। छाया की तरह उसके कला-रूप में परिवर्तन होता रहता है, किन्तु उसका प्रकाश अक्षुण्ण रहता है।" इतना तो स्पष्ट हो गया कि श्री शान्तिप्रिय जी छायावाद को मात्र शैली ही नहीं, अनुभूति भी मानते हैं, पर वह अनुभूति कैसी है, क्या है—यह स्पष्ट नहीं होता। स्यात् अपने काव्यात्मक शब्दों में वे भी छायावाद की आन्तरिकता, आत्मनिष्ठता अथवा स्वानुभूति-निरूपण की प्रवृत्ति की ओर ही संकेत करना चाहते हैं। अपनी पिछली पुस्तकों में कहीं-कहीं उन्होंने प्रकृति की अन्य वस्तुओं में सप्राणता अथवा अपने समान आत्मा

की झाँकी देखने को भी 'छायावाद' कहा है। यह सत्य कि द्विवेदी जी की आलोचनाओं में काफी उलझाव और अस्पष्टता हो, पर प्रारम्भिक प्रयत्न होने के नाते वह स्वाभाविक ही था।

बाबू गुलाब राय ने भी छायावादी काव्य की विवेचना की है और अपनी पुस्तकों में क्रोचे के 'अभिव्यंजना-वाद' पर आचार्य 'शुक्ल' जी द्वारा उगले गये आक्षेपों का उत्तर भी दिया है। राय बाबू के मत से जिस प्रकार 'द्विवेदी-युग' का काव्य 'रीतिकाल' की प्रतिक्रिया था, उसी प्रकार छायावादी काव्य 'द्विवेदी-युग' की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया है। अपने 'काव्य के रूप' के पृ० १३६ पर उन्होंने कहा है कि "राष्ट्रीयता हृदय की कोमल भावनाओं को न दबा सकी और शृंगारिक भावनाएँ एक 'उन्नत रूप' में प्रकाश में आयीं।" शृंगार का कायिक पक्ष नहीं, मानसिक पक्ष प्रबल हुआ। इन कवियों ने बाहर की अपेक्षा भीतर ही अधिक कोमलता पायी। 'छायावाद' के अन्तः-सौन्दर्य की ओर इंगित करते हुए उन्होंने कहा कि 'जीवन की बाहरी शुष्कता के अन्तस्तल में बसने वाली सौन्दर्य-सुषमा को बाहर लाकर उसको एक सरस मधुर आवेष्टनमयी कोमल-कान्त-पदावली में अभिव्यक्त करने की ओर हमारे नव युवक कवि अग्रसर हुए।' उन्होंने 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' दोनों में स्थूल दृश्य की उपेक्षा परिलक्षित की है। उन्हें 'बहिर्मुखी' की अपेक्षा 'अन्तर्मुखी' अधिक मानते हैं। इन काव्यों का बाह्य प्रकृति चित्रण भी आन्तरिक ही होता है। प्रकृति का मानवीकरण कर उसे मानवी भावों से अनुप्राणित करते हैं। वस्तु 'कटी-छटी सीमाओं' में न आकर 'वायवीकृत' होकर आती है। उन्होंने इस काव्य में प्रकृति और मानव में एकात्मवाद की स्थापना देखी है। 'प्रकृति विराट् पुरुष का शरीर है तथा पुरुष प्रकृति की आत्मा। मनुष्य का शरीर प्रकृति का ही अंश है और उसकी आत्मा का व्यापक विश्वात्मा से सन्बन्ध है' (वही, पृ. १३६, १३,)।

उपर्युक्त व्याख्या में राय बाबू ने आन्तरिक सौन्दर्य के चित्रण, वायवीकरण एवं एकात्मवाद की प्रवृत्तियों की ओर प्रमुख रूप से संकेत किया है। वायवीकरण तो कल्पना-शीलता का दूसरा नाम है और एकात्मवादी प्रवृत्तियों के यत्र-तत्र दिखलाई पड़ने पर भी वह 'दर्शन'-रूप में सर्वत्र गृहीत नहीं हुआ है।

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने 'छायावाद और 'रहस्यवाद' में 'छायावाद' को 'वस्तुवाद' और 'रहस्यवाद' की मध्यम कड़ी मानते हुए लिखा है कि "छायावाद' शब्द से ही उसकी छायात्मकता स्पष्ट है। विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना छायावाद है।" उनके मत से छायावाद का विषय आत्मा और जगत् है। श्री पाण्डेय जी ने 'छायात्मकता' शब्द के द्वारा अपनी स्पष्टता पर भी कुछ छाया अवश्य डाल दी है और यह सम्भवतः 'छायावाद' के 'छाया' शब्द की चरितार्थता सिद्ध करने के प्रयत्न में अनजाने ही हो गया है। 'अज्ञात' शब्द अवश्य भ्रामक है, क्योंकि छायावाद में अज्ञात तो कुछ भी नहीं है। उसमें रहस्यात्मकता अवश्य है जो पूर्णतः अज्ञातता का सूचक नहीं। 'सप्राण छाया' मानवी चेतनारोप, मानवीकरण या सर्व-चेतनाता की प्रवृत्ति के संकेत के लिए ही आयी है।

श्री डा० रामरतन भटनागर ने 'छायावाद' को अत्यन्त 'लांछित शब्द मानते हुए कभी उसका अर्थ 'अस्पष्टता' लिया, कहीं उसे 'सजीव प्रति-क्रिया' कहा। कहीं-कहीं उसे 'अंग्रेजी बंगला का प्रभाव, 'पलायनवादी और व्यक्ति-निष्ठ व्यक्तियों की बहक' बतलायी। डा० साहब का मत 'छायावाद' पर कुछ बहुत सुलझा हुआ नहीं है। वह एक प्रकार से बहुतों का एकत्र संग्रह है। उन्होंने भी 'छायावाद' की आन्तरिकता, वायवीयता और विद्रोहशीलता का उल्लेख किया है।

डा० देवराज ने 'छायावाद का पतन' लिखकर एक तहलका अवश्य मचा दिया, पर उसमें छायावादी कला की दुर्बलताओं का ही

उल्लेख अधिक है। परिभाषा और लक्षण बतलाने का कष्ट कम किया गया है। शब्द-मोह, चित्र-मोह और कल्पना-मोह का उल्लेख करते हुए, केंद्रीयागमी व्यंजना-प्रवृत्ति, पृष्ठाधार का सुदीर्घ पोषण, विचार-गत और रागात्मक असामंजस्य, अप्रस्तुत-प्रियता आदि का उपरितः संकेत करते हुए नवीन काव्य की 'वस्तु' एवं 'कला' का बाह्य के साथ-साथ अन्तरिक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। एक बात का कुशल है कि दार्शनिक होते हुए भी उक्त डाक्टर साहब ने 'छाया-वाद, को दार्शनिक परिवेशों में घेरने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने अधिकांशतः शुद्ध-साहित्यिक मानों पर ही अपनी दृष्टि और अपने संस्कारों के अनुसार विचार किया है। 'छायावाद का पतन' के पृ० ११५ पर उन्होंने लिखा है कि 'छायावादी कवि अक्सर प्रतीक-विधान को साध्य अथवा वास्तविकता (अनुभूति) का स्थानापन्न समझते दिखाई पड़ते हैं।' 'हमारी शिकायत यही है कि छायावादी अनुभूति और अभिव्यक्ति में सरल प्राणवत्ता की कमी है, उसमें ध्वनि-पूर्ण शब्दों एवं चित्र-विचित्र कल्पनाओं का आडम्बर अधिक है, स्वच्छ, निष्कपट, सहज अनुभूति का अंश कम। जीवन के निकट स्पर्श के अभाव में उसका कलेवर निर्जीव साज-सज्जा और चमत्कार से बोझिल है। इस दृष्टि से वह ह्रास-युगीन संस्कृत-काव्य और चमत्कारान्वेषी 'रीति-काल' से इसी बात में भिन्न है कि वह शरीर-केन्द्रित न होकर बुद्धि-केन्द्रित है (पृ० १२०, वही)। 'शरीर' और 'बुद्धि' के विभेद द्वारा डा० साहब ने स्यात् प्रेम और सौन्दर्यानुभूतियों की प्रकृति की ओर संकेत किया है।

श्री जैनेन्द्र-कुमार जी ने 'साहित्य-सन्देश' के नवम्बर १९३९ के अंक में लिखा था कि 'छायावाद में अभाव को अनुभूति से अधिक कल्पना से भरा गया। वियोग उसके लिए एक 'Cult' हो गया। आँसू मानो छिपाने की चीज़ नहीं, दिखलाने की वस्तु हो गया। कला संग्रह-णीय न होकर बिखेरी जाने लगी। जो वेदना संजोयी जाकर बल बनती,

वह साज-सज्जा से प्रस्तुत की जाकर छाया-मात्र रह गयी।' जैनेन्द्र जी ने छायावादी काव्य के कल्पनातिरेक एवं वेदना-विवृति पर आक्षेप किया है। 'छाया' से अयथार्थता एवं जीवन-राहित्य का भी संकेत है। श्री पं० किशोरीदास वाजपेयी ने अपने 'साहित्य निर्माण' के पृ० ६४—६५ पर ब्रजभाषा—काव्य के प्रति अपनी प्रच्छन्न सहानुभूति प्रकट करते हुए छायावादी रहस्यवादी कवियों पर ब्रजभाषा—काव्य के विरुद्ध लिखने का आरोप लगाया और यह फतवा दे दिया कि छायावाद देखते ही देखते अस्त हो गया और अभी तक 'द्विवेदी-युग' ही चल रहा है, और तब तक चलता रहेगा जब तक कि कोई 'भगीरथ' आकर भाषा-भाव में नया मोड़ न दे दे। 'माधुरी' में प्रकाशित अपने निबन्ध में श्री सद्गुरुशरण जी अवस्थी ने मानवीकरण के आरोप को ही प्रकारान्तर से छायावाद लक्षित किया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में डा० केशरी नारायण शुक्ल ने अपनी आधुनिक काव्य—धारा' ('डाक्टरेट'—उपाधि के लिए लिखा गया शोध—प्रबंध) में वर्तमान काव्य की विशेषता तीन विभिन्न क्षेत्रों में दिखलाई है। उनके मतसे स्वच्छन्दतावाद'की भावनाके साथ-साथ 'यथार्थवाद' और 'अभिव्यंजना-वाद' की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। 'द्वितीय—उत्थान' के शास्त्रानुयायी, संयत और सामंजस्य—पूर्ण चित्रण के विरोध से हम परिचित हैं। 'द्विवेदी युग'की आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के विरोध में कल्पना और अनुभूति को उत्तेजना मिली, यही 'स्वच्छन्दतावाद' है। 'स्वच्छन्दता-वाद' प्रधानतया कल्पनात्मक मनोदृष्टि है। स्वच्छन्दतावादी कविता की विविधता के बीच एक सामान्य विशेषता—'स्वातंत्र्य—प्रेम' के दर्शन होते हैं × × 'स्वच्छन्दता' के दो प्रधान लक्षण—जिज्ञासा और सौन्दर्य-प्रेम—वर्तमा काव्य में वर्तमान हैं' (पृ० २३१)। डा० केशरीनारायणजी शुक्ल ने रूढ़ियों के विरोध में खड़े होने वाले 'स्वच्छन्दता-वाद' (रोमांटिसिज़्म) और 'छायावाद' (रोमांटिसिज़्म) को बहुत कुछ एक माना है। उन्होंने भी 'छायावाद' में किसी निश्चित दर्शन का आग्रह नहीं किया है।

इस युग पर दूसरा शोध-कार्य प्रयाग-विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग की देखरेख में डा० श्रीकृष्णलाल द्वारा किया गया है। यह शोध 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास' नामसे प्रकाशित हुआ है। डा० श्रीकृष्णलाल ने आधुनिक कविता की प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हुए इसे 'स्वच्छन्दतावाद' का नाम दिया है। उनके निष्कर्ष इस प्रकार रखे जा सकते हैं (१) इस काल की शृंगार भावना विशुद्ध बुद्धिवादिनी है। आधार मानसिक है। प्राचीन साहित्य की वर्णित वस्तुएँ अपने मूलरूप में अनुरंजक हैं, आधुनिक साहित्य में उनका महत्व बुद्धि पर प्रभाव डालने के लिए है (२) प्राचीन कवियों का सम्बन्ध 'भावों' ('आइडिया') से था 'भाव-सत्यों' ('फैक्ट्स') से नहीं। आधुनिक साहित्य ने भाव-सत्यों को अपनाया, किन्तु सत्यों की व्यंजना-शैली बुद्धि-मूलक, कल्पना-प्रधान और आदर्शवादी है। (३) इस परिवर्तन के कारणों में एक प्रमुख कारण ब्रिटिश-राज्य और पश्चिमी विचारों का निर्यात एवं अंगरेजी-साहित्य का प्रभाव भी है। (४) 'स्वच्छन्दता-वाद' के (अ) 'सैद्धान्तिक' तथा (ब) कलात्मक, दार्शनिक एवं साहित्यिक—दो प्रमुख पक्ष हैं। 'सैद्धान्तिक स्वच्छन्दता वाद' (सन् १६००-१६१६) में प्रकृति एवं मानव-जीवन को उनके संकीर्ण वातावरण से मुक्ति मिली और 'रीति'-परंपरा की अतिशय नियम-बद्धता और पाण्डित्य का विरोध हुआ। दार्शनिक क्षेत्र में वह 'तत्व-ज्ञान' के अर्थ में नहीं आया है और न भक्ति-आन्दोलन की तरह ही। वह पिछले काल के सामान्य दृष्टिकोणों के विपरीत दृष्टि-कोण के प्रदर्शन-रूप में ही अभिव्यक्त हुआ है। सबमें अव्यक्त चेतन-प्रवाह देखने की 'सर्व-चेतनवादी प्रवृत्ति' भी है। 'अनन्त' की खोज और वेदना-मय खिन्नता के साथ भावनाओं का 'दैवीकरण' भी हुआ है। कलात्मक क्षेत्र में एकान्त, व्यक्तिगत प्रतिभा की व्यंजना हुई है, रूढ़ि-पालन नहीं हुआ। कविता के संगीत एवं चित्रांकण में अभि-

व्यक्त होने वाली कल्पना-शक्ति इसकी कसौटी है। भाषा की 'अर्थ और नाद-व्यंजना, से रूप-सृष्टि की जाती है। आधुनिक काव्य एक जाग्रत स्वप्न है। साहित्यिक क्षेत्र में भाषा, छन्द एवं काव्य-भाषा में परिवर्तन हुआ। समृद्ध भाषा-शैली, तत्सम-शब्द-प्रयोग, ध्वनि-व्यंजक शब्द, चमत्कार-पूर्ण, आलोकमय विशेषण, चित्रमय ध्वन्यात्मक पद-विन्यास, भाव-वाचक संज्ञाओं का आधिक्य गीति-वाद, भारतीय 'ध्वन्यालोक' द्वारा अनुमोदित' 'ध्वनि' की अपेक्षा पाश्चात्य काव्य-समीक्षा की व्यंजना का ग्रहण हुआ है। यह संगीतमय भाषा में रचित 'आध्यान्तरिक काव्य' और 'व्यक्तिवाद' या सार्वजनिक समानाधिकरण का साहित्य है।

डा० श्रीकृष्णलाल ने भी किसी कठोर दाशनिक मान्यता या एक ही परिलक्षक प्रवृत्ति की प्रमुखता को 'छायावाद' की परिभाषा नहीं दी है। वे भी इस काव्य के विद्रोह-तत्व के प्रति सजग हैं।

श्री विश्वम्भर 'मानव' ने अपनी 'महादेवी की रहस्य-साधना' एवं 'सुमित्रानन्दन पन्त' नामक पुस्तकों में 'छायावाद' एवं उसके निर्धारक लक्षणों पर काफी स्पष्टता के साथ विचार किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती लेखकों एवं आलोचकों के मतों का निर्देश करते हुए और उन पर अपनी टिप्पणी भी लगते हुए हुए कहा है कि "प्रकृति में चेतना के आरोप को 'छायावाद' कहते हैं। यह आरोप आलंकारिक रूप में नहीं, वास्तविक ढंग का है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रकृति में चेतना की अनुभूति की प्रतीति पाठक को वर्णन से ही होने लगी! मनुष्य को इस बात में कुछ आनन्द आता है कि वह यह देखे कि जैसे सुख-दुख का अनुभव वह करता है, उसी प्रकार और सभी करें। दूसरे शब्दों में प्रकृति में मानवीय भावों का आरोप भी छायावाद है" (सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० ६१)। आगे इसे और स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि "छायावाद को समझने के लिए तीन बातों को स्मरण रखना चाहिए। (१) छायावाद

का सम्बन्ध केवल प्रकृति में जीवन से है। (२) इसमें प्रकृति चेतन मानी जाती है। (३) प्रकृति में वे सारी भावनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं, जो नर-नारी के जीवन में किसी भी प्रकार उत्पन्न हो सकती है।" उनके मत से 'मानवीकरण' एक प्रकार का आरोप-मात्र होता है और 'छायावाद' में कवि को प्रकृति वैसी लगती है। मानव' जी ने जहाँ छायावादी काव्य में आये प्रकृति वर्णन के पक्ष-विशेष को उभार कर उसे सर्वाधिक स्पष्टता दी, वहाँ उन्होंने 'छायावाद' को एक ऐसे विषय—वस्तु के कठघरे में बन्द कर दिया कि छायावादी काव्य की मुख्य देनें और उसका नवनीत—भाग ही इस नाम के अन्तर्गत सन्दिग्ध हो उठा और बाहर की वस्तु सिद्ध हो गया। स्वयं 'निराला' जी की 'जुही की कली' कविता भी इसके बाहर चली गयी और 'प्रसाद', 'पन्त' आदि की 'कामायनी' और अन्य प्रसिद्ध स्फुट कविताएँ 'छायावाद' से बहिर्गत हो गयीं। 'छायावाद' केवल दर्शन की भूमि पर प्रकृति को लेकर लिखा गया एक 'वाद'—विशेष ही नहीं है, वह एक सप्राण जीवन—दृष्टि और नवीन भाव-मुखी मूल्यांकन के लिए स्वतः उठा हुआ एक स्वाभाविक एवं व्यापक आन्दोलन है। कुछ विषयों अथवा वर्ण्य—वस्तुओं की सामान्यता के आधार पर उसे अलग कर 'वाद' की कठोर शृंखलाओं में बाँधना ठीक नहीं। वह तो कला के माध्यम से जीवन का ऐसा उच्छलन-उद्वेलन है जो जीवन जगत् के प्रति कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों के रूप में, ताज़ी कल्पनाओं के साथ प्रस्फुटित हो उठा है। छायावादी कवियों ने विषय की कठोर सीमाएँ कभी भी निर्धारित नहीं की। उन्होंने अपने दृष्टिकोण एवं चिन्तन-भावन की नवीनता पर अवश्य बल दिया है। जो भी विषय जिस कवि के सामने आया, उसने उसकी बाह्य रूप रेखा को छोड़, उसके अन्तर में प्रविष्ट हो, निजी कल्पना-एवं अनुभूति पर आश्रित, अपने स्वकीय मूल्यांकन को ही प्रमुखता दी है। यही 'स्वकीयता', यही 'आत्मनिष्ठता' इस धारा की कविताओं का प्रमुख एवं मात्र 'निर्धारक' तत्व माना जाना चाहिए।

श्री शम्भूनाथ सिंह ने अपनी सद्यः-प्रकाशित 'छायावाद युग' नामक पुस्तक में कदाचित् सबसे पहले इस युग की समाजशास्त्रीय एवं भारतीय समाजवादी भूमि पर व्याख्या करते हुए इसकी विविध प्रवृत्तियों का यथावत् निरूपण किया है। "भारत में भी पूँजीवाद के विकास के साथ व्यक्तिवाद का विकास हुआ और हिन्दी-कविता में छायावाद के रूप में व्यक्तिवादी भावनाएँ अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुईं" (पृष्ठ० ५२)। उनके मत से "छायावाद-युग की काव्य-धारा में विविधता के बीच भी एक सामान्य एकता—स्वातंत्र्य-प्रेम-के दर्शन होते हैं। यह उस मुक्तिकामी चेतना का ही परिणाम है। उन्होंने छायावादी काव्य को मध्यवर्गीय चेतना, उसके परिवर्त्तनों, उसकी सफलता-असफलता, आशा-निराशा, यथार्थ और भ्रान्तियों की अभिव्यक्ति का काव्य कहा है। उन्होंने 'छायावाद' को 'इतिहास के आलोक में देखा है।' बँगला एवं अँगरेजी की क्रिया-प्रतिक्रिया को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने 'छायावाद' की सदसत्प्रवृत्तियों का पता लगाते हुए, उसे राष्ट्रीय-सांस्कृतिक परंपरा के मेल में रखकर देखने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इसके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक स्रोतों को खोजा है, पर इसे उनकी मात्र प्रतिकृति मानकर नहीं। वे 'छायावाद' के 'मरण' या 'पतन' में विश्वास नहीं करते। वे आजके स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद, प्रगतिवाद, प्रतीकवाद (प्रयोगवाद) एवं 'नूतन रहस्यवाद' को छायावाद का ही विकास रूप मानते हैं। उनके मत से छायावाद की 'व्यक्तिवादी' प्रयोगवादी और कल्पनावादी प्रवृत्तियों की परिणति आज के प्रयोगवादी काव्य में हो रही है; उसी तरह उसकी यथार्थोन्मुख और वैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ या तो 'वादी' और साम्प्रदायिक बनकर तथाकथित 'प्रगतिवाद' का बिल्ला लगाये हुए सामने आ रही हैं अथवा युगानुरूप नवीन मोड़ लेकर स्वच्छन्दवादी यथार्थवाद के रूप में दिखलाई पड़ रही हैं। छायावाद का आध्या-

त्मिक आदर्शवाद ही आज मानवतावादी आदर्शवाद बनकर कहीं अरविन्दवादी 'नूतन रहस्यवाद' और कहीं गांधीवादी 'सर्वोदयवाद' के रूप में पल्लवित हो रहा है।" छायावाद का विद्रोह काव्य-भाषा में परिवर्तन, अभिनव छन्द-विधान, राष्ट्रीयता और देश-भक्ति, गीत और प्रगीत-मुक्तक ('ओड'), प्रकृति-चित्रण और व्यक्तिवादी स्वच्छन्दता, दार्शनिकता, नीतिमत्ता और बौद्धिकता तथा अङ्गरेजी और बँगला की कविता के प्रभाव के रूपों में दिखलाई पड़ा। श्रीशम्भूनाथ जी ने 'स्वच्छन्दतावाद' को 'छायावाद' की प्रमुख प्रवृत्ति मानी है, जो काव्य का जीवन से सम्बन्ध जोड़ता है। स्वानुभूति-चित्रण को उन्होंने 'व्यक्तिवादी अन्तर्मुखीनता' के रूप में ग्रहण किया है। इस प्रकार "छायावाद-युग में आत्मगत कविता का प्रचलन हो गया। कविता में सर्वत्र कवि के मनोवेगों की तीव्रता उभर कर आने लगी। कवि समस्त विश्व को अपने 'अहं' के माध्यम से देखने लगा। अतः उसकी कविता का केन्द्र 'मैं' बन गया। ऐसा हुए बिना कविता का आत्माभिव्यंजक होना सम्भव नहीं था।" आत्माभि-व्यंजकता, उनके मत से, दो रूपों में आयी:-(१) बाह्य वस्तु को अपनी भावना और कल्पना के रंग से रँगकर और (२) अपने ही सुख-दुख, आशा-निराशा, संघर्ष और तत्व-चिन्तन को स्पष्ट रूप से व्यक्त करके। सन् १९३० के बाद दूसरी प्रवृत्ति प्रधान रही। श्रीशम्भूनाथ सिंह ने छायावादी काव्य का उसके यथा-स्थित रूप में व्याख्या-विश्लेषण किया है। उसमें उन्होंने किसी निश्चित दर्शन-पीठिका के आरोप का आग्रह भी नहीं किया है, किसी ऐसी प्रवृत्ति की ओर अत्यन्त उभार एवं अवधारण के साथ अंगुलि-निर्देश नहीं किया जिससे साधारण पाठक छायावादी काव्य का मूलाधार मानकर चले सके।

इसी स्थल पर एक वस्तु की ओर निर्देश कर देना कदाचित् प्राकरणिक ही होगा। सं० १९८३ वि० (सन् १९२६ ई०) में

श्री शान्ति-प्रिय जी द्विवेदी के संपादकत्व में साहित्य-सदन, चिरगांव, झांसी से 'परिचय' नामक एक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ था। इसके साथ 'सुनिए' शीर्षक से श्री पं० केशवप्रसाद जी मिश्र की सं० १९८१ की लिखी भूमिका भी सम्बद्ध है। इसमें सर्वश्री 'प्रसाद', रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, मुकुटधर पाण्डेय, सियारामशरण गुप्त, लक्ष्मण सिंह 'मयंक', 'नवीन', 'निराला', पं०गोविन्दवल्लभ पन्त, सुमित्रानन्दन पन्त, 'वियोगी', लक्ष्मीशंकर मिश्र 'श्याम', भगवती चरण वर्मा एवं 'द्विज'—इन १४ कवियों की कविताएँ संग्रहीत हैं। यह छायावादी कवियों का कदाचित् सर्वप्रथम संकलन है। इसमें 'मिश्र' जी की भूमिका पठनीय है। वह 'छायावाद' पर भी बड़ा मार्मिक संकेत प्रदान करती है। "वह (छायावाद) शरीर नहीं आत्मा है, छायावान् नहीं छाया है, डीलडौल नहीं लावण्य है...देखिए, आनन्दवर्धन क्या कहते हैं—

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्तु वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तद्प्र‌सिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥'

अनाहूत एवं स्वयमागत शब्दों के द्वारा उसी 'लावण्य' अथवा 'छाया' का निर्देश करना छायावाद की कविता है। इस निर्देश की कोई निर्दिष्ट शैली नहीं हो सकती, हृदय में वेदना चाहिए, वह स्वयं अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ लेती है।" 'छायावाद' को 'छायावान' "शरीर" एवं 'डीलडौल' न कहकर 'छाया', 'आत्मा' और 'लावण्य' बताकर, 'मिश्र' जी ने उसी तत्व की ओर संकेत किया है जिसे 'प्रसाद' जी ने 'आन्तरिक सौन्दर्य', 'छाया' और 'विच्छित्ति' नाम से संकेतित किया है। वस्तु की बाह्य रूप-रेखा सभी के लिए सामान्यतया एक-सी होती है, किन्तु उसके अंतः-सौन्दर्य की अनुभूति द्रष्टा की अपनी-अपनी क्षमता एवं अपने-अपने संस्कारों पर निर्भर होती है। इसी से उसकी अभिव्यक्ति की शैली भी एक-सी और निर्दिष्ट नहीं हो सकती। यह

'हृदय की वेदना', संवेदनशीलता का ही दूसरा नाम है। लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता, प्रतीक-विधान, उपचार-वक्रता आदि उसी छाया-स्वरूपिणी आन्तरिक सुन्दरता को अभिव्यक्ति देने के विविध प्रयास हैं। 'लक्षणा' के सहारे जो मूर्त्त-विधान होता है, उसकी प्रभाव-सृष्टि भी किसी सूक्ष्म अनुभूति की प्रेरणा से होती है, कोई सूक्ष्म अनुभूति ही उसका साध्य होती है। 'ध्वनि' का लक्ष्य भी अंगना के अङ्ग-सौन्दर्य से अतिरिक्त झलमलानेवाला लावण्य ही होता है। किसी गुण या प्रभाव-विशेष को सघन रूप से अनुभूत कराने के लिए ही प्रतीक का विधान किया जाता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि आन्तरिक सौन्दर्य या 'स्वानुभूति' (क्योंकि आन्तरिक सौन्दर्य सर्वथा निर्दिष्ट विषय नहीं, वह व्यक्ति-व्यक्ति की अपनी अनुभूति अथवा स्वानुभूति पर निर्भर होता है।) को ही प्रस्थान-बिन्दु मानकर लिखी गयी आत्म-निष्ठ कविता छायावाद कही जानी चाहिए। अब तक हमारे छायावादी कवियों ने लाक्षणिकता, व्यंजनात्मकता, प्रतीक-विधान एवं उपचार-वक्रता की प्रणाली से ही स्वानुभूति की अभिव्यक्ति की है, इसलिए छायावादी काव्य की शैली का निरूपण करते समय विचारकों ने इन्हीं का विवेचन किया है। मेरी समझ से यह अनिवार्यतः आवश्यक नहीं कि उक्त रीतियों से ही (जो न्यूनाधिक रूप से एक दूसरे में समाविष्ट भी हैं) स्वानुभूति-मूलक आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यंजना हो। यह कवि के निजी प्रौढ़त्व, भाषाधिकार एव कला-सामर्थ्य पर निर्भर होता है कि वह आन्तरिक सौन्दर्य-सम्बन्धी अपनी सूक्ष्म पकड़, भाव-प्रभाव संवेदन को दूसरों तक कितनी सफलता एवं यथा-तथ्यता के साथ संप्रेषित कर सकता है। छायावादी कवियों पर लगाये गये कल्पना-मोह के आरोप का भी यहीं निराकरण हो जाता है। जब कवि अपने अभिव्यक्तव्य को स्थूल 'अप्रस्तुतों' द्वारा ठीक-ठीक निरूपित नहीं कर पाता, तो वह कल्पना

के रूप-विधान का सहारा लेता है। यह कल्पना उसी आन्तरिकता को अधिक से अधिक सम्वेद्य एवं सम्प्रेष्य बनाने के लिए नियोजित होती है। इस कल्पना से भाव की पृष्ठभूमि के जगमगा उठने के कारण, यदि कोई मुख्य लक्ष्य को छोड़कर उसी को देखने में रुक, उलझ जाय तो इसमें कवि बेचारे का क्या दोष! इर प्रकार की ऐन्द्रियता को यथा-साध्य परितृप्ति देते हुए आनेवाले भावाभिव्यंजन को हेय ही सिद्ध करना' साहित्य-मर्मज्ञ की 'श्री' नहीं 'विश्री' होगी।

प्रश्न हो सकता है कि क्या ध्वनि, लक्षणा, प्रतीक, और उपचार-वक्रता आदि का प्रयोग इस युग के पूर्ववर्ती काव्य में नहीं हुआ है? यदि हुआ है तो फिर छायावादी काव्य की विशेषता क्या रही? छायावाद की विशेषता स्वानुभूति-मूलक अन्तः-सौन्दर्य की अभिव्यंजना है, जिसके लिए लक्षणा, व्यंजना, प्रतीक और उपचार वक्रता नियोजित हुए हैं।

फिर प्रश्न हो सकता है कि जब ये साधन आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यंजना के उपादान हैं तो पूर्ववर्ती काव्य में आये इनके प्रयोगों में क्या आन्तरिक सौन्दय की व्यंजना नहीं हुई है? प्रश्न यहाँ यह नहीं है कि आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति इसके पूर्व कभी हुई ही नहीं है। इसका अर्थ यही है कि किसी वस्तु के वर्णन में कवि की दृष्टि प्रधानरूप से या तो वस्तु—निष्ठ होती है या व्यक्ति—निष्ठ या आत्म-निष्ठ। 'वस्तु' वर्णन को यही आत्म-निष्ठता या 'वस्तु' के स्थान पर कवि के अन्तर में वस्तु द्वारा समुत्थित अनुभूति के चित्रण की प्रमुखता ही 'छायावाद' की प्रधान विशेषता है। वस्तु निष्ठता और आत्म निष्ठता के बीच बहुत स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। दोनों ही एक दूसरे में कुछ न कुछ समाई रहती हैं। एक से दूसरे की सर्वथा शून्यता की स्थिति नहीं खोज निकाली जा सकती। ऐसी दशा में आत्म-निष्ठता एवं वस्तु-निष्ठता का विभाजन प्राधान्य-प्रामुख्य की दृष्टि से ही किया जायगा। छायावादी कवियों ने 'वस्तु' से अधिक 'वस्तु'

द्वारा जगायी गई आन्तरिक अनुभूतियों को ही प्राथमिकता दी है। सभी कवियों ने स्वानुभूति या वस्तु की आन्तरिकता के प्रकाशन पर बल दिया है। 'छायावाद' के प्रारम्भ कर्त्ता 'प्रसाद' और 'प्रसाद'-काव्य के मर्मी श्री केशव प्रसाद जी मिश्र ने भी इसी तत्व पर जोर दिया है, फिर इसीको छायावादी काव्य की मूल-विशेषता, आत्मा क्यों न स्वीकार की जाय ? इसी प्रकार ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता प्रतीक विधान, उपचार-वक्रता, मानवीकरण, नादार्थ-व्यंजना आदि की प्रवृत्तियाँ छायावाद का कला-शरीर कही जायँगी। आध्यात्मिक सिद्धान्त या दर्शन अथवा वर्ण्य-विषय के आधार पर 'छायावाद' का परिभाषा-निर्धारण छायावादी काव्य के व्यापक प्रसार को तो खण्ड-खण्ड कर ही देगा, एक ही कवि में भी खण्ड करने पड़ जायँगे। इतना करने पर सबसे बड़ी कठिनाई तो यह उपस्थित होगी कि इस प्रकार की क्रिया-प्रक्रिया से जो अंश छायावादी काव्य के नाम से प्राप्त होगा, वह अत्यन्त स्वल्प होगा। इस प्रकार बनायी गई संकुचित परिभाषा छायावाद के प्रति स्वयं सामान्य पाठक की धारणा के भी सर्वथा विपरीत होगी। वैसा संस्कार न होने से जिस दुर्बोधता और अपरिचित निरालेपन के कारण, सामान्य पाठक ने इस काव्य का छायावाद नाम ग्रहण किया, वह मूलतः इसी आन्तरिक सौन्दर्य के चित्रण की वृत्ति, अथवा 'वस्तु' के स्थान पर, वस्तु के प्रति कवि की 'स्वानुभूति' का निरूपण ही है। व्यापक एवं जीवित साहित्य में 'वस्तु' नहीं, 'वस्तु' की अभिव्यंजना में कवि की मुख्य दृष्टि के आधार पर ही विभाजन और वर्गीकरण हो सकता है। अन्यथा 'मानस' और 'राम-चन्द्रिका' तथा कृष्ण-भक्ति-काव्य' और 'रीति-काव्य' का विभेद कठिन हो जायगा। साहित्य में कोई भी 'दर्शन' एक व्यापक 'दृष्टिकोण' के अंग-रूप में ही आ सकता है और दृष्टिकोण वही ग्राह्य है जो जीवन-समष्टि को भेंट सके। 'छायावाद' भी साहित्यकार का एक अन्तर्वादी 'दृष्टिकोण' ही है, जहाँ से वह समस्त जीवन, उसके यावत् रूप-व्यापार को 'स्वानुभूतिक' अभिव्यंजना प्रदान करता है।

छायावादी कविता में भाव-तत्व एवं विषय-गत प्रवृत्तियाँ

मनीषियों ने कहा है—'तस्मात् भावो हि कारणम्'। भाव एवं मनोवेग का जीवन की भाँति साहित्य में भी बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इनके सहारे हम किसी के व्यक्तित्व एवं चरित्र का अध्ययन एवं परिचय प्राप्त करते हैं। भारतीय 'रस-शास्त्र' में 'भवन्तीति भावाः' मानकर मन में होनेवाले विकारों को 'भाव' माना गया है। पाश्चात्य विचारणा के अनुसार तो 'भाव' का स्थान भी 'Mind' (मस्तिष्क) ही है, पर भारतीय परम्परा में 'बुद्धि' से अलग करते हुए उसका स्थान 'हृदय' कहा जाता है। मनोवेगों की परिभाषा के विषय में पाश्चात्य-मनोविज्ञान-वेत्ताओं में परस्पर मत-भेद रहा है। विलियम जेम्स ने तो मनोवेगों के बाह्य लक्षण को ही प्रमुख माना है और वह कहता है कि 'हम अपने को दुखी इसलिए अनुभव करते हैं कि हम चिल्लाते हैं, भयभीत इसलिए होते हैं कि अपने को काँपते पाते हैं।' इस प्रकार उसने इनको अपने आप चलनेवाली एक स्वाभाविक क्रिया माना है। मैग्डूगल उन्हें स्वाभाविक वृत्तियों का भाव-पक्ष मानता है और इस प्रकार स्वाभाविक वृत्ति के ज्ञान एवं क्रिया-पक्ष से उसका विभेद बतलाता है। शैंड ने मनोवेग को भाव का एक अंग माना है। उसके अनुसार 'भाव' स्थायी एवं 'मनोवेग' अपेक्षाकृत अस्थायी एवं उठने-मिटनेवाले होते हैं। एक ही भाव में कई-कई मनोवेग हो सकते हैं। 'भाव' एवं 'मनोवेग' मन में ही उत्पन्न होते हैं। वे मन की 'उद्वेजित' दशा हैं, जो किसी बाहरी या भीतरी उत्तेजना से उत्पन्न होकर मन की दशा में परिवर्तन ला देते हैं और हमें सक्रिय बनाते हैं। भावों के बिना हम क्रियाशील नहीं हो सकते। इनमें 'इच्छा-शक्ति' का मिश्रण अनिवार्य है। जीवन-जगत् में जब भी कोई वस्तु हमारे सम्पर्क-संघर्ष में आती है तो सर्वप्रथम उसके प्रति हमारे मन में कोई-न-कोई मनोवेग अथवा भाव उत्पन्न होता है। वे भाव सुखात्मक या दुःखात्मक अथवा आकर्षक या

विकर्षक दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में निवृत्ति या प्रवृत्ति कोई भी इसका परिणाम हो सकती है।

साहित्य में भी भावों का बड़ा महत्व माना गया है। रस-सम्प्रदाय के अनुसार तो 'भाव' ही काव्य का मूलाधार है। 'स्थायी' एवं 'संचारी भावों' के रूप में उनके विभेद भी किये गये हैं और 'अनुभाव' एवं 'सात्विक भावों' में उनके बाह्याभिव्यंजकों एवं लक्षणों को समाविष्ट कर लिया गया है। भाव-विहीन काव्य कभी भी उच्च कोटि के काव्यों में परिगणित नहीं हो सकता। साहित्य के अन्य रूपों में जहाँ अन्तःकरण की अन्य वृत्तियाँ प्रधान होती हैं, वहाँ कविता में भाव ही प्रधान माने गये हैं। इन्हीं भावों की प्रधानता के कारण काव्य का प्रभाव सार्वभौम एवं सार्वजनीन माना गया है। भाव किसी न किसी मात्रा में अनुकूल परिस्थिति पाने पर अवश्य जग जाते हैं, किन्तु बौद्धिक विषयों के प्रति सभी की रुचि तथा आकर्षण होना अनिवार्य नहीं। भाव मन के सामान्य धर्म हैं और उनकी संख्या भी सीमित ही है; यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि मानवता एवं विश्व के विकास के साथ उनकी संख्या सदैव वही रहेगी। उनमें न्यूनाधिक अन्तर भी आ सकता है, किन्तु यह अन्तर इतने शीघ्र सम्भव नहीं और परिवर्तन की यह गति इतनी मन्द एवं दुर्ज्ञेय है कि युगों के बाद उनका ज्ञान सम्भव हो सकता है। जहाँ बुद्धि एवं विचारों के क्षेत्र में मानव-मानव में आकाश-पाताल का अन्तर हो सकता है, वहाँ भावों के क्षेत्र में वे बहुत कुछ समान हैं; यह दूसरी बात है कि इन भावों के प्रेरक या उद्बोधक कारण, व्यक्ति-व्यक्ति के साथ भिन्न-भिन्न हों, किन्तु इन भावों की प्रकृति एवं उनके रूप प्रायः एक-से होंगे। प्रेम, करुणा, उत्साह, दया, घृणा, हास्य आदि के रूप मूर्ख-पंडित, बालक-वृद्ध एवं स्त्री-पुरुष के साथ लगभग एक से ही होते हैं। अनेकानेक आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक विषमताओं के रहते हुए भी इन्हीं भावों के सुनहले तार प्राण-प्राण में अनुस्यूत होकर मानव-समष्टि को बाँधे हुए हैं। यही कारण है कि हृदय-

वीणा के एक तार पर हुआ आघात अपनी झंकार से दूसरी हृत्तंत्रियों को भी स्पन्दित कर देता है)

(यह भी विवेचना एवं विवाद का विषय हो सकता है कि कवि काव्य की रचना भावाविष्ट दशा में करता है अथवा भावावेश के शान्त होने पर, उसकी स्मृति अथवा कल्पना द्वारा आनीत उसकी सहजानुभूति के समय। आदि कवि वाल्मीकि के प्रथम श्लोक 'मा निषाद प्रतिष्ठां...' की रचना वधिक-द्वारा काम-मोहित क्रौंच के वध के देखते ही तत्काल हुई थी। अंग्रेज कवि 'वर्डस्वर्थ' तीव्र भावों के उद्वेलन को काव्य मानते हुए भी उसे 'शान्त क्षणों में भुक्तभावों की स्मृति' कहता है। हमारे यहाँ के काव्य-शास्त्र-सम्बन्धित 'सम्प्रदाय' 'पाठक' अथवा 'सामाजिक' की दृष्टि से काव्य का विवेचन तो करते हैं किन्तु स्वयं कवि के पक्ष से उसके द्वारा काव्य-रचना की प्रक्रिया पर लगभग मौन ही हैं। 'वक्रोक्ति-वाद' ने कवि-व्यापार पर कुछ संकेत अवश्य किया है, पर वह भी कविता-रचना के अन्तष्पक्ष को न ग्रहण करके कला-पक्ष अथवा अभिव्यंजना-शैली पर ही केन्द्रित है। वस्तुतः भावावेश अथवा भुक्तभोगी की दशा में काव्य की रचना नहीं होती। पहले कहा जा चुका है कि काव्य अथवा कला की रचना-प्रेरणा विना कल्पना अथवा सहजानुभूति के नहीं हो सकती। भोग-दशा में भुक्त-भोगी भावों की निविड़ सीमा में इस प्रकार आबद्ध रहता है कि उसकी विधायक अथवा रचनात्मक शक्तियाँ प्रसुप्त रहती हैं। यह दूसरी बात है कि भावों की आवेशावस्था एवं उसकी पुनरावृत्ति में बहुत ही स्वल्प क्षणों का अन्तराय हो, किन्तु यह पुनरावृत्ति-प्रक्रिया होती अवश्य है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि अनुभूति (भावों एवं विचारों के ज्ञान की सुप्तावस्था) काव्य के लिए आवश्यक एवं प्राथमिक उपादान है, क्योंकि विना अनुभूति के कल्पना द्वारा पुनरानयन होगा किसका?

(इटली के प्रख्यात दार्शनिक एवं 'अभिव्यंजना-वाद' के प्रस्थापक क्रोचे महोदय ने 'वस्तु' अथवा 'भाव' को महत्व न देकर 'आकृति' अथवा 'रूप'

(सहजानुभूति में कल्पना द्वारा पुनरानीत रूप) को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। फिर भी उक्ति के प्रकट होने के पूर्व किसी न किसी रूप में उन्हें भी भावों की सत्ता माननी पड़ी है। वास्तव में 'सहज-स्फूर्त्त' ज्ञान अथवा 'स्वयं-प्रकाश ज्ञान' से काव्य की उत्पत्ति माननेवाले क्रोचे महोदय 'आकृति को महत्व देते हुए भी साधन या प्रेरक के रूप में ही सही, 'वस्तु' को अनावश्यक नहीं ठहरा सकते। वे कवि के मन में आये कला-रूप एवं पाठक या श्रोता के मन में 'ग्राहिका कल्पना' द्वारा प्रस्तुत रूप को ही मुख्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्राकृतिक पदार्थ एवं स्वयं कला-कृतियाँ भी उसी कला-रूप को पुनः व्यक्त करने के साधन-मात्र हैं। वास्तव में क्रोचे महोदय की इन उक्तियों में इतना सत्य तो निहित ही है कि काव्य-रचना की कवि के मानस में चलनेवाली प्रक्रिया बड़ी रहस्य-मय होती है। 'प्रसाद' जी काव्य को 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' मानते हुए' जहाँ 'आत्मा की मनन शक्ति' की उस 'असाधारण अवस्था' का उल्लेख करते हैं 'जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती हैं, वहाँ उनका लक्ष्य भी काव्य-रचना के समय कवि की वही रहस्य-मय विशिष्ट मुद्रा है। भाव ही कविता का 'प्रस्थान-बिन्दु' एवं भाव ही उसका 'लक्ष्य' है। भाव-चर्वणा द्वारा रसास्वाद लेना पाठक के पक्ष की क्रिया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कविता विचार-शून्य होती है अथवा उसमें विचारों की आवश्यकता ही नहीं। विचार, बुद्धि-प्रसूत होते हैं, किन्तु भावों और विचारों के बीच कोई स्पष्ट एवं वैज्ञानिक विभाजक-रेखा खींचकर काव्य-रचना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार जीवन, राग एवं बुद्धि-रूपी दोनों पदों के बिना पंगु है, उसी प्रकार काव्य या कविता भी विचार-शून्य होकर सर्वथा गति-विहीन है। बिना भाव के विचार को प्रेरणा एवं सामग्री नहीं मिलेगी और बिना विचार के भाव को निश्चय नहीं प्राप्त होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि विचारों को भावों का सहगामी एवं पोषक होना पड़ता है। छायावादी रचनाओं में भाव, विचार-पुष्ट एवं बुद्धि-नीत है, वरन् यों कह सकते हैं कि छायावादी

अभिव्यक्ति में आये भावों का जन्म ही एक सांस्कृतिक द्वन्द्व एवं बौद्धिक मन्थन के फल-स्वरूप हुआ है)

'छायावादी' रचनाएँ अनुभूति-प्रधान कही जाती रही हैं। 'छायावाद' के प्रस्थापक कवि श्री 'प्रसाद' जी ने 'छायावाद' की विशेषताओं में 'स्वानुभूति की विवृति' का भी एक स्थान माना है। वे काव्य की 'अनुभूति' को 'मनन-शील आत्मा की असाधारण अवस्था' मानते हैं। उनका कथन है कि 'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूति की अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया गया।' 'प्रसाद' जी के अनुसार बाह्य वस्तु और उसकी बाह्य वर्णना या ऊपरी रूप-रेखा का स्थूल वर्णन, छायावाद की मुख्य प्रवृत्ति नहीं, उसमें 'स्वानुभूति'-तत्व की ही प्रधानता है। प्रश्न होता है कि 'स्वानुभूति' से यहाँ क्या तात्पर्य है? कवि द्वारा उसकी कृति में जो भी निहित है वह सब एक प्रकार से उसीकी अनुभूति तो है—उसी के मानस के माध्यम से तो आया है, फिर 'स्वानुभूति' एवं 'परानुभूति' से क्या तात्पर्य? यहाँ 'स्वानुभूति' से तात्पर्य 'निजी अनुभूति' अथवा 'व्यक्तिगत अनुभूति' से है, जो 'जन-सामान्य अनुभूति' या लोक-भूमि पर लायी गयी अनुभूति के साथ विभेद का वाचक है। 'अनुभूति' तो मानस-गत वस्तु है ही, उसके साथ 'स्व' का विशेषण इसी विशेष विभेद का द्योतक है। कवि किसी 'वस्तु' या 'व्यापार' से प्रभा-वित होकर अपने भीतर जैसा अनुभव करता है, वह उसीको अधिक से अधिक चित्रात्मक बनाकर लक्षित अथवा अभिव्यक्त करना चाहता है। इस पथ पर वह 'रीति'-कालीन पद्धति या रस-शास्त्रीय' सरणि पर चल कर कुछ 'संचारियों', 'अनुभावों' एवं 'सात्विकों' द्वारा 'स्थायी भाव' का संकेत कर रस-विशेष के साँचे में अपनी उक्तियों को नहीं ढालना पसन्द करता। वह 'जब, जहाँ, जो बात, जिस रूप से अनुभव करता है उतना ही कहना चाहता है; हाँ, अभिव्यक्ति की चित्रात्मकता एवं नाटकीयता का उसे

अवश्य ध्यान रहता है। चातक एवं श्यामा के समक्ष अपनी चोट को वह निम्न पंक्तियों में कह देना अधिक पसन्द करेगा और यह सोचने को न रुकेगा कि इसमें 'विभावानुभाव-संचारि-संयोगाद्र-सनिष्पत्तिः' के चौखटे पूरे-पूरे सध रहे हैं अथवा नहीं—

'चातक की चकित पुकारें,
श्यामा ध्वनि परम रसीली!
मेरी करुणार्द्र कथा की,
टुकड़ी आँसू से गीली!!'
('आँसू')

दुर्दिन में उमड़ पड़नेवाले आँसू के प्रति वह अपना मर्मोद्गार व्यक्त कर देगा, चाहे उसमें 'स्थायी भाव' पुष्ट हुआ हो अथवा 'संचारी-भाव' का ही संचार होकर रह गया हो—

'जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति-सी छायी।
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आयी।' ('आँसू', 'प्रसाद')

छायावादी कवि एक 'स्थायी भाव' के भीतर जितनी भी भावनाओं का अनुभव करेगा, वह उन्हें पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर देगा। वह सोचता है कि भावों के तारों से प्राणि-समष्टि परस्पर आबद्ध है। यदि वे सत्यता के साथ व्यक्त होंगे तो उनकी प्रभविष्णुता निस्सन्देह है। भावों के अन्तर्गत आयीं इन्हीं ऋजु-कुटिल विविध भावनाओं की लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता से युक्त अभिव्यक्तियों को, 'रस-वाद' के सम्प्रदायवादी एवं शास्त्रीयतावादी आलोचकों ने बौद्धिक व्यायाम कहा है। अनुभूति एवं अभिव्यक्ति को दो बतानेवाले एवं क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' के विरोधी समालोचक भी इन अभिव्यक्तियों से अनुभूतियों को अलग न कर सके और उन्हें 'ऊटपटांग उक्तियाँ' कह गये। ऐसा कहते हुए मेरा यह मन्तव्य नहीं है कि चींटी से

लेकर पहाड़ तक की कोटि वाले सभी छायावादी-नाम-धारी कवियों ने अनुभूति एवं अभिव्यक्ति की उस समरस-अवस्था को अधिगत कर लिया है, जहाँ अनुभूति और अभिव्यक्ति भाव एवं शैली अथवा वस्तु और रूप इस प्रकार एकाकार हो जाते हैं कि दोनों को अलग करना असम्भव हो जाता है। इन अनुभूतियों का अपनी प्रतिभा के सहारे सहजानुभूति में जो कवि जहाँ तक परिणत कर सका है वह वहीं तक सफल है।

प्रश्न होता है कि काव्य एवं कला में सामूहिक अनुभूति प्रधान है अथवा व्यक्तिगत ? काव्य की रचना करने वाला कवि एक 'व्यक्ति' ही होता है। वह समूह से जीवन अवश्य लेता है, पर उसी तरह जैसे एक ही रसा से रस ग्रहण करने वाले सहकार, बेल एवं बबूल विभिन्न रूप-रस-युक्त-फल प्रदान करते हैं। फिर कविता का सामाजिक या सामूहिक प्रभाव कैसे सिद्ध हुआ ? उत्तर है, जैसे विभिन्न रूप-रंग वाले होकर भी मानव मानव ही हैं। उनके हृदय के राग एक-से हैं, अतः इन रागों पर आधृत उक्तियाँ भी पर-संवेद्य हैं। जीवन और जगत् का क्षेत्र बड़ा विशाल है। केवल गिनी-गिनाई सामान्य-जन-सुलभ भावनाओं का पिष्ट-पेषण ही रस-सिद्ध एवं श्रेयस्कर काव्य नहीं। शब्द-झंकार की एक ही लीक को पीटते-पीटते 'वीर-गाथा-काल' मर गया और भक्ति-युग आया। उसकी भी दैन्य-प्रदर्शन एवं पापियों की श्रेणी में अग्रगण्य स्थान पाने की प्रतियोगिता मृत हो चली और 'रीति-काल' की रीति-रस-वादी परम्परा चली, जिसने 'भारतेन्दु-युग' में आकर अपनी वंशी को और बजने में असमर्थ पाया। 'द्विवेदी-युग' के आदर्श एवं नीति-वाद ने भी जब मानव-हृदय-रागिनी को स्पन्दित कर सकने में अपने को अक्षम अनुभव किया तब 'छाया-वाद' की अन्तर्वादिता ने व्यक्ति-हृदय के आलोड़न-विलोड़न को सामने उपस्थित करने का द्वार खोल दिया। उसने बाह्य वस्तुवत्ता के वर्णन के स्थान पर उसकी प्रतिक्रिया में उठने वाली आन्तरिक वृत्तियों को महत्व दिया, वस्तु की ओर कम दृष्टि दी और भावों को ही प्रधानता दी। 'छायावादी' कवि ने अनुचित 'अहं' नहीं, आत्माभिव्यंजन

को प्रधानता दी। 'आत्माभिव्यंजन' कला का जीवन है, विष नहीं।

छायावादी कवि अपनी स्फुट कविताओं एवं गीतों में 'स्वयं' 'आश्रय' ही है। 'आश्रय' की अनुभूतियों का चित्रण ही छायावादी काव्य में प्रमुख है, 'आलम्बन' का चित्रण अपेक्षाकृत न्यून। भारतीय रसवादी परंपरा के अनुसार 'साधारणीकरण' कवि एवं काव्य का लक्ष्य है। काव्य में सदैव 'विशेष' के भावों का चित्रण होता है और 'विशेष' के भावों एवं चेष्टाओं के वर्णन के द्वारा ही पाठक एवं श्रोता के हृदय में भावों अथवा रसों का संचार होता है। यदि एक के स्थान पर एकाधिक व्यक्तियों अथवा समूह का चित्रण होगा, तो वह व्यक्ति-समूह भी विशेष ही होगा। 'साधारणीकरण' कवि-व्यापार है अथवा पाठकों के मन में होने वाली मानसिक प्रक्रिया-विशेष, यह भी एक विवाद-ग्रस्त विषय है। आचार्य 'शुक्ल' जी ने इसका जैसा विवेचन किया है और जिस प्रकार छायावादी एवं रहस्यवादी काव्य का उत्पाटन किया है, उसे देखते तो ऐसा लगता है कि जैसे वे इसे प्रमुख रूप से कवि-पक्ष से होने वाला एक व्यापार मानते हैं। मेरी समझ में ऐसा अवश्य है कि कवि जो कुछ चित्रित करता है उसी के आधार पर ही पाठक में भावों का 'साधारणीकरण' होता है; किन्तु यह क्रिया होती है पाठक एवं श्रोता के ही मन में और कवि स्वयं इस क्रिया के लिए प्रत्यक्षतः उत्तरदायी नहीं, पाठक के अपने निजी संस्कार एवं उसकी व्यक्तिगत योग्यता-अयोग्यता ही इसके लिए उत्तरदायी है। छायावादी कवि अपनी निजी अनुभूतियों का ही चित्रण सीधे अपने गीतों एवं कविताओं में करता है, अपने से पूर्ववर्ती कवियों की भाँति वह अपने व्यक्तित्व को परोक्ष में नहीं रखता। उसका यह विश्वास है कि जैसे 'राम' या 'कृष्ण' या अन्य ऐतिहासिक या पौराणिक पात्रों के भावों एवं कथनों का प्रभाव श्रोताओं एवं पाठकों पर पड़ता है, उसी प्रकार यदि उसकी अनुभूतियों एवं भावनाओं में भी मार्मिकता एवं सचाई है तथा वह सुन्दर-प्रभविष्णु ढंग से व्यक्त है, तो उसका प्रभाव भी पाठकों पर अचूक होगा। भाव-संवेदन एवं प्रभाव-सृष्टि के

लिए वह मात्र 'प्रख्यात' अथवा 'उच्चकुलोद्भव' नायक के ग्रहण करने का समर्थक नहीं। गीत-प्रधानता होने से इस काव्य में 'शृंगार', 'करुण', 'वीर' एवं 'रौद्र' की प्रचुरता है। बीभत्स, भयानक, अद्भुत, एवं हास्य, के लिए क्षेत्र उपयुक्त नहीं। शान्त-रस के लिए भी गीत का वातावरण एवं प्रकृति अनुकूल नहीं। आज के जीवन के विषम एवं तज्जनित अनुभूति के विरोध-मय होने से रसों की शास्त्रीय रस-मैत्री भी सर्वत्र नहीं।

'छायावाद' एवं वेदना की विवृतिः—छायावादी काव्य में 'वेदना' 'पीड़ा', 'व्यथा' एवं 'टीस' आदि का पर्याप्त वर्णन हुआ है। 'प्रसाद' की वेदना का माधुर्य एवं उसकी मस्ती उनके गीतों में ही नहीं, नाटकों में भी जहाँ उपयुक्त अवसर मिलता है, छलकते रहते हैं। 'पंत' के 'ग्रन्थि' की उत्पत्ति ही 'व्यथा' को लेकर हुई है। निराला में दार्शनिकता एवं विचार-गाम्भीर्य के पुट में कवि के व्यक्तित्व से तो रचनाओं में वेदना का विस्तार नहीं हो सका है, किन्तु अतीत की स्मृति एवं दीनता के वर्णन के स्थलों पर वह अवश्य झाँक उठी है। श्रीमती महादेवी वर्मा का तो सम्पूर्ण कृतित्व ही वेदना का वरदान है। ये छायावादी कवि सभी बड़े ही भावुक तथा संवेदनशील रहे हैं। जीवन की परिस्थितियों की चोटों एवं तत्कालीन समाज में फैले असंतोष, दमन, एवं पीड़ा ने उन्हें दुःख एवं दुःखी जीवन के प्रति अत्यन्त सहानुभूति-पूर्ण बना दिया है। इस वेदना विवृति के मूल में कई कारण हैं, जिनके निम्नलिखित विभाग किये जा सकते हैं:—

१—व्यक्तिगत जीवन का असन्तोष।

२—समाज में फैले व्यापक उत्पीड़न के प्रति असन्तोष।

३—दुःखवादी जीवन-सिद्धान्तों की मान्यता में विश्वास (बौद्ध-दर्शन का आकर्षण)

इन कवियों के व्यक्तिगत जीवन में आये हुए संघर्ष एवं जटिल परिस्थितियों ने पीड़ा एवं पीड़ितों के प्रति एक प्रकार का प्यार पैदा कर दिया

है। श्रीमती महादेवी वर्मा तो वेदना-दृष्टि को ही जीवन की सच्ची दृष्टि मानती हैं। महादेवीजी लिखती हैं कि 'जिस प्रकार जीवन के उषा-काल में मेरे सुखों का उपहास-सा करती हुई विश्व के कण-कण से एक करुणा की धारा उमड़ पड़ी है, उसी प्रकार संध्याकाल में जब लम्बी यात्रा से थका हुआ जीवन, अपने ही भार से दबकर कातर क्रन्दन कर उठेगा, तब विश्व के कोने-कोने में एक अज्ञात-पूर्व सुख मुस्करा पड़ेगा।' 'प्रसाद' जी का पारिवारिक जीवन भी बड़ा ही विपद्ग्रस्त तथा चिन्ता-पूर्ण रहा। एक-एक करके सभी गुरुजनों की स्नेह-छाया उनके सिर से उठ गयी और तरुणाई में ही गृहस्थी का पहाड़-सा बोझ उठाना पड़ा। मेरे कहने का यह कदापि अर्थ नहीं कि 'प्रसाद' जी या छायावाद के अन्य कवियों का काव्य उनके जीवन के पराभव की अभिव्यक्ति है। 'प्रसाद' जी स्वयं अपने जीवन में एक आनन्दवादी समरसता के उपासक, शैव गृहस्थ थे, और उन्होंने अपनी बिगड़ी गृहस्थी को सँभालने में अपने यौवन की आहुति दे दी। 'पन्त' जी का जीवन भी बड़ी विषमताओं से बीता है और एकाधिक बार उन्हें भयंकर रीति से रोगों का सामना करना पड़ा है। उनका चिर-कुमार-जीवन उनकी जीवन-साधना का एक पक्ष ही है। 'निराला' जी की जीवन-कथा यदि वाणी द्वारा व्यक्त की जा सकती तो पत्थर भी रो पड़ते। बाधाओं कठिनाइयों एवं अभावों की वेदी पर अपनी पत्नी एवं पुत्री की आहुति चढ़ा कर आज भी वह कर्म-वीर जीवन-संघर्ष में ध्वस्त होते हुए हिमालय की भाँति निखर रहा है। 'बच्चन' का जीवन भी बहुत सम-विषम लहरों पर तैरता रहा है। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि अपने अभावों का चीत्कार ही सच्चा काव्य है, किन्तु काव्य करनेवाले कवि के जीवन की परिस्थितियों का प्रभाव तो उनकी वाणी पर पड़ता ही है और उसके वाणी के इस प्रसाद को अस्वीकृत या तिरस्कृत करना सरस्वती का अपमान है। उनके प्रेम एवं विरह के गीत, साहित्यिक दृष्टि से अस्पृश्य नहीं। उनमें जीवन का परिष्कार एवं औदात्य ही व्यक्त हुआ है

छायावादी कवियों के समय हमारी सामाजिक परिस्थिति भी कुछ कम जटिल नहीं रही हैं। प्राचीन जड़ मान्यताओं एवं आधुनिकता की नवीन समस्याओं के संघर्ष में समाज का संघटन भी जर्जरित हो रहा था। व्यक्ति का जीवन यांत्रिक समाज के अतिभार से आक्रान्त हो रहा था। स्वतंत्रता के अभाव में हमारे राजनीतिक, आर्थिक, एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी एक घुटन व्याप्त थी। व्यक्ति के 'अन्तर' एवं 'बाह्य' में ही इतना अन्तर आ गया था कि व्यक्ति-चेतना विद्रोहमुखी हो उठी थी। अपने ही समाज में असमानता एवं 'वर्गवाद' की ऐसी भित्तियाँ खड़ी हो गयी थीं कि मानव-मानव के बीच की सहज समानता रो उठी थी। ऐसी परिस्थिति में पल कर वाणी की साधना करने वाला कलाकार समाज में संध्या के धुएँ-से चतुर्दिक् फैले हुए पाषाणी दमन एवं कुहासे-सी छाई हुई उदासी को वाणी न देता तो करता क्या ? 'प्रसाद' जी के अनुसार 'विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है।' " 'यथार्थवाद' के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने कहा है कि 'यथार्थवाद' की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और अनुभूति आवश्यक है।" श्री सुमित्रा नन्दन पन्त के 'परिवर्त्तन' में आये विधवा, दीन एवं पीड़न के चित्र तत्कालीन सामाजिक पीड़ा की ही अभिव्यक्तियाँ हैं।

छायावादी कवियों ने वेदना और दुःख को सर्वथा परित्याज्य ही न मान कर जीवन में उसके वरदान एवं विभूति का भी मूल्यांकन किया है। महादेवी जी का कथन है कि "दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये विना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुःख को सबको बाँट कर—विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना

में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है—कवि का मोक्ष है।" महादेवी वर्मा की रचनाओं में दुःखानुभूति की अधिकता है। वेदना की साधिका महादेवी जी तो 'नीहार' में अपने आराध्य में भी पीड़ा ढूँढेंगी, क्योंकि पीड़ा में ही उन्हें उनका आराध्य मिला है।—

"पर शेष नहीं होगी यह,
मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा,
तुममें ढूढूँगी पीड़ा॥"

(जीवन को विरह का जलजात बना देने वाली श्रीमती महादेवी वर्मा की निम्नलिखित पंक्तियाँ उनकी भावना की प्रतीक हैं—

"विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात।
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास॥
अश्रु चुनता दिवस इसका, अश्रु गिनती रात"

\+ \+ \+

"मैं नीर भरी दुःख की बदली" ('नीरजा')

कवियित्री को अन्धकार इसलिए प्रिय है कि प्रिय उसी में प्राप्त होते हैं—

"ओ नभ की दीपावलियो
तुम चुपके-से बुझ जाना।
मेरे प्रियतम को भाता
तम के परदे में आना।"

कवियित्री अमरों से इसी पीड़ा की विभूति के बल पर तुलना कर बैठती हैं—

"मेरी लघुता पर आती, जिस दिव्य लोक को व्रीड़ा।
उनके प्राणों से पूछो, क्या पाल सकेंगे पीड़ा॥"
('नीहार')

कविवर 'पन्त' ज्योत्स्ना में भी दुःख की छाया का दर्शन करते हैं—

"जग के दुख-दैन्य शिखर पर,
यह रुग्णा जीवन - बाला।
रे, कब से जाग रही वह
आँसू की नीरव माला॥" ('पल्लव')

'निराला' जी 'तरंगों के प्रति' कविता में हाहाकार का स्वर सुनते हैं—

"बहती जाती साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी,
दग्ध चिता के कितने हाहाकार।
नश्वरता की थीं सजीव जो कृतियाँ कितनी
अबलाओं की कितनी करुण पुकार।" ('परिमल')

छायावाद के आरम्भिक कवियो में 'बुद्ध'-दर्शन के प्रति एक आकर्षण दिखलाई पड़ता है। 'प्रसाद' जी की "अरी वरुणा की शान्त कछार" और 'निराला' जी की 'अणिमा' में आयी "भगवान् बुद्ध के प्रति" कविताएँ देखी जा सकती हैं, जो क्रमशः शैव तथा अद्वैतवादी रहे हैं।

अपनी परवशता पर 'प्रसाद' जी कहते हैं—

'सुख अपमानित करता-सा,
जब व्यंग्य हँसी हँसता है।
चुपके से तब मत रो तू,
यह कैसी परवशता है।'
('आँसू')

महाकवि 'पन्त' दुःख को आत्मा का नित्य भोजन मानते हैं—

'दुख इस मानव आत्मा का,
रे, नित का मधुमय भोजन।
दुख के तम को खा-खा कर,
भरती प्रकाश से वह मन।'
(गुंजन—'अवलंबन' शीर्षक कविता)

डा० रामकुमार वर्मा अम्बर के प्रति कहते हैं—

'और पत्तों का पतन जो हो गया कुछ अचर से चर।
देखकर मैंने कहा अः यह निशा का मौन अम्बर॥
शान्त है, जैसे बना है, सन्त, साधु, निरीह, निश्छल।
किन्तु कितने भाग्य इसने कर दिये हैं नष्ट निर्बल॥'

('चन्द्रकिरण')

'अशान्त' कविता में डाक्टर साहब ने फूल के विकास में धूल की परिणति का मर्म ढूँढ़ लिया है—

'धूल हाय बनने ही को,
खिलता है फूल अनूप;
वह विकास है मुरझा जाने,
ही का पहला रूप।' ('रूप-राशि')

यदि गीतों के नायक श्रीशम्भूनाथ सिंह भी विपण्ण क्षणों में रूप और सौन्दर्य की तृषा में चीख उठते हैं, 'मुझे जिन्दगी का सहारा न मिलता, बहा जा रहा हूँ किनारा न मिलता' तो तरुण कवि श्रीप्रेम-प्रकाश गौतम मरुभूमि में गुनगुनाते हैं कि—'मैं किसी की आँख का तारा नहीं हूँ, जी रहा हूँ इस विजन में मैं अकेला।' इस भीषण 'जग-प्रवाह' पर राह भूले डा० वर्मा की निम्न पंक्तियों में उनके दुःखपूर्ण चिन्तन का स्वर सुनिये—

'मैं भूल गया यह कठिन राह!'

\+ + + +

'वह निर्झर मेरे ही समान किस व्याकुल की है अश्रु-धार?
देखा, यह मुरझा गया फूल, जिसको मैंने कल किया प्यार।
रवि-शशि ये बहते चले कहाँ, यह कैसा है भीषण प्रवाह?
मैं भूल गया यह कठिन राह।'

('चित्र रेखा')

'जीवन-संगीत' में श्री 'दिनकर' जी ने समय की रेतपर कितनों ही के

पानी उतर जाने के सत्य को देख लिया है—

'सुन्दरता का गर्व न करना, ओ स्वरूप की रानी—
समय रेत पर उतर गया कितने मोती का पानी।'

श्रीभगवतीचरण वर्मा को भी जीवन-सरिता की नश्वर लहरों का बोध है—

'जीवन-सरिता की लहर-लहर,
मिटने को बनती यहाँ प्रिये!
संयोग क्षणिक, फिर क्या जाने,
हम कहाँ और तुम कहाँ प्रिये!'

('मधुकण')

'शेष' कविता में निराला जी ने 'प्रिय' के कथन की स्मृति से जीवन की नश्वरता एवं अस्थिरता का रूप उपस्थित किया है—

'कह रहे थे हाथ में यह हाथ ले,
एक दिन होगा, जब न हूँगा मैं।' ('परिमल')

'नरेन्द्र' के 'उस पार के मिलन' का विश्वास भी खो गया है—

'यदि मुझे उस पार के भी मिलन का विश्वास होता।
सत्य कहता हूँ न मैं असहाय या निरुपाय होता॥
किन्तु क्या अब स्वप्न में भी मिल सकेंगे।
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे॥'

('प्रवासी के गीत')

'एकान्त संगीत' में बच्चन जी की निराशा के सघन स्वर प्रस्फुरित हुए हैं, पर 'सूनेपन' को 'सुखमय' बनाने की यांचा का लोप नहीं हुआ है—"सुखमय न हुआ यदि सूनापन!" 'मधुबाला' में 'बच्चन' की 'इस पार-उस पार" कविता में अपनी निरपराधता एवं नियति की कठोरता की अनुभूति कितनी सघन है—

"कुछ भी न किया था जब उसका, उसने मग में काँटे बोये।
वे भार रख दिये कंधों पर, जो रो-रो कर हमने ढोये॥

अब तो हम अपने जीवन भर, उस क्रूर-कठिन को कोस चुके।
उस पार नियति का मानव से, व्यवहार न जाने क्या होगा ॥"

कवि को 'चक्की पर चक्कर खाते' ऊब-सी होने लगती है और आगे अपना और 'निर्माण' नहीं चाहता, पर आशा और जीवन की शक्ति के स्वर भी मिलते हैं, जहाँ 'क्षत शीश मगर नत शीश नहीं।' कवि मुर्दे से भी विष का स्वाद पूछता है। 'प्रसाद', डा० रामकुमार वर्मा, बच्चन, भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र आदि कवियों में नियति-वाद का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। 'प्रसाद' की 'नियति'-सम्बन्धी धारणा में क्रमशः विकास हुआ है। 'प्रसाद' जी नियति को मानते हुए भी उसी पर बैठे रहकर अकर्मण्य बनने का उपदेश नहीं देते, वे कर्म का संदेश देते हैं। नियति तो प्रयत्न करने पर भी असफल हो जाने पर आत्मा के संतोष का एक आश्रय है। वे बौद्धों के 'क्षणिक वाद' को मानते हुए भी क्षणिकता में शाश्वत सौंदर्य का दर्शन करते हैं। 'प्रसाद' जी आनन्दवाद के उपासक हैं। 'कामायनी' में आकर उनकी 'नियति' दोषों के लिए दंड भी देती है। वे श्रद्धा की सहायता से इच्छा, ज्ञान तथा कर्म के समन्वय द्वारा समरसता में आनन्द-प्राप्ति के समर्थक थे। उनका संदेश है—

'ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सकें,
यह विडम्बना है जीवन की।'

('कामायनी'—'रहस्य-सर्ग')

'प्रसाद' जी की दुःख की परिभाषा भी स्मरणीय है—

'दुःख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात।
एक परदा यह झीना नील,
छिपाये है जिसमें सुख गात ॥'

+ + +

'विषमता की पीड़ा से व्यस्त,
हो रहा स्पन्दित विश्व महान्।
यही दुःख-सुख विकास का सत्य,
यही भूमा का मधुमय दान॥'

('कामायनी')

यही नहीं, नूतनता' के प्रति 'प्रसाद' जी की धारणा भी स्मर्तव्य है—

'पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक।
नित्य नूतनता का आनन्द
किये है परिवर्तन में टेक॥'

सौंदर्याकर्षण एवं प्रेमाभिव्यक्ति भी 'छायावादी' कवियों की एक प्रधान प्रवृत्ति है। प्रेम की व्यापकता, उसके विविध रूपों एवं उसकी उपादेयता की द्योतक सहस्रों पंक्तियाँ लिखी गई हैं। इसकी इसी प्रमुखता के कारण पाश्चात्य विभाजन की दृष्टि से कुछ समालोचकों ने इसे 'स्वच्छन्दतावाद' की कोटि में वर्गीकृत किया है। पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार रोमांटिसिज्म' में प्रेम-वृत्ति का बड़ा महत्व है। 'छाया-वादी' कवियों ने अपनी प्रेम-गत कुण्ठाओं को परिष्कृत भावना एवं श्रेय-मय चिन्तन का उदात्त स्तर प्रदान किया है। यह प्रेम, संयोग एवं वियोग, अपने दोनों पक्षों में प्राप्त है। लौकिक होते हुए भी इन वर्णनों की विशेषता यही है कि इनमें शारीरिक पुकार नहीं, उच्च आत्मिक सोपानों का तृप्ति-कारी प्रकाश है। 'प्रसाद' का 'प्रेम-पथिक' एवं 'पन्त' की 'ग्रन्थि', प्रेम-पीड़ा एवं उदात्त अनुभूतियों की मणि-मंजूषा है। 'प्रेम-पथिक' की प्रेम-सात्विकता अत्यन्त उच्चश्रेणी की है।

संयोग-पक्ष की शुद्ध श्रेणी में आनेवाला अंश 'छाया-वादी' काव्य में अपेक्षाकृत कम है। रूप एवं सौंदर्य-चित्रण-सम्बन्धी उक्तियाँ भी या

तो विरह-काल में स्मृति के रूप में उपस्थित हुई हैं अथवा 'पूर्वानुराग' के रूप में। शुद्ध संयोग-पक्ष का रूप 'कामायनी' में उस स्थल पर बड़े सुन्दर रूप में उपस्थित हुआ है, जब 'मनु' और 'श्रद्धा' सहसा एक दूसरे को देखते हैं। आदि-पुरुष एवं आदि-मानवी के इस प्रथमाकर्षण का सचित्र वर्णन हिन्दी ही नहीं, विश्व-साहित्य में अपने ढंग का अनूठा होगा। 'मनु' को देखते ही 'श्रद्धा' का आकर्षण स्वतः प्रश्न-मुखर हो उठता है—

'कौन तुम ? संसृति जलनिधि-तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?
मधुर विश्रान्त और एकान्त—
जगत् का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणा-मय सुन्दर मौन
और चंचल मन का आलस्य।'

सहसा जीवन की अज्ञात डगर पर अप्रत्याशित रूप से मिले, अपने आकर्षण-केन्द्र को 'संसृति-जलनिधि के किनारे तरंगों द्वारा फेंकी एक मणि' कहना कितना भावमय है! जिस प्रकार एक व्यक्ति अज्ञात एवं निर्जन समुद्र-तट पर पहुँच कर सहसा एक मणि देखकर चकित हो उठता है और उस सूनेपन को प्रभा-रश्मियों से अभिषिक्त देखकर उसके नेत्र आश्चर्य-चकित होकर मुग्ध-भाव से उसी में उलझ जाते हैं, उसी प्रकार 'मनु' के किरण-मंडित मुख-मंडल को देखकर श्रद्धा आश्चर्य, आकर्षण एवं मुग्धता से अभिभूत हो उठती है। अपना हृदय टटोलने पर पाती है—अरे, यात्रा की चिर-श्लथता कहाँ छू-मन्तर हो गई ? एकाएक मन में विश्राम कहाँ से उँडेल उठा !! इस एकान्त में, इस व्यक्ति को पाकर तो लगता है, जैसे मेरे लिये इस जटिल जगत् का सारा रहस्य ही सुलझ गया !!! 'मनु' के मुख-मण्डल पर करुण भाव की एक सुन्दर अभिव्यक्ति

जैसे मौन हो उठी हो, जैसे चंचल मन अलसा उठा हो !!

फिर इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न में ही देनेवाले 'मनु' कह उठते हैं—

'कौन हो तुम वसन्त के दूत,
विरस पतझर में अति सुकुमार !
घन-तिमिर में चपला की रेख,
तपन में शीतल मन्द बयार !
नखत की आशा-किरण समान,
हृदय के कोमल कवि की कान्त—
कल्पना की लघु लहरी दिव्य,
कर रही मानस-हलचल शांत।'

'मनु' ने एकाएक देखा, अरे, इस आगन्तुक ने तो पतझर-से मेरे शुष्क जीवन में वसन्त के आगमन का संदेश दे दिया। 'श्रद्धा' का स्वर क्या पतझर की सूनी-निष्पत्र डालों में अपने पंचम वसन्त की श्री भरनेवाली कोयल की बोल से कम मतवाली थी ! गूढ़ अंधकार में रास्ता भूले पथिक 'मनु' के सम्मुख जैसे विद्युत्-प्रकाश में आगे का पथ प्रशस्त हो उठा !! एकांगी, तपस्या-पूर्ण जीवन की ग्रीष्मता में सुखानुभूति की शीतल-मन्द बयार बह उठी !! निराश व्यक्ति की आशा को फिर से जीवित कर देने वाली नक्षत्र-किरण की भाँति तन्वी 'श्रद्धा' के दर्शन-मात्र से 'मनु' के हृदय की सारी क्षुब्धता शान्त हो गई, जैसे कोमल-हृदय, कवि की कान्त-कल्पना की छोटी-सी लहर लहरा उठी हो !!! 'श्रद्धा' एवं 'मनु' के प्रश्नों में क्रम से 'पुंल्लिंग' एवं 'स्त्रीलिंग'-वाची उपमान आदि-पुरुष एवं आदि-स्त्री के उपयुक्त ही हैं, जब कि दोनों के मन में अपने किसी अन्य सजातीय का स्मृति-संस्कार धुँधला पड़ गया हो।)

'झरना' की अधिकांश कविताएँ प्रेम-मूलक हैं। 'प्रसाद' जी के काव्य में प्रेम की गूढ़ व्यंजना एवं उसकी अन्तरानुभूतियों का इतना मर्मस्पर्शी वर्णन हुआ है कि उन्हें बहुत से विचारक 'प्रेम का कवि, ही कहते हैं।

'प्रसाद' जी जीवन में प्रेम के प्रसार एवं उसकी शक्ति के कायल थे। इसी से उनका प्रेम न तो वायवीय ही है और न मात्र शारीरिक। उनके प्रेम की उद्भावना में धरती एवं स्वर्ग का सुखद आलिंगन प्राप्त होता है। 'प्रसाद' जी के प्रेम-वृक्ष का मूल जीवन के ठोस धरातल में फैला हुआ है और उसकी चोटी आध्यात्मिकता के दिव्य आकाश में लहरा उठी है। शक्ति-शिव, प्रकृति-पुरुष एवं 'इदम्' से 'अहम्' के समन्वय द्वारा समरसता में आनन्द लेनेवाले 'प्रसाद' जी ने प्रेम को मनुष्य के जीवित व्यक्तित्व की एक सबल एवं व्यावहारिक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। वे संसार के त्याग नहीं, भोग के समर्थक थे; पर साथ ही उसमें आसक्ति नहीं। इसी तटस्थता के कारण उनके अभाव एवं वेदना में भी एक मादकता, उल्लास एवं वैभव है। सौन्दर्य, उल्लास, एवं मादकता से युक्त उनका यौवन और प्रेम का चित्रण बड़ा ही आल्हादक एवं उद्वेलक होता है। वे सुन्दरता के मर्म के पारखी थे और प्रेम के तत्व के ज्ञाता। इसी से उनके चित्रों के मूल में अभाव एवं बेदना होने पर भी वे एक अननुभूत-पूर्व मस्ती से ओत-प्रोत कर देते हैं। इसका कारण है रूप-सौन्दर्य के केवल बाह्य ही नहीं उसके आन्तरिक पक्ष से उनका चेतना-गत परिचय। तभी उनकी कल्पना सदैव रूप-सौन्दर्य के व्यापक चित्र उपस्थित करने में समर्थ होती है और उनके अंकन का चित्र-पट विशाल होता है। लज्जानत किन्तु गर्वीले सौन्दर्य का चित्र कितना उदात्त, रस-मय, साथ ही सटीक है। इसमें रूप की सीमा नहीं, उसकी असीमता का आनन्द है—

> "तुम कनक किरण के अन्तराल में,
> लुक छिपकर चलते हो क्यों?
> नत-मस्तक गर्व वहन करते,
> यौवन के घन रस-कन ढरते,
> हे लाज-भरे सौंदर्य बता दो
> मौन बने रहते हो क्यों?" ('चन्द्रगुप्त' नाटक)

प्रेम एवं सौन्दर्य की यह सुनहली झाँकी उनकी मादक कल्पना का प्रसाद है। पाठक अपनी स्थूल मांस लता से बहुत ऊपर, भावों की पाँखों पर उड़ता हुआ-सा अनुभव करने लगता है। प्रेम एवं सौन्दर्य की अपनी निजी अनुभूतियों पर भी 'प्रसाद' की भावुक कल्पना अपना स्वर्ण-कुंकुम बिखेर देती है। प्रेम-सौन्दर्य के प्रति पाठकों के दृष्टि-क्षितिज का यही प्रसार कला का पावन लक्ष्य है। 'प्रेम पथिक' में 'प्रसाद' जी प्रेम के जिस सात्विक, पावन एवं श्रेय-मय सन्देश के साथ आये, आगे की कृतियों में उसमें निरन्तर निखार आता गया। उसकी भावुकता भी क्रमशः जीवन की कल्याण-मयी गम्भीरता में परिणत होती गयी। 'प्रसाद' की 'कामायनी' में अभिव्यक्त प्रेम का उज्ज्वल रूप, जीवन की स्वस्थ-ठोस भूमि पर प्रेम की महत्ता का निर्मल निदर्शन है। यहाँ प्रेम का भावुक फल जीवन-फल की सरसता में परिपक्व हो उठा है। 'प्रसाद' की प्रेम-भावना किशोरता की निर्मल-निश्छल वीथी से होता हुआ, वयोवृद्धि के साथ परिपाक प्राप्त करता गया और जीवन को अपनी शिखा से जगमगा देनेवाली लौ उसमें अकंपित होती गयी है। इन 'छायावादी' कवियों ने रीतिकालीन दुर्दशा से बाहर लाकर प्रेम का वस्तुतः जीवन में फिर से मूल्यांकन किया है। इन्होंने समाज और उसके संघटन में प्रेम की रचनात्मक महत्ता की भारतीय गृहों में पुन-स्थापना की। 'प्रसाद' की 'कामायनी' की 'श्रद्धा' संसार में मात्र प्रेम का सन्देश लेकर आती है। आँखों देखते ही उसका प्रारम्भ भले हो जाय, पर पीठ फिरते ही मिट जाने वाला भ्रामरी लोभ तो यह कभी नहीं है—

"यह लीला जिसकी विकस चली,
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला।
उसका सन्देश सुनाने को—
संसृति में आयी वह अमला॥"

छायावादी कवियों ने प्रारम्भ में जहाँ प्रेम को रीतिकालीन पंकिलता, एवं मांसल अतिरेक से ऊपर उठाकर उसके उच्चादर्शों की पावन झाँकी

करायी वहाँ उन्होंने उसे जीवन भूमि से दूर आदर्शों की शून्य डाल पर नहीं बिठाया, वरन् उसकी लोकोपयोगिता एवं मानवता के स्वरूप-विकास के लिए उसके प्राकृतिक प्रयोग की महत्ता का भी निरूपण किया। 'प्रसाद' के प्रेम का आदर्श 'पाने' से अधिक 'देने' में निहित है—

'पागल रे वह मिलता है कब?
उसको तो देते ही हैं सब!'

('लहर')

प्रेम के आगे जीवन पुलकित होकर सिसकी भरता है, मृत्यु नृत्य करती है, अमरता खड़ी मुस्कराती है! प्रेम को जगाते हुए 'प्रसाद' जी कहते हैं—

'वह मेरे प्रेम विहँसते
जागो मेरे मधुवन में।'

('आँसू')

सौन्दर्य -चेतना का उज्ज्वल वरदान है।' वह शरीर तक ही सीमित नहीं। 'प्रसाद' जी की प्रेम-भावना को यदि आध्यात्मिकता का यह सहारा न मिलता, तो वे ऐसे उदात्त चित्र कभी न अंकित कर पाते।

प्रेम-गत लज्जा का चित्र कितना रूप-मय साथ ही सूक्ष्मतायुक्त है। यदि सौन्दर्य के सोने में लज्जा की सुगन्ध न होती तो उसका बहुत-सा आकर्षण उड़ जाता। वह मतवाली सुन्दरता के पग में नूपुर-सी लिपट कर मनुहार करती है—

'लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंजन-सी लगती।
कुंचित अलकों-सी घुँघराली,
मन की मरोर बनकर जगती॥'

यही नहीं, वह चंचल-किशोर सुन्दरता की प्रहरी भी है—

'चंचल किशोर सुन्दरता की,
मैं करती रहती रखवाली।)

मैं वह हलकी-सी मसलन हूँ,
जो बनती कानों की लाली ॥'

निरालाजी की शृङ्गार-क्षेत्र की तटस्थता अपूर्व है। 'सरोज के प्रति' कविता इसका उच्च प्रमाण है। 'सूर्पणखा' के रूप चित्र का एक नमूना निराला' जी की तूलिका से देखने योग्य होता है। दाम्पत्य-प्रेम की जो पूत गरिमा उनके काव्य में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'पन्त' का 'प्रेमी' अपनी कल्पना में ही सन्तुष्ट हो जाता है, पर 'निराला' का 'प्रेमी' उसे जीवन की सक्रिय भूमि पर सतेज बनाता है। 'कामायनी' के पूर्व 'प्रसाद' का 'प्रेमी' अपने अतीत विलास की स्मृति में व्यथित है, पर 'निराला' का प्रेम-भाव सदैव सामाजिक मर्यादा की भूमि पर भास्वर हुआ है। रूप-चित्रण में निराला' संस्कृत के कवियों की शैली की ओर प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं। उनके रूप-चित्रण में आलंकारिता के साथ-साथ एक स्वस्थ पौरुष की दृष्टि भी निहित है—

'मीन-मद फाँसने की वंशी-सी विचित्र नासा—
फूल-दल-तुल्य कोमल लाल ये कपोल गोल,
चिबुक चारु और हँसी बिजली-सी,
योजन-गन्ध-पुष्प-जैसा प्यारा मुख-मण्डल यह
फैलते पराग दिङ्मंडल आमोदित कर—
खिंच आते भौंरे प्यारे।
देख यह कपोत-कंठ—
बाहुवल्ली, कर सरोज—
उन्नत-उरोज पीन, क्षीण कटि—
नितम्ब-भार, चरण सुकुमार,
गति मन्द-मन्द,
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का
देवों-भोगियों की तो बात ही निराली है।'

यद्यपि इस रूप-चित्रण में 'प्रसाद'-सा काल्पनिक प्रसार नहीं, यह अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत अतः सीमित है, किन्तु प्रकृति के सुषमा-संभार से यह भी सजीव है। 'जुही की कली' कविता उनकी शृंगाराभिव्यक्ति का श्रेष्ठ नमूना है।

'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला' आदि छाया-वादी कवियों के सौन्दर्य में ऐन्द्रियता का वर्णन भी इतनी निस्संग कल्पना से किया गया है कि वह अतीन्द्रिय हो उठा है। छायावादी कवियों ने अधिकांशतः सौन्दर्य को शरीर की सीमा में बाँध कर नहीं देखा है, वरन् उसकी चेतना को ग्रहण कर तद्गत प्रभाव उत्पन्न करने के लिये प्रकृति-सुषमा का सहारा लिया है। 'निराला' का दूसरा रूप-चित्र देखिये—

('प्रिय) यामिनी जागी।
अलस पंकज-दृग, अरुण-मुख—
तरुण-अनुरागी।
खुले केश अशेष शोभा-भार रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे,
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे,
ज्योति की तन्वी, तड़िता द्युति ने क्षमा माँगी।
हेरे उर-पट, फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक, चली मन्द मराल,
गले में प्रिय स्नेह की जयमाल,
वासना की मुक्ति-मुक्ता त्याग में तागी॥

('गीतिका')

'युगान्त' के 'पन्त' के प्रेम एवं रूप-चित्रण में किशोर-भावना की उन्मुक्तता एवं नव यौवन की सहज, कुहल अपेक्षाकृत कुछ अधिक मात्रा में पाई जाती है। 'युगान्त' पुस्तक की निम्न-पंक्तियाँ रूप-चित्रण के उदाहरण—स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं—

'तुम मुग्धा थीं अतिभाव-प्रवण,
बकसे थे अँतियों-से उरोज,
चंचल, प्रगल्भ, हँसमुख उदार,
मैं सजल रहा था तुम्हें खोज।
छनती थी ज्योत्स्ना शशि-मुख पर,
मैं करता था, मुख-सुधा-पान।
कूकी थी कोकिल, हिले मुकुल,
भर गये गंध से मुग्ध प्राण।' ('युगान्त')

यह 'ग्रन्थि' (१९२०) 'उच्छ्वास' और 'आँसू' (१९२१–'२२ई०) में 'पन्त' जी की प्रेम-भावना में लज्जा-संकोच की शालीनता और चिन्तना की प्रधानता थी—

'सरलपन ही उसका मन
निरालापन था आभूषन।' —('उच्छ्वास')

निम्न पंक्तियों की भावना ही 'स्वर्ण-धूलि' की 'बाँध दिया क्यों प्राण, प्राणों से !'—जैसी कविता में और सघन होकर 'प्राणों से विवश फूटते' गानों में गुंजरित हो उठी है और 'उत्तरा' में 'परित्यक्ता' वैदेही-सी निखर कर 'शुभ्र-सुन्दर' हो आई है—

'तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा-स्नान।
तुम्हारी वाणी में कल्याणि,
त्रिवेणी की लहरों का गान।' ('उच्छ्वास')

'पल्लव' में 'पन्त' जी ने मात्र सौन्दर्य को समस्त ऐश्वर्यों का संधान माना है—

'अकेली सुन्दरता कल्याणि,
सकल ऐश्वर्यों की संधान।'

कवि का सौन्दर्य-प्रेम जीवन-दर्शन की कोटि तक पहुँच गया है। वह

सौन्दर्य की खोज को ही जीवन का लक्ष्य समझता है। विश्व-कामिनी की पावन छवि के दर्शन के लिये वह 'करुणावान्' से सदैव प्रार्थी है। इसी प्रकार के 'अविराम प्रेम की बाहों में' 'जीवन-बंधन' को ही 'मुक्ति' मानते हैं और इसी धरती पर ही स्वर्ग को शोभित। 'अप्सरी' एवं 'अनंग'—जैसी कविताएँ 'पंत' जी की सौन्दर्य-चेतना के निरूपण की प्रतीक हैं, उसमें कला का निखार है। 'प्रसाद' जी के सौन्दर्य-चित्रण एवं रूपांकन में रूप-सौन्दर्य की व्यापकता होती है। चित्र इतने विराट एवं प्रकृति के उपकरणों द्वारा इतनी मार्मिकता के साथ चुनकर बने होते हैं कि उनका प्रभाव पाठकों की ग्राहक-कल्पना पर बड़ा आच्छादनकारी होता है। 'प्रसाद' के रूप-वर्णन का यह विशदीकृत आनन्द-मय प्रभाव ही उसका सर्व प्रमुख गुण है। उसमें रूपाकार पर उतना आग्रह नहीं होता, जितना उनके द्वारा एक विशद एवं रंजन-कारी प्रभाव की सृष्टि पर। 'श्रद्धा' के रूप-वर्णन के निम्न संकेत रूपाकृति की दृष्टि से नहीं, अपने दिव्य प्रभाव-सृष्टि के कारण अपूर्व हैं। आचार्य 'शुक्ल' जी ने जिसे 'साम्य की दूरारूढ़ भावना' कहा है, वह 'दूरारूढ़' उन्हें इसीलिये लगी कि 'गोचरता' एवं 'सरूपता' की जिस ससीमता पर उन्होंने प्रायः बल दिया है, उसमें प्रधान नहीं; वरन् 'प्रभाव-सृष्टि' प्रधान है—

'उषा की पहली लेखा कान्त
माधुरी से भींगी भर मोद।
मद-भरी जैसे उठे सलज्ज,
भोर की तारक-द्युति की गोद॥'

मद-भरी, सलज्ज एवं माधुरी से भींगी उषा की पहली कान्त लेखा रूपाकार की नहीं, अपने समस्त विशेषणों द्वारा एक अद्भुत आच्छादक 'प्रभाव' की सृष्टि करती है। अपने 'पल्लव' में ही 'पुरातन-मदन-दहन' द्वारा प्रेम का नवीन संदेश देनेवाले पं० सुमित्रानन्दन पन्त रूप के शील एवं स्वभाव की व्यंजना पर जितना ध्यान देते हैं, रूपाकार या प्रभाव की

सृष्टि पर उतना नहीं। ऐसे स्थलों पर उनका लाक्षणिक वैचित्र्य भी आकार या स्वरूप पर न जाकर उन गुणों का आतिशय्य ही प्रकट करने के लिये नियोजित होता है। 'वाणी' में 'त्रिवेणी की लहरों का गान' सुनना इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। 'पन्त' जी की प्रेम और सौन्दर्य की आन्तरिक स्वानुभूति स्वयं जितनी महत्व-शालिनी है, उतनी उसकी पार्थिव तृप्ति नहीं। फिर भी ऐसी बात नहीं कि सीमित चित्र-सृष्टि पर उनका ध्यान गया ही न हो—

'शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर,
शशि-किरण-सी एक बाल-व्यग्र हो,
देखती थी म्लान मुख मेरा, अचल,
सदय, भीरु, अधीर चिंतित दृष्टि से।'

+ + +

'बाल रजनी-सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के बदन के बीच में,
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछनि के काव्य में।'

+ + +

'अध खुले सस्मित गढ़ों से, सीप-से
(इन गढ़ों में, रूप के आवर्त्त-से—
घूम फिर कर, नाव-से किसके नयन
हैं नहीं डूबे भटक कर, अटक कर,
भार से दबकर तरुण सौन्दर्य के ?)'

+ + +

'यह सुरा का बुलबुला, यौवन, धवल,
चन्द्रिका के अधर पर लटका हुआ,
हृदय को किस सूक्ष्मता के छोर तक'
जलद-सा है सहज ले जाता उड़ा।' ('ग्रंथि')

'अरुण अधरों की पल्लव प्रात,
मोतियों-सा हिलता हिम-हास;
इन्द्र-धनुषी पट से ढक गात
बाल विद्युत का पावस-लास,
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले अंगों का मधु-मास,
तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये प्राणों की प्राण।'
('भावी पत्नी के प्रति'—'पल्लविनी')

'मुग्धा' में यौवन विकास का चित्र—

'मृदूमिल सरसी में सुकुमार
अधोमुख अरुण सरोज समान,
मुग्ध कवि के उर के छू तार,
प्रणय का-सा नव आकुल गान,
तुम्हारे शैशव में सोभार
'पा रहा होगा यौवन प्राण!' ('पल्लविनी')

'पन्त' जी ने प्रेम की व्यावहारिक यथार्थता के स्थान पर उसकी कल्पना में ही तृप्ति की खोज की है। 'भावी पत्नी के प्रति' कविता इसका सफल निदर्शन है। 'निराला' जी के रूप-वर्णन में रूपाकृति-निर्माण पर अधिक ध्यान दिया गया है और उनमें अधिकांशतः परम्परागत 'अप्रस्तुतों' का आलंकारिक शैली में प्रयोग हुआ है। संस्कृतके काव्यों एवं बंगला-साहित्य में आये पुष्पादि 'अप्रस्तुत' भी निराला' जी की कविता में प्रयुक्त हुये हैं। सौंदर्य के गान में वे अपने को भी भूलकर डूब जाना चाहते हैं—

'गाने दो प्रिय मुझे भूलकर, अपनापन अपार जग-सुंदर'

'निवेदन' नामक कविता में 'निराला' जी ने मुक्त-प्रेम एवं आत्म-सुख-वादी (हिडोनिस्ट) प्रवृत्ति का भी संकेत किया है—

'फिर किधर को हम बहेंगे,
तुम किधर होगे !
कौन जाने फिर सहारा—
तुम किसे दोगे ?' ('परिमल')

डा० रामकुमारजी वर्मा ने 'रूप-राशि' में छवि के पान को ही 'दिव्य जीवन' एवं 'आत्माकी तृषित पुकार' कहा है। छायावादी कवियों ने सामाजिक रूढ़ियों की उपेक्षा में मुक्त एवं शुद्ध प्रेम का भी संदेश दिया है। 'प्रसाद' जी का प्रथम दर्शन के प्यार में कितना अटूट विश्वास है—

'मधु' राका मुस्क्याती थी, पहले देखा जब तुमको,
परिचित-से जाने कब के तुम लगे उसी क्षण मुझको।'
—('आँसू')

'पन्त' जी के प्रेम में अन्तःश्लील एवं भावुक संकोच की अधिकता है। इसी से 'ग्रन्थि' के भावना-प्रधान-प्रेमी पर, प्रेम-पथ पर सक्रियता की कमी का आरोप लगाया जाता है। सौंदर्य एवं प्रेम के प्रति छाया-वादी कवियों की इस सामान्य प्रवृत्ति के बीच, संसार को क्षणिक एवं नश्वर समझ कर, जितने क्षण मिलें उन्हें ही, सब कुछ भूल कर भोगनेवाली प्रवृत्ति भी कुछ कवियों में दिखाई पड़ती है। यह वृत्ति फ़ारसी के प्रसिद्ध सुख-वादी (इपीक्यूरियन) उमर-खैयाम से भी प्रेरित एवं प्रभावित है। 'बच्चन' भगवती चरण वर्मा, एवं कवि नरेन्द्र इस धारा से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। 'बच्चन' तो 'मधु-शाला', 'मधु-कलश', 'मधु-बाला' आदि पुस्तकों के लिये 'मधु-वादी' प्रसिद्ध ही हैं, और उन्हें हिन्दी के कितने ही दिग्गज समालोचकों का कोप-भाजन भी बनना पड़ा, पर 'मधुकण' एवं 'प्रेम-संगीत' के लेखक श्रीभगवती चरणजी वर्मा भी इसी धारा के कवि हैं, यद्यपि उन्होंने अपने जीवन के निराश-नश्वर क्षणों को काटने के लिये प्रेम को ही मधु बना लिया है और प्यासे अधरों से प्यासे अधरों का मोल आँका है—

'पल भर जीवन फिर सूना पन,
पल भर तो लो हँस बोल प्रिये !
कर लो निज प्यासे अधरों से
प्यासे अधरों का मोल प्रिये !'

वियोग की शिशिर-रात हिम-जल के रूप में अपने आँसू ढुलका चली ! ज्योत्स्ना भी ठंडी उसासों के साथ दिवस का रक्तांचल छोड़ गई ! प्रकाश की रेखा हँस कर तम में प्रवेश कर रही है ! ऐसी स्थिति में प्रिया को भी एक किरण बन कर जीवन का संदेश देना चाहिये, क्योंकि यौवन की इस मधु-शाला में प्यासों को ही स्थान है—

'यौवन की इस मधुशाला में,
है प्यासों का ही स्थान प्रिये।
फिर किसका भय, उन्मत्त बनो,
है प्यास यहाँ वरदान प्रिये !'

छायावादी प्रेमात्मकता एवं शृंगारिकता के पीछे 'द्विवेदी'—युगीन यौवन-दमन भी सजग है। कवि लोक रुचि की सर्वथा उपेक्षा नहीं ही कर सकता। शृंगार के बहिष्कार के विरोध में उसके समुचित संभावन की प्रवृत्ति स्पष्टतः सक्रिय रही। 'छाया-युगीन' शृंगार 'रीति-काल' के 'पुरातन' एवं स्थूल शृंगार के 'मदन-दहन' पर सूक्ष्म 'अनंग-नूतन' की अवतारणा है—('पल्लव'—पृष्ठ १३०)

वियोग-पक्ष छाया-वादी प्रेम-परक कविता में संयोग की अपेक्षा अधिक सबल है। 'प्रसाद' का 'आँसू' कवि की निगूढ़ विरहानुभूतियों की ही अनुपम देन है। छायावादी काव्य-धारा में 'कामायनी' के बाद 'आँसू' ही सर्वाधिक विश्रुत रचना है। उसके प्रकाशन के पश्चात् छाया-वाद के प्रति लोगों में प्रथम-प्रथम आस्था उत्पन्न हुई। सारी अनुभूतियाँ दुर्दिन पाकर 'अश्रु'-रूप में ढल पड़ी हैं। 'आँसू' प्रेम के मांसल पक्ष की उद्-भूति नहीं, वरन् सौन्दर्य एवं प्रेम के प्रति कवि की आध्यात्मिक स्थिति का

प्रतीक है। जीवन की लौकिक भूमि पर उत्पन्न प्रेम की यह लता धरती से ही रस लेकर आकाश में लहलहा उठी है। 'आँसू' के उद्गार किसी 'अलौकिक' या 'दिव्य सत्ता' के प्रति अर्पित उक्तियाँ नहीं हैं, वरन् प्रेम की अलौकिक भावना ही साधना एवं लगन की ऊँचाइयों पर पहुँच कर एक दिव्य प्रभा से जगमगा उठी है। प्राप्ति एवं मिलन के प्रति कवि का कितना विराट् विश्वास है—

"चमकूँगा धूलि कणों में
सौरभ बन उड़ जाऊँगा।
पाऊँगा तुम्हें कहीं तो
ग्रह-पथ में टकराऊँगा॥" —('आँसू')

कवि को शीतल समीर में भी प्रिय के स्पर्श का अनुभव होता है—

'शीतल समीर आता है
कर पावन परस तुम्हारा।
मैं काँप उठा करता हूँ—
बरसा कर आँसू-धारा॥'

'विरह', प्रेम की जाग्रत् अवस्था मानी गई है। छाया-वादी कविता में मानवीय प्रेम का विरह-पक्ष जितना उदात्त, व्यापक एवं मानवता के त्याग तथा बलिदान की भावनाओं से उज्ज्वल हो उठा है, उतना अन्य किसी भी युग में नहीं। 'भक्ति-काल' का प्रेम अलौकिक है और 'रीति-काल' का दैहिक। इस 'दैहिक' एवं 'अलौकिक' के बीच प्रसूत 'छाया-वादी युग' की प्रेम-विरह-साधना अपने ढंग की अनूठी है। उसमें भावुकता और कल्पना का आरंभिक अतिरेक भी है, पर वह निरन्तर जीवन-मुखी और गम्भीर होता गया है। उसमें मानव-हृदय की उच्चातिउच्च वृत्तियों का पूर्ण विकास हुआ है। यहाँ अतिशयोक्ति एवं अत्युक्ति के सहारे न तो जाड़े को ग्रीष्म में बदलने का उपक्रम हुआ है और न ज्वराधिक्य एवं स्वेद के मिश्रण से हाथ के अक्षत का भात ही पकाया गया है। यह विरह

कायिक नहीं, मानसिक है; अतः अन्तर की विविध मर्मानुभूतियों की लक्षणा के सहारे चित्रवत्ता-युक्त अभिव्यक्ति की ही प्रधानता है। यह अभिव्यक्ति वियोग की परिपाटी-बद्ध एवं शास्त्र-परिगणित दशाओं एवं 'अनुभाव-संचारियों' की सीमित संख्या तक ही सीमित नहीं, और न उसे बँधे-बँधाये साँचों में ढाल कर शास्त्रीय दृष्टि से अविकल बनाने का ही यत्न किया गया है। कवि को जैसी भी अनुभूति हुई, उसने उसका वैसा ही वर्णन करने का यत्न किया है।

'ग्रन्थि' से श्री 'पन्त' जी की ये उक्तियाँ कितनी निराशा, विवशता, उदासी एवं संतोष से कसमसा रही हैं! इसमें 'आलम्बन' नहीं, मात्र 'आश्रय' की आन्तरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है—

'शैवलिनि! जावो मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल! आलिंगन करो तुम व्योम को।
चन्द्रिके! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो! गावो पवन-वीणा बजा!
पर, हृदय! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठ कर
अश्रुओं की बाढ़ से अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख—सी!
देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को।
वह मधुप विधँ कर तड़पता है, यही—
नियम है संसार का, रो, हृदय, रो!'॥

('ग्रन्थि')

वियोग में प्रेम के प्रति कही गई उक्ति कितनी हाहाकार मयी है—

"और भोले प्यार क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों-से, जहाँ

झूमते गज-से विचरते हो, वहीं
आह है उन्माद है, उत्ताप है!'—('ग्रन्थि')

विरह-पीड़ा का दर्शनीकरण करते हुए उसे 'महा संगीत' कहा है—

'वेदने! तुम विश्व की कृश दृष्टि हो,
तुम महा संगीत, नीरव हास हो;
है तुम्हारा हृदय माखन का बना,
आँसुओं का खेल भाता है तुम्हें!'—('ग्रन्थि')

यही नहीं, वह अखिल विश्व में व्याप्त दिखलाई पड़ती है—

'वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह।
तुहिन में तृण में उपल में लहर में,
तारकों में, व्योम में है वेदना।
वेदना! कितना विशद यह रूप है!
यह अँधेरे हृदय की दीपक-शिखा!'—('ग्रंथि')

विरह की कठोरता एवं तीव्रता के लिये ये पंक्तियाँ पठनीय हैं—

'विरह! अहह कराहते इस शब्द को
किस कुलिश की तीक्ष्ण चुभती नोक से
निठुर बिधि ने अश्रुओं से लिखा।'—('ग्रंथि')

वेदना में सुख-सम्पन्नता की भी अनुभूति छिपी है—

'आज मैं सब भाँति सुख-सम्पन्न हूँ;
वेदना के इस मनोरम विपिन में;
विजन-छाया में द्रुमों की, योग-सी
विचरती है आज मेरी वेदना!

× × ×

हृदय यह क्या दग्ध तेरा चित्र है?
धूम ही है शेष अब जिसमें रहा!'—('ग्रंथि')

'धूम एवं ज्वलन' को लेकर 'प्रसाद' ने भी कहा है—

'जल गया स्नेह - दीपक - सा
नवनीत हृदय था मेरा।
अवशेष धूम्र - रेखा - से
चित्रित कर अँधेरा।'— ('आँसू')

'आँसू' नामक कविता में 'पन्त' जीने 'वियोग' से ही कविता का प्रथम उद्गार माना है—

'वियोगी होगा पहला कवि,
आह से निकला होगा गान;
ढुलक कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।' ('पल्लव')

जहाँ 'प्रसाद' के प्रेम में रस-मयी वेदना और 'पंत' में कल्पना-प्रवण-चिन्तना की प्रधानता है, वहाँ 'देवी' जी में साधना की। सुश्री महादेवी जी का यावत् काव्य ही विरह-मूलक है। 'यामा' एवं 'दीप-शिखा' के सारे गीत वेदना के धूम्र एवं विरह की पीर से लबालब हैं। उनका जीवन ही विरह जल-जात है—

'विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात!
वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास!
अश्रु इसके दिवस चुनता, अश्रु गिनती रात!!'—('नीरजा')

'प्रियतम' की प्रतीक्षा में नेत्र तरल मोतियों से भरे हैं। 'सुधि' को 'स्वाती' की छाँह कहना कितना मार्मिक है, कि ये सुधियाँ ही अश्रु-मोतियों की जन्मदायिनी हैं—

'तरल मोती से नयन भरे!
मानस से ले, उठे स्नेह-घन,
कसक-विद्यु, पलकों में हिम-कण
सुधि-स्वाती की छाँह पलक की सीपी में उबरे!'—
('दीप-शिखा')

महादेवी का प्रियतम अनन्त और 'रहस्यमय' है। 'रहस्य' पर आधृत होकर भी यह प्रेम तीव्रता से सप्राण है। उस 'प्रियतम' तक संदेश जाय भी तो कैसे? अपने साधन तो बहुत ही असमर्थ हैं—

'कैसे सँदेश प्रिय पहुँचाती?
दृग-जल की सित मासि है अक्षय;
मसि-प्याली झरते तारक द्वय;
पल-पल के उड़ते पृष्ठों पर
सुधि से लिख स्वासों के अक्षर—
मैं अपने ही बेसुधपन में,
लिखती हूँ कुछ, कुछ, लिख जाती।'—('नीरजा')

स्वप्न में ही बाँध लेने की कितनी आकुल स्पृहा है—

'तुम्हें बाँध पाती सपने में!
तो चिर जीवन-प्यास बुझा—
लेती इस छोटे क्षण अपने में—' ('नीरजा')

प्रतीक्षा की दीर्घता एवं एकाकीपन की गूढ़ता में कवयित्री अपने पन्थ के 'अपरिचित' एवं प्राण के 'अकेले' रहने में ही संतोष ढूँढ़ती है—'पन्थ रहने दो अपरिचित, प्राण रहने दो अकेला।'

'प्रियतम' से अपनी दूरी ही रंग-मयी लगने लगती है; पर मनको दूरी अखरती भी है—

'छू तुम्हें रह जायगी
यह चित्रमय क्रीड़ा अधूरी;
दूर रहकर खेलना पर मन न मेरा मानता है।'

'प्रसाद' का विरह आवेग-मय, 'पंत' का कला-मय, किन्तु 'महादेवी' का विरह साधना-मय है। छायावादी कवियों का विरह एक प्रकार की मस्ती से भरा है। उसमें 'चाँदनी में चुर जानेवाली' 'रीति-कालीन' विरहात्युक्ति नहीं, स्मृति से पुलकित एक आनन्द-भरी मस्ती है। 'प्रसाद'

की मस्ती में आवेग-मय विस्मरण है, तो 'पंत' की मस्ती में सुषमा की प्यास है और महादेवी के मतवालेपन में संयम की दीप्ति। 'निराला' की मस्ती में एक निर्द्वन्द्वता एवं दार्शनिक तटस्थता है। (यही कारण है कि उनमें विरह की चिर-सजग चेतना पैदा करनेवाली अनुभूतियाँ बहुत कम आई हैं—

'स्नेह निर्झर बह गया है!
रेत-ज्यों तन रह गया है!
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है 'अब यहाँ पिक या शिखी—
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ—
जीवन ढह गया है।'

\+ \+ \+ ('अणिमा')

'आँसुओं से कोमल झर-झर,
स्वच्छ निर्झर-जल से सप्राण,
सिमट सट-सट अन्तर भर-भर
जिसे देते थे जीवन-दान,
वही चुम्बन की प्रथम हिलोर—
स्वप्न-स्मृति दूर, अतीत अछोर।' ('स्मृति' कविता)

डा० रामकुमार जी वर्मा 'भुला देनेवाले प्रियतम' को वाणी द्वारा बाहर बिखेरना भी नहीं चाहते। भला कवि की कोमल भावना अपने दुखों की जाग्रत अवस्था में प्रिय को भी जगा देना कैसे सहन करेगी—

'प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ?
जिस ध्वनि में तुम बसे उसे,
जग के कण-कण में क्या बिखराऊँ!')

\+ \+ \+

'जुही-सुरभि की एक लहर से,
निशा वह गई डूबे तारे,
अश्रु-विन्दु में डूब-डूब कर,
दृग-तारे ये कभी न हारे!
दुख की इस जागृति में कैसे,
तुम्हें जगाकर मैं सुख पाऊँ?' ('संकेत')

+ + + +

'देव मैं अब भी हूँ अज्ञात?'

+ + +

आओ, चुम्बन-सी, छोटी है यह जीवन की रात।'
('चित्र-रेखा')

'प्रेम और दुलार' के लिये जीवन-पथ पर खड़े कविवर 'बच्चन' की 'नेत्र-तरी' भी 'विरह-समुद्र' पार कर सकने में अक्षम अनुव कर रही है—

"तिमिर-समुद्र कर सकी न पार नेत्र की तरी।
विनष्ट स्वप्न से लदी, विषाद याद से भरी।"
न छोर भूमि का मिला, न कोर भोर की मिली,
न कट सकी न, घट सकी विरह-भरी विभावरी:
कहाँ मनुष्य है जिसे कमी खली न प्यार की,
इसी लिये खड़ा रहा कि तुम मुझे दुलार लो!"
('सत रंगिनी')

श्री 'नरेन्द्र' की 'कब मिलेंगे!' कविता में भी कितनी निराशा, हाहाकार एवं परवशता है—

'आयगा मधुमास फिर भी,
आयगी श्यामल घटा घिर!
आँख भर कर देख लो,
यह मैं न आऊँगा कभी फिर!!

प्राण, तन से बिछुड़ कर कैसे मिलेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !!'

+ + +

'कब मिलेंगे ? पूछता जब विश्व से मैं विरह-कातर,
'कब मिलेंगे ?' गूँजते प्रतिध्वनि,-निदित व्योग-सागर
'कब मिलेंगे ?' प्रश्न, उत्तर, 'कब मिलेंगे !'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !' ('प्रवासी के गीत')

श्री गंगा प्रसाद जी पाण्डेय भी प्रिय-आगमन के विलम्ब से चिन्तित हैं—

श्याम मेघों से लगा कर,
होड़ मेरे नयन प्रतिपल,
हैं बिछाते प्रणय-पथ पर
मोतियों की माल उज्ज्वल,
प्राण आकुल हैं सिसकते, कौन सावन गीत गाये !
आज भी प्रिय क्यों न आये ?) ('पर्णिका')

(छायावादी काव्य-धारा की उत्तर-कालीन कविताएँ, जिनका श्रोत आज भी अविरल रूप से प्रवाहित है, अधिक सुस्पष्ट एवं मानवीय भाव-भूमि पर आधृत हैं। उसके चित्र भी अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हैं। छाया-वादी युग की पूर्वकालीन अस्पष्टता का धुंध क्रमशः मिटता गया है। 'दिन-कर', 'भक्त', 'बच्चन', 'नरेन्द्र शर्मा', 'आरसी प्रसाद सिंह', 'बालकृष्ण राव', पं० 'इलाचन्द जोशी' आदि कवियों में प्रेम की मानवीय अनुभूति पहले की अपेक्षा धरती के अधिक निकट है। कल्पना की जगह अनुभूति की प्रधानता होती गई है। वह छायावाद की दूसरी पीढ़ी कही जा सकती है। तीसरी पीढ़ी, दूसरी पीढ़ी की अपेक्षा अधिक 'मानव-वादी' है। इसका प्रारम्भ सर्व श्री शम्भूनाथ सिंह, जानकी वल्लभ शास्त्री, हंसकुमारतिवारी नेपाली, गंगा-प्रसाद पाण्डेय आदि से है, जो सन् १६४० के बाद काफी स्पष्ट हो गई है।

आज के प्रयोगवादी काव्य-धारा के प्रवर्तक श्री 'अज्ञेय' जी अपने पथ की नींव डाल चुके थे, पर वह उन्हीं तक सीमित दिखाई पड़ती थी। प्रगति-वादी-काव्य-धारा अवश्य बड़े जोर से फैला रही थी। सन् १९४२ तक आकर 'प्रयोग' की प्रथम घोषणा 'तार-सप्तक' के रूप में हुई, पर विशिष्ट पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त, सहृदय जनों तक इसका विस्तार नहीं था। दूसरी पीढ़ी की अपेक्षा अपने में संतुलन के अधिक बीज छिपाये हुये है। पहली पीढ़ी में कल्पना का तत्व सबसे अधिक प्रमुख था। दूसरी पीढ़ी में लाक्षणिक प्रयोगों एवं सुदूर व्यंजनाओं के स्थान पर; अभिधा को अधिक महत्व दिया गया और उसमें अनुभूति को प्रधानता मिली। 'बच्चन' जी के काव्य में तो लाक्षणिक चित्रों एवं व्यंजनाओं के स्थान पर अभिधात्मक संवेदना का ही प्राबल्य है। यह तीसरी पीढ़ी, यद्यपि अभी अपेक्षाकृत अल्पवयस्का है, किन्तु अपने अप्रौढ़ रूप में भी इसमें भविष्य की उज्ज्वल संभावनाएँ छिपी हुई हैं। इसमें दूसरी पीढ़ी की भाँति लाक्षणिकता एवं कल्पना-शीलता के विरुद्ध प्रतिक्रिया नहीं, वरन् कल्पना एवं अनुभूति का समुचित सामंजस्य पल्लवित हो रहा है। इस तृतीय पीढ़ी में सर्वश्री 'प्रभात' (बिहार), शम्भूनाथ सिंह (काशी), धर्मवीर भारती (प्रयाग), महेन्द्र, जानकीवल्लभ शास्त्री (बिहार), गिरधर गोपाल (प्रयाग), 'रंग' (एटा), 'शिशु' (इटावा), विजयदेवनारायण शाही, 'प्रकाश' (जौनपुर) 'विश्व', 'गोपेश', डा० 'व्रजमोहन गुप्त (प्रयाग), 'विरागी', 'मुग्ध', नर्मदेश्वर उपाध्याय, नरेशकुमार मेहता, 'सरोज' (लखनऊ), 'राकेश' (मथुरा), देवराज दिनेश (दिल्ली), वीरेन्द्र मिश्र, 'रमानाथ अवस्थी' (प्रयाग), 'नीरज' (कानपुर), 'नामवर सिंह' तथा राम दशरथ उपाध्याय, 'विमन', 'किशोर' (बिहार), रवीन्द्र 'भ्रमर' (जौनपुर) के नाम उल्लेखनीय हैं। तीसरी पीढ़ी के उदीयमान कवियों के संदर्भ में प्रयाग 'परिमल' नामक संस्था का नाम विशेष रूप से संकेतव्य है। यह संस्था साहित्य-क्षेत्र में वादों के नाम पर दिखाई पड़ने वाली सुरुचि-हीनता, एवं राजनीतिक-साम्प्रदायिक उच्छृ-

खलता के विरुद्ध सुरुचि, जीवन-सन्तुलन एवं स्वस्थ दृष्टिके प्रसार के निमित्त कुछ उत्साही युवकों द्वारा स्थापित हुई थी और इसको पं० 'हजारीप्रसाद द्विवेदी' पं० माखन लाल चतुर्वेदी, डा० अमरनाथ नाथ झा, डा० राम-कुमार वर्मा, 'बच्चन', लक्ष्मी नारायण मिश्र, एवं पं० श्री नारायण चतु-र्वेदी आदि साहित्य के गण्यमान् व्यक्तित्वों के आशीर्वाद एवं परामर्श भी प्राप्त रहे। 'साहित्य-कार-संसद्' की संचालिका सुश्री महादेवी जी वर्मा की मृदु छाया तो इसे सदैव सुलभ रही। फल-स्वरूप काव्य की सहज-सरस धारा का स्रोत निरखता गया। गीत खुलते गये। चित्रों की स्पष्टता के उदाहरण-स्वरूप श्री शम्भू नाथ सिंह, गिरधर गोपाल, 'शाही', महेन्द्र एवं भारती जी की दो एक पंक्तियाँ पर्याप्त होंगी। यहाँ यह भी कह देना संकेतव्य होगा कि इन कवियों में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रेम (संयोग एवं वियोग) की प्रवृत्ति मुख्य है, यद्यपि इसके साथ ही साथ श्री शम्भू नाथ सिंह में ऐन्द्रियता, गिरिधर गोपाल में विषाद की धूमिल सघनता, 'शाही' में प्रकृति के प्रति सौन्दर्यात्मक कान्त दृष्टि एवं 'भारती' में सुकुमार भाव-मुखी कल्पना एवं कैशोर-सुलभ भोलेपन का झुकाव अपनी-अपनी प्रिय दिशायें हैं :—

"समय की शिला पर मधुर चित्र कितने, किसी ने बनाये किसी ने मिटाये!

किसी ने लिखी आँसुओं से कहानी!
किसी ने पढ़ा किन्तु दो बूँद पानी!!
इसी में गये बीत दिन जिन्दगी के,
गई घुल जवानी, गई धुल निशानी।

विकल सिन्धु से साध के मेघ कितने,धराने उठाये गगनने गिराये।'

× × ×

'प्रणय-पंथ पर प्राण के दीप कितने मिलन ने जलाये विरह ने बुझाये।'

× ×

'नयन-प्राण में रूपके स्वप्न कितने निशा ने जगाये उषा ने सुलाये।'—

(श्री शम्भूनाथ सिंह, 'छायालोक')

× × ×

'घिरे व्यथा के बादल मनमें !'—'आज तुम मिल गयीं और मैं खोगया !' —[illegible]हेन्द्र

'विरहकी अमा प्राणका दीप जलता, प्रिये, दीप जलता रहा है जलेगा !' (श्री गिरिधर गोपाल, 'अग्निमा')

× × ×

'धरा खोलती है मदिर मौन पलकें, कहीं गा रहा दूर कोई प्रभाती'—

('शाही'—'प्रभात'—कविता से)

+ × ×

'यह पान-फूल-सा मृदुल वदन,
बच्चों की ज़िद सा अल्हड़ मन,
तुम अभी सुकोमल, बहुत सुकोमल,
अभी न सीखो प्यार !'

× × ×

'तुम कितनी सुन्दर लगती हो जब तुम हो जाती हो उदास !
ज्यों किसी गुलाबी दुनियाँ में सूने खँडहर के आस पास !!
मदभरी चाँदनी जगती हो, मुँह पर ढक लेती हो आँचल,
ज्यों डूब रहे रवि पर बादल, या दिन भर उड़कर थकी किरन
सो जाती हो पाँखें समेट आँचल में, अलस उदासी बन !
दो भूले-भटके सांध्य विहग पुतली में कर लेते निवास !
जब तुम हो जाती हो उदास !!'

'भारती' जी को 'सौंदर्य के क्वारेपन' से बड़ा अनुराग है 'भारती' जी के गीत में 'सौंदर्य के जादू' एवं 'रूप की उदासी' के प्रति एक 'विचित्र रस-भरा मादक आग्रह' पाया जाता है। 'मैं और मेरे गीत' नामक 'जय-

भारत' (साप्ताहिक-कानपुर) लेख में भारतीजी ने लिखा है, 'जब मेरी वाणी ने अपने पंख पसारे', उस समय क्षितिज पर एक केसरिया उदासी बिखरा कर छायावाद का सूरज डूब चुका था। एक अजब-सी उदासी और कड़वी निराशा हिन्दी-कविता पर साँझ के धुवें की तरह छा गई थी और हिन्दी-गीत-काव्य एक अकेले, बिछुड़े पंछी की भाँति अंतरिक्ष में आकुल-आतुर कभी इधर कभी उधर उड़कर अपने नीड़ की दिशा खोज रहा था। 'छायावाद' ने हमें जीवन के एक स्वस्थ आस्वादन से इतने दिनों तक वंचित रक्खा कि अब हम उन मांसल अभावों के प्रति निरपेक्ष नहीं रह पाते थे, लेकिन साथ ही साथ हमने जो मानसिक ग्रंथियाँ पड़ गई थीं, वे हमें एक स्वस्थ समाधान भी नहीं ढूढ़ने देतीं थीं। मेरी कविता इस घुटन के प्रति एक गीतात्मक विद्रोह है। मैं तो ज़िन्दगी की मांसल प्रवृतियों को स्वस्थ और पुरुषोचित ओज से ग्रहण करने का हामी हूँ।'

मुझे 'भारती' जी का 'छायावाद'—सम्बन्धी विचार एवं उसके बाद 'बच्चन' आदि कवियों की निराशा एव घुटन के प्रति व्यक्त किये गये विचारों पर, यहाँ कुछ नहीं कहना है। मेरा मतलब तो उस प्रवृत्ति की ओर संकेत-मात्र करना है, जो छायावाद के पूर्वकाल में जन्म पाकर मानवता की स्वस्थ जीवन-भूमि पर निरंतर स्पष्ट एवं प्रांजल होती आई है। 'छायावाद' जीवन की अस्पष्ट तथा दूरारूढ़ आदर्श-वादिता एवं प्राण-शोषी तथाकथित नीतिवादिता के विरुद्ध, स्वयं एक भावात्मक विद्रोह रहा है और वह विद्रोह अभी निरन्तर गतिमान है। ये मानसिक ग्रन्थियाँ स्वयं तत्कालीन समाज की मानस-समष्टि की ग्रन्थियाँ थीं, जिसे 'छायावाद' ने ही पहले-पहल साहित्य-मुखर किया। समाज की समष्टि-गत-जीवन-चेतना स्वयं भी सामाजिक जीवन में पड़ी ग्रन्थियों को झकझोरती चलती है। व्यक्ति भी इस झकझोर में प्राण भरता चलता है।

'छायावाद' के इस 'तृतीय-चरण' में श्रीशम्भूनाथ सिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिन्दी के बाल, युवक, एवं नवोदित कवियों पर

उनका काफी प्रभाव पड़ा है। रूप-रस, प्रेम एवं विरह से ऊष्म उनकी ऐन्द्रियता बड़ी हृदयस्पर्शिणी होती है। 'रूप-रश्मि' उनकी प्रथम कविता-पुस्तक है। 'छायालोक' उनके रागात्मक व्यक्तित्व का उच्चतम रूप है। 'समय की शिला', 'रूप के बादल' एवं 'दो भरे नयन' वाली कविताएँ आज के कविता-प्रेमी नवयुवक पाठकों के गले का हार बन गई हैं। ऐन्द्रिकता की इतनी तीव्रतम अनुभूति, इतने प्रभविष्णु चित्रों में इसके पहले बहुत कम ही व्यक्त हुई है। 'मेरे पंख ये झर जाँय', 'फिर भी मुझको जान न पाये', 'मेरे खुले के खुले ही रहे द्वार', 'प्रिय मैं जी सकूँ चुप-चाप', 'मेरी अमिट भूख, मेरी अमर प्यास'—आदि गीत इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। कल्पना की मनोरमता एवं अनुभूति की पतीव्रता से दीप्त प्रभावक चित्र-विधान के उदाहरण-स्वरूप दो-एक पंक्तियाँ पर्याप्त होंगी—

'जलधि ने गगन-चित्र खींचे नयन में,
उतरती हुई उर्वशी देख घन में
अचल किन्तु चल चित्र थे हो न पाये
कि सहसा बुझी रूपकी ज्योति क्षण में!
जलद-पत्र पर इन्द्र-धनु-रंग कितने
किरन ने सजाये, पवन ने उड़ाये!

—('समय की शिला' से 'छायालोक')

\+ + +

'किसी के रूप के बादल!
हमें सोने न देते हैं,
हमें रोने न देते हैं
कभी पल एकभी अपना
हमें होने न देते हैं!
गरजते आज यौवन में
किसी के रूप के बादल!'

चेतना के सौन्दर्य-पुष्पित होने पर एक साथ अनेक कान्त 'अप्रस्तु बरसने लग जाते हैं। उन चित्रोंमें कल्पना का सूक्ष्म साम्य-सूत्र अप बिखराहट में भी कितना मोहक है—

'तुम गगन की परी,
तुम उषा सुन्दरी,
तुम धरा-रूप-सर
में किरन की तरी!
रूप-बन्दी हुये इस विकल प्राण की—
प्राण, तुम मुक्ति भी, प्राण, तुम पाश भी!'

कल्पना और अनुभूति की उच्च-स्तरीय मिलन-भूमिका पर कवि चाँदन और आन्तरिक उल्लास का विभेद भी भूल जाता है—

'प्रिये! प्राण में चाँदनी छा रही है!
+ × ×
गगन—वेणु में मौन के शब्द भर कर
धरा प्यार की रागिनी गा रही है!'–('छायालोक')

कभी कवि को अपनी अति कल्पना-शीलता भी अखर उठती है। असफलता में बरबस आये अतीत के कल्पना-चित्रों से व्यथित होकर वह गा उठता है—

'मेरे पंख ये झर जाँय!'

एक के कामना-भरे प्रयत्न कितनी निष्ठुरता के साथ दूसरे द्वारा इस क्षण-क्षण पर परिवर्तमान संसार में मिटा दिये जाते हैं! आशा-भरी उठान निराशा में बिखर उठती है—

सुरभि की अनिल-पंख पर मौन भाषा
उड़ी, साधना की जगी सुप्त आशा!
तुहिन-बिन्दु बनकर बिखर पर गये स्वर
नहीं बुझ सकी अर्चना की पिपासा!

किसी के चरण पर वरण-फूल कितने
लता ने चढ़ाये, लहर ने बहाये !

\+ + —('समय की शिला' से)

'चपला से चमके चपल चरण दो रागारुण
रिमझिम बूँदोंमें बरस पड़ी पायल रुनझुन !'

—('दो बड़े नगन' गीत से, 'दिवालोक')

इसी अवसर पर हिन्दी के तरुण गायक-गीतकार श्री महेन्द्र का नाम भी ले लेना अनुचित न होगा। हिन्दी, संस्कृत एवं संस्कृति के केन्द्र काशी की पवित्र भूमि से अपने स्वरों के फूल एवं गीतों का दीप लेकर, भारती के मन्दिर की ओर साधना-गर्वित चरणों से बढ़नेवाले इस, गिने-चुने गीतों के स्वरकार की कला-परिष्कृति एवं अनुभूति-मिश्रित चिन्तना अपने ढंग की अनूठी है। यह 'मात्रा' नहीं 'गुण' में विश्वास करने वाला कवि है; मिलन नहीं, विरह में ही जिसकी वाणी अपना सहज प्रकाश बिखरा सकी है; जो प्राप्ति की साधना में अपने को गुरु, किन्तु मिलन में अपने को इसका खोया-सा अनुभव करता है—

'आज तुम मिल गईं और मैं खो गया !
तुम न थीं तो स्वयं का मुझे ज्ञान था,
शून्य था, पूर्णता का मगर ध्यान था,
तुम मिलीं तम-भरे शून्य में रूप की
चाँदनी खिल गई और मैं खो गया !'

किसी की प्राप्ति 'स्वप्न', को भी 'जीवन के विश्वास' में परिणत कर देती है—

'आज स्वप्न की बात तुम्हें पा जीवन का विश्वास बन गई
सुख के सूखे पत्र उड़ा करते थे, मन का सूखा वन था !
यद्यपि आँखों में करुणा का प्लावन-मय आकुल सावन था !!
तुमने आग लगाई जो मुझमें आकर मधुमास बन गई।'

व्यथा एवं निराशा की चरम सीमा की कितनी सचित्र किन्तु करुण अभिव्यक्ति है—

'लो डूबती साँस, पथ-अन्त के पास······
सोई चरण-चिह्न-सी पंथ में आस
···ओ साधनातीत खोलो नयन द्वार !······
ओ स्वप्न की जीत, ओ सत्य की हार !!'

ब्रज-भाषा के छंदों में भी गीतों की माधुरी एवं लाक्षणिक विच्छित्ति का अनोखापन भरने वाले श्री जगदीश गुप्त 'विश्व', जैसे तूलिका के धनी हैं, वैसे ही शब्दों के सफल चित्रकार भी। 'दुखी न हो अनंगिनी' एवं 'चलो विवाह हो गया' जैसे व्यथा-विदग्ध गीतों का अप्रकाशित संग्रह 'छायावादी' विरह-व्यथा की अभिव्यक्ति-परंपरा की ही आधुनिकतम कड़ी है।

श्री नरेश कुमार मेहता एवं नामवर सिंह जी यद्यपि प्रगति के पथ पर आज 'साम्यवाद' का स्वर लगा रहे हैं, किन्तु छायावादी कल्पना की रंगिमा एवं रागात्मक अनुभूति की पुरवाईमें ही इनके कवि-स्वर की पंखुरियाँ खुली हैं। नरेश कुमार मेहता में वैदिक-युगीन कल्पनाओं एवं कौमार्य-कलित सुकुमार यांचाओं का बड़ा कोमल प्रभाव प्राप्त होता है—

'नीलम-वंशी में कुंकुम के स्वर गूँज रहे !
अभी महल का चाँद किन्हीं स्वप्नों में मुस्काता ही होगा !
अभी नींद का फूल किन्हीं बाँहों में मुरझाता ही होगा !!'

श्री नामवर सिंह याद की उदासी की तुलना साँझ से कर रहे हैं—

'बन कर साँझ, नयन में छल-छल आई याद तुम्हारी !

छायावादी काव्योत्थान, 'मानव' एवं 'जीवन' की प्रवृत्ति तथा उसके प्रति महत्व की भावना का उदय-काल है; यह दूसरी बात है कि शुष्क एवं कठोर आर्य-समाजी अति-नैतिकता तथा 'द्विवेदी' जी के परुषकशाघातों के कारण जीवन के प्रति सहज आकर्षण की वृत्तियों में वायवीयता एवं सूक्ष्म कल्पना-गत उन्मेष अति प्रबुद्ध हो उठे हों।

वेदना एवं प्रेम-सौन्दर्यात्मक रुचि के अतिरिक्त तीसरी प्रवृत्ति प्रकृति के प्रति सामान्य आकर्षण है। 'छाया-वाद' में आये हुये प्रकृति के रूपों एवं उनके स्थान का विस्तृत विवेचन पुस्तक के एक स्वतंत्र अध्याय का विषय है, किन्तु, संक्षेप में इतना कह देना अनावश्यक न होगा कि छायावादी कविता में साध्य और साधन दोनों ही रूपों में प्रकृति का महत्व-पूर्ण स्थान है। 'पन्त' जी की आरम्भिक रचनाओं में एक प्रकार का 'प्राकृतिक' दर्शन ही प्राप्त होता है। स्वामी रामतीर्थ एवं विवेकानन्द की दर्शन-परंपरा से प्रभावित होने के कारण 'निराला' जी का प्रकृति-चित्रण भी अधिकांशतः दार्शनिक एवं रहस्यात्मक है। 'प्रसाद' जी प्रकृति के रमणीय दृश्यों को, मानवीय रागों की क्रीड़ास्थली के रूप में ही ग्रहण करते हैं और उनका वर्णन मानव-सापेक्ष्य एवं मानवीय भावों से आच्छित है। महादेवी जी की कविताओं में आयी प्रकृति उस 'चिर-रहस्य मय' और उनके बीच संवाहक माध्यम-मात्र है, अथवा उस 'परमाराध्य' की प्रेमाराधना की सहचरी। रामकुमार वर्मा के काव्य में प्रकृति आत्मा-परमात्मा के प्रेम को संकेतित करने के माध्यम-रूप ने भी आई है और सजीव सत्ता-रूप में भी, जिसमें उल्लास-विषाद एवं प्रेम-विरह की भावनाओं का एक निजी व्यापार चलता रहता है। महादेवी वर्मा एवं डा० रामकुमार वर्मा के काव्य में आये प्रकृति के रूपों का यह एक अन्तर है कि सुश्री 'वर्मा' अपने और प्रकृति के भेद एवं द्वैत का आभास नहीं देतीं। उनकी एवं प्रकृति की अनुभूति का तार एक ही है। प्रकृति के उन भावों को व्यक्त करती हुई चलती हैं और वे प्रकृति के भावों को। दोनों एक दूसरे के पोषक हैं; पर डा० 'वर्मा' में प्रकृति के द्वैत का आभास स्पष्ट दिखाई पड़ता है और दोनों, दो सत्ताएँ मालूम पड़ती हैं। कभी कवि का उससे साम्य होता है और कभी वैषम्य भी।

अन्य 'छायावादी' काव्य-धारा के कवि भी चाहे प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण भले ही न करते हों, पर उन्होंने भी या तो प्रकृति की रम्य स्थली

को अपने भाव-चित्र की पृष्ठ-भूमि और पार्श्व-भूमि बनाई हैं अथवा प्रकृति के विविध रमणीय उपकरणों से अपनी भावनाओं को व्यंजित किया है। अलंकार के लिये सुन्दर 'अप्रस्तुतों' के चयन के निमित्त तो प्रकृति सभी कवियों का अक्षय भण्डार रही है। सारूप्य, साधर्म्य एवं प्रभाव-सृष्टि, तीनों उद्देश्यों से प्रकृति का सुषमा-सम्भार छायावादी काव्य में भरा हुआ है। परंपरा-गत उपमानों एवं उपकरणों के अतिरिक्त अपने निजी निरीक्षण एवं प्रभाव के बल पर इन कवियों ने पुरानी एवं नवीन दोनों ही सामग्रियों को नये ढंग से सजाया है। छायावाद एवं प्रकृति के इसी घनिष्ठ संबन्ध के आधार पर कई विद्वानों ने छायावाद को ही एक प्रकृति-परक 'दर्शन' मान लिया है। प्रकृति के निजी सौन्दर्य के स्थान पर कवियों ने उनके प्रति अपने व्यक्तिगत प्रभाव एवं निजी अनुभूतियों को ही प्रधानता दी है। 'आलंबन'-रूप में भी जहाँ प्रकृति आई, कवि की अपनी कल्पनाएँ, प्रेरणा के फलस्वरूप उद्भूत निजी भाव-धाराएँ या विचार-स्रोत ही प्रधान हो उठे हैं। कवियों ने प्रकृति का 'मानवी-करण' किया है और उनपर नराकार-भावना का आरोप कर उनसे मानवोचित व्यापार कराये हैं। प्रकृति के ऐसे सुन्दर भाव-मय चित्र सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त विरला हैं। आर्य-समाज के 'अवतार-वाद'-खंडन एवं 'मूर्तिपूजा-विरोधी-आन्दोलन' ने पच्छिमी बुद्धिवाद के सम्पर्क में शिक्षित जन-समुदाय को एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि दे दी। 'सूक्ष्म' एवं 'रहस्य' के प्रति आकर्षण छायावादी काव्य-धारा के अन्तर्गत एक विश्रुत प्रवृत्ति है। 'रहस्य' के प्रति संकेत या जिज्ञासा किसी न किसी रूप में अधिकांश कवियों में पाई जाती है; किन्तु इसका कोई सुनिश्चित एवं सर्वमान्य रूप सर्वत्र एक-सा पालन किया जाता हुआ नहीं मिलता। 'अज्ञात' के प्रति सहज कुतूहल एवं जिज्ञासा से लेकर, एक 'साम्प्रदायिक मान्यता' तक इसके विविध-रूप बिखरे हुए मिलते हैं। सभी कवियों में एक-सा सामान्य रूप पाने की बात कौन कहे, कुछ अपवादों के साथ एक कवि में सर्वत्र एक ही रूप का

परिपालन नहीं प्राप्त होता। कभी-कभी तो जीवन-जगत् के प्रति, गम्भीर चिन्तन एवं मनन के स्तरों पर उतर कर व्यक्त किये गये कवि के प्राचीन-नवीन दार्शनिक उद्‌गार भी, इसी के भीतर परिगणित किये जाते रहे हैं। इसी व्यापक 'रहस्य-प्रवृत्ति का एक रूप 'रहस्यवाद' के नाम से मान्य हो गया है, जो अपेक्षाकृत् अधिक निश्चित अथच सीमित है। सुश्री महादेवी वर्मा इस क्षेत्र की सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। सृष्टि के मूल में स्थित एवं सर्वत्र-व्याप्त उस 'अनन्त रहस्य-मय' परमात्मा के प्रति, प्रणय के मधुर आवेग में, विरह-मिलन के उच्छ्वसित उद्‌गारों का सञ्जीवन समर्पण महादेवी की साधना का मूलाधार है। डा० रामकुमार वर्मा भी अपनी आत्मा के प्रेमोद्‌गारों को उस 'असीम'-'अनन्त' के चरण पर अर्पित करते हैं, पर भावोच्छ्वास की अपेक्षा उनमें चिन्तन का आधिक्य है। अपनी 'गति' को 'उसकी' 'आरती' बनाने की उनकी लालसा में प्रेमिका की मधुरिमा की अपेक्षा प्रेमी का ओज ही प्रधान है। 'रहस्यवाद' की इस प्रवृत्ति पर "छाया-वाद' और 'रहस्यवाद" शीर्षक वाले अध्याय में अधिक विस्तृत रूप से विचार किया जायगा; यहाँ तो इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि 'रहस्यवाद' 'छाया-वाद' की ही एक शाखा है, जिसमें 'वाद' केवल 'साहित्यिक सिद्धान्त तक ही नहीं सीमित है, वरन् काव्य-वस्तु भी बन गया है। 'पन्त' में लहरों में किसी के 'मौन निमंत्रण' सुनने से लेकर नक्षत्रों एवं प्रकृति के दैवीकरण तथा अज्ञात के प्रति जिज्ञासा तक के विविध-रूप विविध-स्थलों पर प्राप्त होते हैं। 'निराला' में अद्वैतवादी स्वर स्वामी रामतीर्थ एवं विवेकानन्द की विचारावली का प्रभाव, एवं आत्मा-परमात्मा के बीच चलने वाली प्रणय-क्रीड़ा के मधुर-भाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। 'प्रसाद' ने भी सृष्टि के विस्तार के मूल की ओर रहस्यात्मक संकेत किया है और 'विमल इन्दु की विशाल किरणों, में 'उसी' का 'प्रकाश' देखा है। 'वियोगी' जी ने भी निर्माल्य' में रवि-शशि को उसी की खोज में पुकारते पाया है—

"रवि-शशि युग-युग घूम-घूम कर,
घोर शून्य में मेघ-नयन भर,
नाच रहे हैं तुम्हें पुकार।"

श्री लक्ष्मीनारायण जी मिश्र 'गगन में सिन्धु-किनारे' अपना संगीत छेड़ते हैं—

'छिड़ता है संगीत गगन में, सिन्धु किनारे मेरा।
दिन-मणि के उस अलख लोक का, मैं हूँ शान्त सवेरा॥'
—('अन्तर्जगत्')

सिन्धु को वे नीचे आहें भरते पाते हैं और चन्द्रमा को दीप की भाँति जलते—

'नीचे सिन्धु भर रहा आहें
हँसते नखत गगन में।
सबसे दूर जल रहा दीपक,
तेरे भव्य भवन में॥'

'द्विज' जी चिरतपस्या के फल-स्वरूप प्राप्त 'अभाव' में ही सब कुछ पा लेते हैं—

"करो मत विचलित मुझको देव!
दिखाकर कुछ देने का चाव;
साधना की वेदी पर बैठ,
पूजने दो यह अमर अभाव!
इसी में हो तुम, मैं हूँ, और इसी में भरा तुम्हारा प्यार"

सदैव स्पष्टता के साथ अपनी बातें कहने वाले 'बच्चन' जी भी 'वह पग-ध्वनि' पहचानते हैं। वे ही 'नूपुर' भी हैं और उसकी 'वाणी' भी—

'उर के ही मधुर अभाव, चरण बन करते स्मृति-पट पर नर्तन
मुखरित होता रहता बन-बन मैं ही इन चरणों में नूपुर।

नूपुर-ध्वनि मेरी ही वाणी !
यह पग-ध्वनि मेरी पहचानी ।' —('मधु-कलश')

आज के प्रगति-वादी 'दिनकर' की भी वाणी के आरम्भिक उद्‌गार रहस्य की ही आभा में फूटे थे। 'आत्म-परिचय' वाली कविता में पुजारिन से धूलि से उठा लेने का मनुहार करते हुए वे अपने को 'गगन का विस्तार' कहते हैं। 'अगेय की ओर' शीर्षक कविता में उनकी उक्ति है—

'गायक, गान, गेय से आगे मैं अगेय स्वन का श्रोता मन !'
('रेणुका')

श्री गंगाप्रसाद जी पाण्डेय भी 'सीमित-असीमित' का अभिसार देखते हैं—

स्नेह-सरिता की विकल तरंग,
रही मिल प्रेमाम्बुधि के संग
पुलक नभ गाता मंगल-गान,
अमर हो प्रथम मिलन का प्यार
असीमित-सीमित का अभिसार; ('पर्णिका')

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह प्रवृत्ति बड़े व्यापक रूप से छायावादी कवियों में समाई हुई है। पाश्चात्य बौद्धिकता ने अवतार-वादी आस्था को झकझोर दिया था। फलतः कवियों की दृष्टि जन-वादी भावनाओं के अनुकूल सन्त-वाणियों की ओर भी खिंची। कवीन्द्र रवीन्द्र एवं अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों ने भी इस लहर में गति दी। युग के विकसित मनोविज्ञान ने इसे एक व्यापक प्रवृत्ति के रूप में खड़ा कर दिया। नारी के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण भी छायावादी कवियों की एक विशेषता है। 'वीर-गाथा-काल में नारी, अधिकार में कर लेने की एक सचल सम्पत्ति से अधिक कुछ भी न थी। भक्ति-युग के पूर्व काल में यह माया का प्रतीक रही। उत्तर-काल में 'कृष्ण-शाखा में राधा एवं गोपियों के रूप में पूज्य अवश्य बनी, पर वह भी नारी का अबला रूप ही है, जो विरह में केवल आँसू ही बहाती रहती है।

'राम-भक्ति शाखा' में सीता-कौशिल्या आदि के रूप में यदि उसका उदात्त रूप व्यक्त हुआ है तो कैकेयी तथा मन्थरा के रूप में उसका दुष्ट-पक्ष भी। यद्यपि यह भी ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा पुष्ट नहीं किया जा सकता कि काव्य एवं भक्ति में आये ये रूप तत्कालीन समाज के ही स्त्री के रूप हैं। 'रीति-कालीन' काव्य में व्यक्त नारी का रूप तो वासना-पुत्तली से अधिक कुछ भी नहीं; यही नहीं, राधिका का उज्ज्वल भक्ति-कालीन रूप भी राज सभाओं की विलास-भूमि में आकर साधारण नायिका के स्तर पर आसीन हो गया। 'द्विवेदी-युग' ने अवश्य ही उसके शक्ति एवं मातृ-रूपों के साथ-साथ आदर्श पत्नी के रूप को भी प्रतिष्ठित किया है, पर वहाँ पर भी वह तथाकथित उच्चादर्श एवं जड़ नैतिकता की लक्ष्मण-रेखा से घिरी रही, उसका सहज मानवी-रूप प्रतिष्ठा न पा सका। 'छायावादी' युग में आकर स्त्री के जिस रूप का काव्य-चित्रण हुआ वह पुरुषों से बहुत दूर घर की सीमा में बन्द, देवी का रूप नहीं, वरन् सच्चे अर्थ में मानवी का वह रूप है जिसमें वह भी अपनी एक स्वतंत्र सत्ता रखती है, जहाँ वह पुरुष के पाँव की जूती नहीं, उसकी चिर-संगिनी प्रेम प्रणय एवं दया-स्नेह के दान से मानव को संघर्ष पथ पर अग्रसर करने वाली एक शक्ति है। वह निराशा में आशा, अंधकार में ज्योति एवं पराजय में धैर्य का संदेश है। मनुष्य के डगमगाते पगों में गति की दृढ़ता एवं जीवन की बिखरी हुई शक्तियों में संतुलन का सम्प्रदान करती है। छाया-वाद की नारी-दृष्टि' एक स्वतन्त्र अध्याय का विषय है, जिसमें सभी प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं एवं उद्धरणों से इसे सम्यक् रूपेण आलोकित किया जायगा।

'छायावादी' काव्य में 'मानव—वाद' की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। मानव अपने मानव-रूप में ही महान है, वह देवत्व या और किसी मान-वोत्तर पद के द्वार का भिखारी नहीं। महापुरुषों, देवताओं और महाराजाओं के स्थान पर जहाँ आधुनिक युग ने जन-साधारण एवं मानवता को अपनाया, वहाँ धीरे-धीरे मानव-महिमा का स्वर भी ऊँचा हुआ। मनुष्य अपनी सहज

सशक्तता एवं दुर्बलता के रहते हुए भी उसी में महान है। इस पृथ्वी पर आकर विविध परिस्थितियों एवं विविध अनुभूतियों के स्वाद का स्वर्ण-अवसर मानव को ही मिला, देवत्व तो अपनी निष्क्रियता में ही जड़ है। मानव ऐसे स्तर पर स्थित है जहाँ से वह स्वर्ग को भी अभिगत कर सकता है और धरती की रज में भी क्रीड़ा कर सकता है। प्रेम, क्षमा, दया, वेदना आदि का आस्वाद सुधा की एक तान एकरसता में डूबे रहने वाले देवों को कहाँ प्राप्त। मनुष्य की इस महत्ता एवं शक्ति के गीत छायावादी काव्य में विरल नहीं। 'श्रद्धा' और 'इड़ा' के साथ में मानव के पूर्ण-रूप की व्याख्या करनेवाले 'कामायनी'—कार ने मनुष्य के प्रति 'श्रद्धा' के इस संबोध में मानो अपने युग को ही सजग किया हो। समग्र 'कामायनी' ही मानव-अस्तित्व एवं उसकी क्षमता की प्रतिष्ठा है—

'जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत् की ज्वालाओं का मूल;
ईश का यह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल;
विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान;
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान!'

\+ \+ \+ \+

'तप नहीं, केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद।'

मानवता के जय-गान का संदेश-राग भी सुन लीजिए—

'शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।

समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय ॥'

कविवर 'पंत' तो इसी पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थिति और मानव को ही देवता मानते हैं। प्रेम-पाश ही मुक्ति है—

'न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर
देवता यही मानव शोभन!
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन-बन्धन॥

('मानव-स्तब'—'ज्योत्सना' से)

\+ \+ \+

'सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर,
मानव तुम सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल–सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम'

—('मानव' शीर्षक कविता से)

आँखों में लावण्य-लोक स्वर में संगीत-सार, बाहुओं में प्रेम-बन्धन, प्रथम प्रेम का मधुर स्वर्ग, विघ्नों पर जय, विश्वास, विवेक, श्रद्धा, सहृदयता, उसे क्या नहीं प्राप्य है! यदि वह मानव ही बना रह सके तो क्या कम है!!

'प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें,
उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव.
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में—
यदि बने रह सको तुम मानव'

सुश्री 'वर्मा' जी अपने आराध्य के समक्ष अपने मरने-मिटने का अधिकार अक्षुण्ण रखती हुई, देवताओं को भी पीड़ा पाल सकने की क्षमता पर चुनौती देती हैं—

'क्या अमरों का लोक मिलेगा,
तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव अरे, यह
मेरा मिटने का अधिकार !'

\+ + +

'मेरी लघुता पर आती
जिस दिव्य लोक को व्रीड़ा !
उसके प्राणों से पूछो—
क्या पाल सकेंगे पीड़ा ?', —(नीहार)

'सम्राट् एडवर्ड अष्टम के प्रति' कविता में मानव की मौलिक महत्ता एवं तात्विक निष्कलुषता के प्रति इङ्गित करते हुए 'निराला' जी की उक्ति है—

'जो करे गंध मधु का वर्जन,
वह नहीं भ्रमर;
मानव, मानव से नहीं भिन्न
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा
वह नहीं क्लिन्न
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक
हो कोई सर।'

\+ + +

'नहीं यह कल्पना
सत्य है मनुष्य का
मनुष्यत्व के लिये,
बन्द है जो दल अभी

किरण - सम्पात से
खुल गये वे सभी।'

श्री पं० 'सुमित्रानन्दन पंत' एवं 'नरेन्द्र' ('कर्ण-फूल') में वह भावना अधिक सुस्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है। इसी मानव-वाद के प्रवाह में, 'ग्राम्या' में 'पन्त' जी कभी तो आनन्द-पुलकित प्रकृति के शोभा-प्रसार एवं सुख-सक्रीड़ पशु-पक्षियों के बीच मात्र मानव की ही दैन्य-दुर्दशा पर आँसू बहाते हैं:—

'वह रवि-शशि का लोक, जहाँ हँसते समूह में उडुगण,
जहाँ चहकते विहँग, बदलते क्षण-क्षण विद्युत्प्रभ घन।
+ + +
प्रकृति-धाम यह तृण-तृण, कण-कण, जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे, चिर विषण्ण जीवन्मृत !!'
—('ग्राम-चित्र')

—और कभी अपनी प्रेयसी के कपोलों पर, उन्मुक्त रूप से एक चुम्बन भी अंकित कर सकने की मानव-असमर्थता पर संकेत करते हुए पशु-पक्षियों के प्रेम-स्वातंत्र्य को ही महत्तर मानते हैं! 'पन्त' एवं 'नरेन्द्र' में स्वस्थ-मांसल शृंगार की अभिव्यक्ति की प्रेरणा का केन्द्र यही मानव-वाद ही है। 'बच्चन' जी ने 'तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जावे', 'सुख की एक साँस पर, होता है अमरत्व निछावर', इसलिये—'तुम छू दो, मेरा प्राण अमर हो जावे।'—इसी विचार-धारा का प्रवाह है कि, छायावादी कवियों ने जीवन के प्रति निषेधात्मक दृष्टि को प्रश्रय न देकर, इस संसार को ही अपना लक्ष्य माना है—

'प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर सुखकर.
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर',—('गुंजन, 'पंत')

मानव की आशा-निराशा, शक्ति-अशक्ति एवं सुख-त्रास का स्वर-वाद

के विकास में निखरता गया है। श्री शम्भू नाथ की 'जवानी' 'वन्दिनी' नहीं हो पाई और न 'प्राणों की प्यास पुरानी' ही। किसी के 'ध्यान' में वे 'नई मंजिलों' की 'पुकार' सुनते हैं। श्री प्रेमप्रकाश जी गौतम कहते हैं—

'आज एकाकी हुआ मैं, किन्तु चलता ही रहूँगा !'

('मरु-भूमि')

छाया-वाद की वह काव्य-धारा जीवन-भवन की मूल-शिला से दूर, संसार के निषेध पर आधृत, छूँछे आदर्श-वाद के वायवीय कल्पना-लोक में टिके हुए भावानुभूत्याभास पर नहीं बही है। वह ऐसी काव्य-त्रिपथगा है जो जीवन-सत्य के कमण्डल से निकल कर केवल भौतिक सत्यों की ही भूमि पर न बहकर, जीवन-पोषी मानों की ऊँचाई के आकाश एवं उनके मूलों के 'पाताल' को भी पावन किये हुए है। इसमें आई हुई निराशा, वेदना, अवसाद एवं औदास्य की झिलमिल छायाएँ भी, पलायन नहीं, क्षोभ, घृणा एवं असंतोष की दिशाओं से जीवन की ओर चलने वाली भाव-चिन्ता-धारा के विविध रूप हैं। छायावादी युग की उन्मत्तता का मानो उत्तर देते हुए, महाकवि 'पंत' ने कहा है—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्षों का;
लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
मैं इच्छा से उन्मन, उन्मन। —('गुंजन')

यह उन्मत्तता दौर्बल्य-जनित 'पलायन' नहीं, मानवता के शिव, सत्य एवं सुन्दर बनाने की इच्छा का विकास है। यही 'बच्चन' में जाकर व्यक्ति-वाद का सशक्त और कभी-कभी उत्कट स्वर बन गया है। वे तो रचयिता को भी फटकार देते हैं—

'कुछ मेरे भी वश में मेरा, कुछ सोच समझ अपमान करो'

इस छायावादी काव्य-प्रयास के विकास में एक सांस्कृतिक दृष्टि एवं

राष्ट्र-प्रेम की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। सौन्दर्य के सूक्ष्म रूपों के प्रति आकर्षण, प्रेम की उपयोगिता एवं उसकी शक्ति का आकलन, करुणा की महत्ता, दुःख की स्वीकृति, दुखियों के प्रति संवेदना—सहानुभूति आदि तत्व जहाँ एक ओर मानव के पशुत्व के परिष्कार एवं स्वार्थ के संस्कार की दिशा में संकेत करते हैं, वहीं 'बौद्ध धर्म' का प्रभाव, शैव-दर्शन, दुःख-वाद, अद्वैत-वाद एवं स्वामी रामतीर्थ तथा विवेकानन्द के दार्शनिक विचार, महर्षि रमन की चिन्ता-धारा तथा मानव-वाद एवं रहस्य-वाद की प्रवृत्तियाँ, व्यक्ति-स्वातंत्र्य की पुकार और जन-साधारण तथा युग-संस्कृति के निर्मायक तत्वों के संकेत, एक उदार एवं मानव-वादी संस्कृति की दिशा में उसके पद-चिह्नों के 'परिचायक' हैं। 'प्रसाद' जी प्रारम्भ में बौद्धों की करुणा की भावना से बड़े प्रभावित हुए हैं। उनके 'अजात शत्रु' नाटक में स्वयं भगवान् 'बुद्ध' ही विश्व-बन्धुत्व एवं करुणा का पावन संदेश लेकर अवतरित हुए हैं। 'स्कन्द गुप्त' में स्वयं स्कन्दगुप्त तथा देवसेना' के चरित्र भी बौद्ध करुणा के प्रभाव से तुहिन-सजल हैं। 'आँसू' की अश्रु-पूत भावनाएँ करुणा की आकाश-गंगा में स्नात होकर अध्यात्म-मंडित हो उठी हैं। 'प्रसाद' जी ने अपने नाटकों में तत्कालीन सांस्कृतिक दृष्टि एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों से प्राण-स्पन्दित वातावरण को चित्रित करने का सफल प्रयत्न किया है। बौद्ध धर्म की सारभूत विशिष्टताएँ निम्न पंक्तियों में पढ़ी जा सकती हैं—

'छोड़ कर जीवन के अतिवाद,
मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश,
तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व-मानवता का जय-घोष,
यहीं पर हुआ जलद-स्वर मन्द।
मिला था वह पावन आदेश,
आज भी साक्षी हैं रवि-चन्द्र॥'—'(लहर')

'बौद्ध'-विचारों से सेवा-भाव, विश्व-मानवता एवं करुणा की विभूति लेकर 'शून्य-वाद' को छोड़ दिया। वे 'दुःखवाद' एवं 'क्षणिक-वाद' को भी मानते दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु वे 'क्षण' में ही शाश्वत की भी अनुभूति कर लेते हैं। दुःख के अस्तित्व को मानते हुए भी वे क्षणिक सुख को भी महत्व देते हैं। अहंकार को मिटा कर ही मनुष्य सामरस्य पा सकता है, जो वास्तविक सुख है—

'मानव-जीवन-वेदी पर,
परिणय है विरह-मिलन का।
सुख-दुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का मन का।'

+ + +

'हो उदासीन दोनों से,
दुख-सुख से मेल कराएँ।
ममता की हानि उठा कर,
दो रूठे हुए मनाएँ!!'- 'आँसू')

धीरे-धीरे 'प्रसाद' जी 'शैववाद' के 'आनन्द-वाद' की ओर अग्रसर होते गये। 'कामायनी' उनके इस विकास-पथ की चरम-स्थिति है। मानव-जीवन तथा उसका अन्तर्जगत् सदैव भाव-द्वन्द्वों के संघर्ष से ही विक्षुब्ध रहता है। किसी भी वस्तु का अतिरेक उसके विरोधी गुण का सर्जन करता है। अतः द्वन्द्वों के सामरस्य में ही जीवन की आनन्दावस्था है। 'कामायनी' का 'आनन्दवाद', देवों का वह उच्छृङ्खल आनन्द नहीं जो वासना की उपासना है। श्रद्धा (विश्वास-भाव) एवं बुद्धि (इड़ा) के संतुलन में ज्ञान, इच्छा और कर्म का सामंजस्य ही जीवन का आनंद-पथ है—

'ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;

एक दूसरे से न मिल सकें
यह विडम्बना है जीवन की।"—(कामायनी')

'जीवन-वसुधा समतल है, समरस है जो कि जहाँ है।' इस प्रकार बुद्धि के श्रद्धा-विरहित विकास से उत्पन्न, आधुनिक युग के कर्म एवं विज्ञान-प्रधान द्वन्द्वमयी प्रगति की त्रुटियों पर 'प्रसाद' जी ने आघात करते हुए, जीवन की नवीन दिशा का संकेत किया है। 'प्रसाद' जी ने अपने 'रहस्य-वाद' शीर्षक लेख में भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के इतिहास की पृष्ठ-भूमि में इस आनन्द-वादी जीवन-दृष्टि का निरूपण भी किया है। उन्होंने इसी सिलसिले में यह भी सिद्ध किया है कि 'रहस्यवाद'—'छायावाद' की आधुनिक प्रवृत्ति भारतीय ही है। 'निराला' के काव्य में अद्वैतवादी दर्शन की दृष्टि स्पष्टतः परिलक्षित है। 'सूफी'-प्रभाव एवं 'दुःखवाद' से मुक्त इनकी दार्शनिक रचनाएँ इनके सबल व्यक्तित्व की परिचायक हैं। 'वासन्ती' शीर्षक 'परिमल' की कविता में प्रतीकात्मक शैली में, प्राचीन रूढ़ियों के स्थान पर जीवन के नवीन स्वर का स्वागत करते हैं, तो दार्शनिक रचनाओं में वे भारतीय अद्वैतवाद का स्वर ऊँचा करते हैं। 'बीज-वृक्ष-संबन्ध' के सहारे, हमारे यहाँ शास्त्रों में इस विषय की अज्ञेयता की ओर प्रायः संकेत किया गया है कि वास्तव में तात्विक दृष्टि से 'कारण' एवं 'कार्य' का निर्धारण कितना कठिन है। कण के प्रति उक्ति है—

'विन्दु ! विश्व के तुम कारण हो
वा यह विश्व तुम्हारा कारण ?
कार्य पंच-भूतात्मक तुम हो,
या कि तुम्हारे कार्य भून गण ?—('परिमल')

'भेद' में 'अभेद' एवं 'नानात्व' में 'एकत्व' की सुपरिचित अद्वैतवादी झाँकी निम्न पंक्तियों में देखी जा सकती है—

'जग का एक देखा तार।
कंठ अगणित, देह सप्तक, मधुर स्वर-झंकार,

बहु सुमन, बहुरंग, निर्मित एक सुन्दर हार।
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा भार ॥"

\+ \+ \+

पास ही रे, हीरे की खान, खोजता कहाँ और नादान!' –'गीतिका'

'निराला' जी ने साम्यदृष्टि का प्रचार करते हुए भी 'भौतिकतावाद' का विरोध कर 'आत्मवाद' की पुष्टि की है। शरीर ही सब कुछ नहीं—

'भूख अगर रोटी की ही मिटी,
भूख की ज़मीन न चौरस पटी,
और चाहता है वह कौर उठाना कोई,
देखो उसमें उसकी इच्छा कैसे रोई?' –('अणिमा')

'भगवान् बुद्ध के प्रति' कविता में आज की एकांगी भौतिक प्रगति पर आक्षेप है—

'आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर,
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर।' –('अणिमा')

महाकवि 'पन्त' जिस प्रकार आरम्भ से एक सौन्दर्यवादी दर्शन को ही अपना जीवन-दर्शन मानते हुए दिखलाई पड़ते हैं, उसी प्रकार उनकी काम-चेतना में भी एक सांस्कृतिक दृष्टि-कोण, चिन्तन की एक क्षीण-धारा प्रारम्भ से ही परिलक्षित होती है। 'ज्योत्स्ना' में आकर कवि का यह दृष्टिकोण अधिक सुस्पष्ट हो गया है। जुगनू, लहर, तारा, संध्या आदि प्राकृतिक उपकरणों को पात्र बना कर, 'पन्त' जी ने उसमें समाज एवं उसकी परंपराओं तथा आज की परिस्थिति में, उनके उपादेय रूपों की ओर संकेत किया है। आधुनिक प्रजातन्त्रीय एवं साम्यवादी विचारधाराएँ भी उसमें प्रकाशित हुई हैं। विवाहादि की समस्या एवं सम्पत्ति आदि आर्थिक पहलुओं पर भी विचार व्यक्त किये गये हैं। 'पन्त' की प्रतिभा बड़ी समन्वय-शीला एवं सामयिक प्रश्नों के प्रति प्रगति-चेता रही है। प्रारम्भ के प्राकृतिक दर्शन एवं सौंदर्यवादी प्रवृत्ति से लेकर, बनवादी विचारधारा, गांधीवाद,

साम्यवाद एवं महर्षि 'रमन' के दर्शन तक कवि की प्रतिभा-यात्रा के सभी पाषाण-चिह्न, आधुनिक समाज के सामने एक स्वस्थ एवं उपादेय सांस्कृतिक समाधान रखने के उनके प्रयत्न के ही द्योतक हैं। कवि संसार की वेदना में तपकर जीवन की पूर्णतम मूर्ति रचना चाहता है—

कवि संसार के दुःख एवं सुख के विषम वितरण से विक्षुब्ध है, अतः चाहता है—

'तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में जल;
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल।
+ + + +
अपने सजल स्वर्ग से पावन,
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढल रे ढल आतुर मन !''—('गुंजन')

कवि संसार के दुःख एवं सुख के विषम वितरण से विक्षुब्ध है, अतः चाहता है कि—

'जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से;
मानव-जग में बँट जावे,
दुख-सुख से औ' सुख दुख से।'

यही नहीं, वह 'जीर्ण-प्राचीन' से कहता है—

द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त-ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, मधु वात-भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन !—('पतझर'-कवितासे)

'आधुनिक कवि' के 'पर्यालोचन' के पृष्ठ तीन पर 'पन्त' जी ने लिखा है—

'मानव-स्वभाव का भी मैंने सुन्दर ही पक्ष ग्रहण किया है, इसी से मेरा मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं से कट कर भावी समाज की कल्पना की ओर प्रधावित हुआ है।......और वह (मानव) अपने लिये ऐसा 'मानवता का प्रासाद' निर्माण कर सकेगा जिसमें 'मनुष्य-जीवन की क्षण-धूलि' अधिक सुरक्षित रह सकेगी, यह आशा मुझे अज्ञात रूप से सदैव आकर्षित करती रहती है—

'मनुज प्रेम से जहाँ रह सके,—मानव ईश्वर!
और कौन-सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर?'

पृष्ठ १६ पर पुनः 'पन्त' जी लिखते हैं—

'भले ही इस समय उसकी (मनुष्य-स्वभाव की सीमाओं की) देन अत्यन्त स्वल्प हो और अन्धकार की प्रवृत्तियों पर कुछ समय के लिये विजयी हो रही हो, किन्तु एक कलाकार और स्वप्न-द्रष्टा के नाते मैं दूसरे प्रकार की सांस्कृतिक अभ्युदय की शक्तियों को बढ़ाने का पक्षपाती हूँ।' 'गुञ्जन' में 'निस्तल जल' में रहनेवाली 'मोतीवाली मछली' को पकड़ने में डूबने का भय करनेवाला कवि 'तट की चल जल-माली' को छोड़, जीवन की धार में उतर गया है। 'युगान्त' के पश्चात् 'युग-वाणी' तक पहुँचते-पहुँचते कवि अनुभव करने लगता है कि आज के युग की समस्या राजनीतिक से अधिक सांस्कृतिक है—

'राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत् के सम्मुख,
आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या, जग के निकट उपस्थित!'

\+ \+ \+ \+

'सामूहिक मानव को निर्मित करती है संस्कृति नव' ('युगवाणी')

'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि', 'उत्तरा', 'युगान्तर' में चलकर जहाँ कवि ने 'अविचेतन मन' और उसके 'ऊर्ध्वस्वर' की समस्याओं को ग्रहण

करते हुए 'अन्तस्चेतना' के विकास का पथ प्रशस्त करना चाहा है, वहाँ कवि के मन की सांस्कृतिक समस्या और अधिक उभर आई है। यद्यपि श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त अपने 'आधुनिक-हिन्दी-साहित्य' में एवं श्री रामविलास शर्मा ने 'ग्राम्या' के पश्चात्, 'पंत' जी के काव्य के नवीन मोड़ को 'क्षीण कला' एवं 'भ्रान्त दिशा' के नाम से अवमानित किया है, फिर भी भारतवर्ष की परिवर्तित राजनीतिक परिस्थितियों में, 'पंत' जी की प्रतिभा के इस घुमाव को अभिनन्दनीय ही कहा जायगा। यहाँ आकर कवि ने भारतीय संस्कृति के मूलाधारों एवं प्रतीकों की नवीन व्याख्याएँ भी की हैं, समाज में विधवा और पथ-भ्रष्टा कह कर सदा के लिए कलंकित घोषित कर दी जाने वाली अभागिनी नारियों के उद्धार का प्रश्न भी उठाया है। 'निराला' की 'विधवा' कविता विधवाओं के लिये कवि के हृदय में पुंजीभूत राशि-राशि समवेदना का प्रमाण है। 'प्रसाद' और 'निराला' के उपन्यास भी सांस्कृतिक प्रश्नों से ओत प्रोत हैं। महादेवी जी के 'रहस्यवाद' एवं 'दुःख-वाद' में भारतीय संस्कृति की पृष्ठ-भूमि तो है ही, उनकी समस्त काव्य-साधना एवं व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की सांस्कृतिकता का ज्वलन्त रूप है। उनके काव्य में व्यक्त वेदना एवं कारुणिकता का रूप मानवात्मा के संस्कार का ही पथ है। अपने रेखा-चित्रों एवं 'शृंखला की कड़ियाँ' नामक पुस्तक में उन्होंने मानव के जीवन-रूप को उभाड़ने का प्रयत्न किया है और नारी-समस्या पर जैसा गम्भीर चिन्तन उपस्थित किया, वह उनकी सांस्कृतिक दृष्टि का पर्याप्त परिचायक है। डा० रामकुमार जी वर्मा के एकांकी नाटक एवं उनकी कविताएँ पाठकों के लिये एक दार्शनिक एवं सांस्कृतिक सौन्दर्य से आवेष्ठित हैं। पं० माखन लाल चतुर्वेदी में भारतीय वैष्णव-भावना का शील एवं नवयुवकों के नवीन-मनोनिर्माण की कविता-गत पुकार प्रकट है। 'बच्चन', 'दिनकर', 'नरेन्द्र' भगवती चरण वर्मा, उदय शंकर भट्ट, 'वियोगी', शम्भूनाथ सिंह, 'नेपाली', जानकीवल्लभ शास्त्री, हंसकुमार, 'कोकिल', 'भारती', 'विश्व', 'महेन्द्र', गिरिधर, 'विरागी',

रमानाथ, सुरेन्द्र, राम दरश, वीरेन्द्र मिश्र, 'अग्रदूत', नर्मदेश्वर, 'नीरज' आदि जितने भी 'उत्तर-कालीन छायावादी काव्य-धारा' के कवि हैं, सभी ने जीवन एवं उसकी विधि के प्रति अपना कोई न कोई दृष्टिकोण व्यक्त किया है, चाहे वह मधु-सुख-वादी रहा हो अथवा प्रेम, मानवता, सामाजिकता या नश्वरता-अमरता से प्रभावित। उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकला कि 'छायावादी काव्य' में संस्कृति के प्रति एक सजग चेतना की अन्तर्धारा वर्तमान रही है। इस दिशा में 'प्रसाद', 'निराला', महादेवी, रामकुमार वर्मा तथा माखनलाल चतुर्वेदी ने नवीनता को मनोनिविष्ट करते हुए भी, अपने सांस्कृतिक दृष्टि-कोण की पृष्ठ-भूमि के रूप में भारतीयता को इस प्रकार ग्रहण किया है कि वह उसकी ही एक कड़ी और आधुनिक परिस्थिति में उसका अग्र विकास-सा ज्ञात होता है। 'पंत', 'बच्चन', 'दिनकर', भगवती चरण वर्मा एवं नरेन्द्र आदि ने पाश्चात्य दर्शनों को ही अपना पृष्ठाधार बनाया, किन्तु उन्होंने भी अपने अपने ढंग से, मात्रा-भेद के साथ अपने विचारों को या तो भारतीय आवरण देने का प्रयत्न किया है, या उसे भारत के वातावरण में भी सप्राण करने के लिये नवीन वृक्षारोपण किया है। 'ग्राम्या' के बाद 'स्वर्ण-किरण' एवं 'स्वर्ण-धूलि' में 'पन्त' जी ने भौतिकता के सापेक्षिक महत्व को स्वीकार करते हुए भी, आध्यात्मिकता की ओर अपनी जो प्रवृत्ति दिखलाई है, वह उनकी समन्वयात्मक प्रतिभा का ज्वलन्त प्रतीक एवं सर्वभुक् चेतना का प्रत्यक्ष प्रमाण है। सीता आदि पौराणिक पात्रों को लेकर उन्होंने उनके जन्म आदि का जो रूपकात्मक अथवा प्रतीकात्मक वर्णन किया है, वह उनकी मौलिकता का संकेत है

इन कवियों ने मानव तथा मानव-समाज को सुखी एवं सुन्दर बनाने का सांस्कृतिक प्रयास किया। प्रत्येक कवि की भाव-धारा के अन्तराल में एक सांस्कृतिक तार खिंचा हुआ है, जो सर्वथा अभारतीय नहीं; किन्तु उन्हें शत-प्रतिशत भारतीय सिद्ध करने का द्राविड़-प्राणायामी प्रयास भी अतिरेक-शून्य न होगा। छायावादी काव्य की यही सांस्कृतिक चेतना यह सिद्ध करती है

कि वह मात्र एक कलात्मक प्रयास ही नहीं था, वरन् वह तत्कालीन जीवन की एक स्वस्थ प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ था। तत्कालीन जीवन एवं परिस्थितियों के प्रति असंतोष की जो भावना, दार्शनिक सांस्कृतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में गूँजकर, अपनी उन्मन-प्रमन झंकार से जीवन के जीवित मानों के प्रति एक चेतना जगा रही थी, वह देश के राजनीतिक द्वार से भी टकराई और तत्कालीन कवियों ने देश एवं राष्ट्र के प्रति भी अपने प्रेम-पूर्ण उद्गार व्यक्त किये। इनमें कितनों ही ने तो महात्मा गांधी द्वारा संचालित असहयोग-आन्दोलन एवं सत्याग्रह में भी भाग लिया, कारागार की काली दीवारों की छाया में, रात की सुनसान घड़ियों को गुंजन से मुखरित करने वाली देश-भक्ति-सम्बन्धी इन रचनाओं ने देश के विचार-शील व्यक्तियों को भी उद्रिक्त किया। इस स्थान पर यह संकेत कर देना कदाचित् असंगत न होगा कि इन राष्ट्र-प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं में अंग्रेजी के स्वदेश-सम्बन्धी रचनाओं की-सी साम्राज्य-वादी एवं अपने ही राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों के जन्म-जात शासक सिद्ध करने-जैसी संकुचित भावना नहीं पाई जाती। यह देश-प्रेम मानव-हृदय की उदात्त वृत्तियों-क्षमा, दया, उदारता, त्याग एवं बलिदान पर पल्लवित हुआ है। इसमें अन्य देश-सापेक्ष-ईर्ष्या या प्रतियोगिता की प्रेरणा नहीं, अपने देश की विभूतियों के प्रति सहजात अनुराग एवं अपनी सांस्कृतिक-राष्ट्रीय परंपरा के वरदानों के लिये उल्लास की स्वस्थ मनोवृत्ति का प्रकाश जगमगा रहा है।

'चन्द्रगुप्त नाटक' में भारती की गरिमा पर रीझी ग्रीस-निवासिनी 'कार्नेलिया' के स्वरों में देश-प्रेम का जो परिष्कृत, उदात्त एवं व्यापक रूप प्रकट हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को, मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ-विभा-पर, नाच रही तरु-शिखा मनोहर,
छिटका जीवन-हरियाली पर, मंगल-कुंकुम सारा।

लघु-सुर-धनु-से पंख पसारे, शीतल मलय-समीर सहारे,
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये, समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल, बनते जहाँ भरे करुणा-जल,
लहरें टकरातीं अनन्त की, पाकर जहाँ किनारा।"

इसी प्रकार निम्न प्रयाण-गीत भी अपनी पुण्य उदारता एवं स्वच्छ उच्चता में कितना ओजोमय है—

'हिमाद्रि तुंग- शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती!
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है बढ़े चलो, बढ़े चलो!!'

('चन्द्रगुप्त')

इसी प्रकार इन पंक्तियों में भारत का कितना पुण्य-प्रभ एवं आलोक-मय चित्रण हुआ है! लगता है, जैसे सामने से यवनिका उठ गई हो और किसी दिव्य कलाकार के हाथों स्वर्ण-कुंकुम से रचित हिमालय के भाल से, उन्नत भारत की भव्य मूर्ति प्रकाशित हो उठी हो—

'हिमालय के आँगन में प्रथम, जिसे किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक-हार॥
जगे हम लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक॥'

('स्कन्दगुप्त')

जातीयता का विकास दिखाते हुए 'प्रसाद' जी की उक्ति है—

सुना है दधीचि का वह त्याग, हमारा जातीयता-विकास।
पुरन्दर ने है पवि से लिखा, अस्थि-युग का मेरे इतिहास॥

हमने अपने आदि-पुरुष 'मनु' के हाथों, प्रलयकाल का शीत झेलकर

बीज-रूप में सृष्टि की रक्षा करते हुए, वरुण-पथ (सिंधु) से निर्भय प्रयाण किया था। समुद्र में एक भारतीय निर्वासित (राम) के उत्साह के चिह्न अब भी विद्यमान हैं—

'बचा कर बीज-रूप में सृष्टि, झेलकर प्रलय-काल का शीत।
अरुण-केतन लेकर निज हाथ, वरुण पथ में हम बढ़े अभीत ॥'

('स्कन्दगुप्त')

× × ×

'एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही, अभी दिखाई मग्न भग्न रत्नाकर की वह राह ॥'

इन पंक्तियों में साम्राज्य-लिप्सा की दुर्गन्ध एवं पर-स्वत्व-हरण की शोषक मनोवृत्ति की गंध ढूँढ़े भी न मिलेगी। त्याग-मयी अपनी राष्ट्रीय परम्पराओं एवं मानवता के विकास की दिव्य ऊँचाइयों के सिवा कोई भी विद्वेष-मूलक अनुभूति नहीं। वास्तव में प्रेम के विविध रूपों-व्यक्तिगत प्रेम से लेकर विश्व-प्रेम तक प्रसृत उदात्त अनुभूतियों का जो निर्मल-निष्कलुष अभिव्यंजन छायावादी युग में सम्भव हुआ, वह अपने ढंग का अनुपम है। उसमें देवत्व के मृत मानों की रूखी झंकार नहीं, वरन् जीवन-स्वस्ति मानव का स्वस्थ-सुसंस्कृत स्वर है, जिसकी उदार छाया में, आज के आहत मानव एवं खंडित मानवता के लिये नवीन संदेश लहरा रहा है। महा-युद्धों के बादलों की गड़गड़ाहट के नीचे, परस्पर विद्रोह के सनसनाते हुए प्रभंजन के ऊपर, मानवता की रक्षा का आशा-राग गानेवाला, भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीयता का यही पावन वीणा-स्वर, अन्तर्राष्ट्रीयता के सच्चे रूप तथा देश-देश के बीच स्थित होनेवाले वास्तविक सम्बन्ध का निर्देशक है।

'भारति जय विजय करे' जैसी पंक्तियों के अमर गायक महाप्राण 'निराला' जी ने भी छायावाद की वीणा से एक विशाल-मानव-मूलक राष्ट्रीयता का मन्द्र निर्घोष निकाला है। उनकी वाणी में भी कहीं संकुचित

राष्ट्रीयता का अवरोह नहीं। जहाँ पर इस राष्ट्रीय गौरव को भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि से अभिव्यक्त किया गया है, वहाँ बड़ा बल आ गया है। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का लक्ष्य वर्तमान को अभिनव जाग्रति एवं उद्‌बोध का संदेश देना ही है। 'जागो फिर एक बार' और 'महाराज जयसिंह को शिवाजी का पत्र' नामक कविता इस दिशा में अपने ढंग की अनूठी है। 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता में कवि ने भारत-वासियों की निद्रा-वस्था एवं अतीत काल के शौर्य की झाँकी उपस्थित कर, देश के लिये भविष्य एवं कर्तव्य-कर्म का बड़ा ही मार्मिक संकेत दिया है। 'हमारा डूब रहा दिन-मान' कविता में वर्तमान की वस्तुस्थिति की जागरूकता भी है—

'तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्
है नश्वर यह दीन-भाव,
कायरता, काम-परता
ब्रह्म हो तुम,
पद-रज भर भी रे, नहीं पूरा यह विश्व-भार—
जागो फिर एक बार!'

\+ \+ \+ \+

'समर में अमर कर प्राण
गान गाये महा सिंधु से
सिन्धु-नद-वासी।—
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरंग-चमू-संग;
सवा-सवा लाख पर,
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविंद सिंह निज नाम तब कहाऊँगा।'
किसने सुनाया यह वीर-जन-मोहन अति
दुर्जय संग्राम-राग.........

शेरों की माँद में
आया है आज स्यार—
जागो फिर एक बार।'

निरीह कायरता पर कैसी भर्त्सना है—

'सिंही की गोद से
छीनता रे शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण ? रे अजान !
एक मेष-माता ही
रहती है निर्निमेष—
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं
गीता है, गीता है—
स्मरण करो बार बार
जागो फिर एक बार।'—('परिमल')

'शिवाजी का पत्र' शीर्षक कविता में, यवनों के आघातों के विरुद्ध शिवाजी द्वारा किये गये एक सांस्कृतिक प्रयास एवं जातीय-रक्षा का प्रयत्न संकेतित है।

कारागार की दीवालों को भी अपनी तरल-मधुर एवं ओजोमयी रागिनी की गुञ्जार से पिघला देनेवाले श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी अपने व्यष्टि-भेद को छोड़ भारत की आत्मा से ही तदात्म हो, 'एक भारतीय आत्मा' बन गये। 'कैदी और कोकिल' शीर्षक कविता में 'कोल्हू की चर्रक-चूँ' उनके जीवन की तान बन गई है—

गिट्टी पर अङ्गुलियों ने लिक्खे गान,
कोल्हू का चर्रक-चूँ' जीवन की तान
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ,

खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूँआ।
दिल में मत करुणा जगे रुलानेवाली,
इस लिए रात में गजब ढा रही आली।
इस शान्त समय में अन्धकार को भेद—
रही क्यों हो कोकिल, बोलो तो !
चुपचाप मधुर विद्रोह-बीज इस भाँति,
बो रही क्यों हो कोकिल, बोलो तो !"

श्री पं० माखनलाल चतुर्वेदी की राष्ट्रीय कविताओं में तत्कालीन भारतीय समाज की दुरवस्था के चीत्कार कविता बन कर फूट पड़े हैं। उनमें आकुलता नहीं, मुक्ति की एक स्वस्थ–शांतरा साधना है, जो शील से उज्ज्वल है। 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता में उन्होंने उस समय की मुक्ति-कामी तरुणाई की चाह को वाणी दे दी है। इस कविता का एक ऐतिहासिक महत्व भी है। किसी समय इसका पाठ एवं स्मरण कर देश के लिए सर पर कफन बाँध कर चलने वाले नौनिहाल राष्ट्र-सिपाही हँसते हँसते जेलों के भीतर अपनी जवानी की समाधि दे देते थे—

"मुझे तोड़ लेना बन-माली ! उस पथ पर तुम देना फेंक,
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने जिससे जायें वीर अनेक।"

'वेदना-गीत' में कराह को साँसों की हुँकार बनाने का स्पृही कवि अपने वेदना–गीत को गगन छेद जाने को उत्साहित करता है—

'आह ! गा उठे हिमांचल पर तेरी हुई पुकार;
बनने दे तेरी कराह को साँसों की हुंकार।
और जवानी को चढ़ने दे बलि के मीठे द्वार;
सागर के धुलते चरणों से प्रश्न उठे इस बार—
अन्तस्तल के अतल-वितल को क्यों न बेध जाते हो ?'

'चतुर्वेदी' जी ने राष्ट्र-सेवा एवं स्वातंत्र्य-संग्राम को भी एक वैष्णवी शील-साधना की पवित्रता प्रदान की है। इनके राष्ट्र-प्रेम में ध्वंस की भीषण

ज्वाला भी, साधना की शीतलता में नव-नीत-स्निग्ध हो उठी है। यही कारण है कि उसमें 'इधर-उधर से आने वाली हिलोरों' के द्वारा 'प्राणों के लाले' पड़ा देने वाला झंझा-वेग नहीं, राष्ट्रीयता की आग के अंगारों को अपनी अच्युत शालीनता से शीतल कर देने वाले वार्लि-पंथी रक्त का स्वस्थ वेग है। 'एक भारतीय आत्मा' में राष्ट्रीयता आवेग-उद्वेग नहीं, एक स्थायी भाव बन गई है—

"टुकड़ों पर जीवन की साँसें, कितना सुन्दर दर है"
मैं उन्मत्त तलाश रहा हूँ कहाँ वधिक का घर है?

इस उन्मत्तता में भी कितनी स्वस्थता है!

'मैं हूँ एक सिपाही' कविता में सिपाही का परिचय कितने जीते जागते, किन्तु संक्षिप्त ढंग से दिया गया है—

"सिर पर, प्रलय नेत्र में मस्ती, मुट्ठी में मनचाही,
लक्ष्य मात्र मेरा प्रियतम है, मैं हूँ एक सिपाही!"

'नवीन' के विप्लव-गायन में ध्वंस की चहचहाती चिनगारियाँ एवं नाश का धुवाँ बरसता है। उनकी राष्ट्रीय कविताओं में ऐसा एक-श्वासी उद्वेग दिखलाई पड़ता है जो अत्याचारों से अकुलाकर नाश तथा महा प्रलय का ताण्डव रचाने लगता है—

"बरसे आग जलद जल जाये, भस्म-सात भूधर हो जाये;
पाप-पुण्य, सदसद् भावों की, धूल उड़ उठे दायें-बायें।

+ + + +

नाश! नाश!! हा महानाश!!! की प्रलयंकरी आँख खुल जाये,
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये।"

आचार्य 'शुक्ल' जी जैसे विद्वान् आलोचकों ने ऐसी कामना को असंयत एवं उद्भ्रान्त सिद्ध किया है; किन्तु नाश की यह कामना कोई सिद्धान्ततः मान्य 'वाद' नहीं है, वरन् अपने चतुर्दिक् फैले शोषण-पीड़न के प्रति एक प्रकार की खीझ है, जो एक प्रकार से पुनर्निर्माण की ही

पुकार है और 'अत्युक्ति' की ओट से व्यक्त हुई है। केवल नाश के लिए नाश की भावना, किसी भी कवि का आदर्श नहीं हो सकती। कविता की सर्जनात्मक प्रवृत्ति के द्वार से ऐसी भावना की अभिव्यक्ति ही उसकी सर्जनात्मकता का स्वयं प्रमाण है। चक्की पीसनेवाला स्वाधीनता–संग्राम का बन्दी यह समझ रहा है कि 'नौकरशाही' के नाश की लीक खिंचती जा रही है और वह स्वयं पिस जायगा—

"तेरी चक्की के ये गेहूँ, पिसते हैं पिस जाने दो।
चक्की पिसवाने वाले को मिट्टी में मिल जाने दो॥"—('कुंकुम')

श्री 'पन्त' जी की भावुक कल्पना ने भी महात्मा गांधी के राष्ट्रीय व्यक्तित्व का महत्व समझा था। वे राष्ट्रीयता के भी बहुत आगे बढ़ कर, 'साम्यवाद' तक पहुँच गये, 'ग्राम-वासिनी' भारतमाता को वे भी न भूल सके—

"हर के चरखे में कात सूक्ष्म युग-युग का विषय-जनित-विषाद,
गुंजित कर दिया गगन जग का, भर तुमने आत्मा का निनाद।
रँग-रँग खद्दर के सूत्रों में, नव-जीवन आशा, स्पृहा, ह्लाद,
मानवी कला के सूत्र-धार! हर दिया यंत्र-कौशल-प्रवाद!"
—('पल्लविनी'–'बापू के प्रति')

कवि ने गाँधी जी को विश्व-मंच पर जीवन के सूत्रधार के रूप में देखा है, जिसने मन के पटलों को उन्नतकर चरित्र का नवोद्धार कर दिया। 'भारत माता' शीर्षक कविता में भारत-माता की विषण्ण-मूर्ति का दर्शन कितना करुण है—

'भारत माता ग्राम–वासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल-भरा मैला-सा आँचल,
गंगा-यमुना में आँसू-जल
मिट्टी की प्रतिमा 'उदासिनी।'

(सुश्री महादेवी वर्मा ने भी अकाल-पीड़ित 'बंग-भू' को 'शत अर्चना' समर्पित की है। महादेवी की रहस्य-साधना एवं राष्ट्र-प्रेम में यद्यपि क्षेत्र-गत अन्तर है, किन्तु जब भी राष्ट्र-प्रेम एवं देश-भक्ति की समस्या प्रमुख हो उठी है और उसे कविता का रूप देना पड़ा है, महादेवी जी की वाणी अपने गौरव-मय स्तर से कभी भी नीचे नहीं रही। बंगाल की भूमि को, इस ज्ञान-गुरु देश की कविता कहना' कितना व्यंजना-पूर्ण एवं मार्मिक है—

"बंग-भू शत अर्चना ले।

\+ \+ \+

ज्ञान-गुरु इस देश की कविता, हमारी वन्दना ले !
अर्घ्य आज कपाल देते शून्य कोटर-प्यालियों से !
अंक में झेला कठिन अभिशाप का अंगार पहला !
ज्वाल के अभिषेक से तूने किया शृंगार पहला,
आह, तेरे स्वप्न क्या कंकाल बन-बन डोलते हैं !"

अन्तिम पंक्ति में बंग-वासियों की दुरवस्था और उनके अतीत रूप की वर्तमान स्थिति ही मानों करुणा में रो उठी है। डा० राम कुमार वर्मा ने गांधी जी के निर्वाण पर लिखी अपनी 'दीप-निर्वाण' कविता में महात्मा जी के व्यक्तित्व को आँकने का प्रयत्न किया है—

"जब कि सदियों से भरी परतंत्रता की रात बीती,
प्राण-दीपक बुझ गया, तब भाग्य-लिपि की घात जीती !
देवता था वह बना मानव हमारे त्राण में।
आज कैसी ज्योति है इस दीप के निर्वाण में !!"

—('अर्चना के फूल' पृ० १८)

'दिनकर' ने अपनी 'हिमालय के प्रति' कविता में हिमालय के प्रति अपनी भावनाओं की जो अभिव्यक्ति की है उसमें भारत की सांस्कृतिक चेतना एवं राष्ट्रीय गौरव-परंपरा का स्वर स्पष्ट है। 'बन-बन स्वतंत्रता दीप' लेकर फिरनेवाले देश-पुत्रों की खोज है—)

'मेरे नगपति मेरे विशाल!
ओ मौन तपस्या-लीन यती!
पलभर को तो कर दृगोन्मेष!
रे, ज्वालाओं से दग्ध-विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश!..

\+ + +

कितनी मणियाँ लुट गईं? मिटा—
कितना मेरा वैभव अशेष!
तू ध्यान-मग्न ही रहा इधर-
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश।
कितनी द्रुपदा के खुले बाल
कितनी कलियों का अन्त हुआ?
कह हृदय खोल चित्तौर यहाँ—
कितने दिन ज्वाल-वसंत हुआ?' —('रेणुका')

'पाटलिपुत्र की गंगा से' शीर्षक कविता में कवि गंगा से पूछ रहा है—

'तुझे याद है चढ़े पदों पर
कितने जय-सुमनों के हार?
कितनी बार समुद्रगुप्त ने
धोई है तुममें तलवार?

\+ + +

विजयी चन्द्रगुप्त के पद पर,
सैल्यूकस की वह मनुहार,
तुझे याद है देवि! मगध का-
वह विराट् उज्ज्वल शृंगार?
जगती पर छाया करती थी
कभी हमारी भुजा विशाल,

बार-बार झुकते थे पद पर
ग्रीक यवन के उन्नत भाल।'—('रेणुका')

'द्वन्द्व-गीत' में 'दिनकर' जी ने मरघट में भी जीवन जगाने एवं मुर्दों को भी जिला देने में ही सार्थकता समझी है। कवि को पश्चात्ताप है कि धरती से व्याकुल आह उठी, पर वह उस भूमि-दाह को सह न सका! भला वह अपने प्रभु के सामने अपनी इस असमर्थता के लिए कैसे मुँह दिखलावेगा—

'धरती से व्याकुल आह उठी, मैं दाह भूमि का सह न सका।
दिल पिघल-पिघल उमड़ा लेकिन, आँसू बनकर वह गल न सका!
है सोच मुझे दिन-रात यही, क्या प्रभु को मुख दिखलाऊँगा?
जो कुछ कहने मैं आया था वह भेद किसी से कह न सका।'

श्रीमती स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान, 'नेपाली', 'नरेन्द्र', 'बच्चन' 'वियोगी', शम्भूनाथ सिंह आदि कवियों में भी राष्ट्रीय गौरव एवं देश-व्यापी आन्दोलनों के प्रति जागरूकता दिखाई पड़ती है। देश-भक्ति छायावादी कविता का सर्वमुख स्वर नहीं, क्योंकि वह तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति असंतोष एवं विद्रोह का प्रारम्भ तो था, किन्तु उसमें प्रारम्भ में व्यक्ति-चेतना ही प्रमुख थी; समष्टि-चेतना की मात्रा क्रमशः बाद में बढ़ती गई है। फिर भी देश एवं राष्ट्र के प्रति प्रकट किये गये 'छायायुगीन' उद्गार, मात्रा में कम होते हुए भी उत्तमता में किसी प्रकार कम नहीं। 'छायावादी काव्य-साधना' तो व्यक्ति के अन्तरतम में गुञ्जरित वह मतवाली रागिनी है जो मानव-अनुभूति के यावत् स्तरों को न्यूनाधिक रूप में छूती हुई, स्थूलता से चलकर सूक्ष्मता की दिशा में मोड़-मूर्छनाएँ लेती, बढ़ती चली गई है। 'छायावादी युग' ने 'द्विवेदी-काल' में फिर से ग्रहण किये गये जीवन-सूत्र को और बलवत्तर एवं सुन्दरतर बनाया है। 'द्विवेदी-युग' के देश-प्रेम-सम्बन्धी काव्य को 'प्रसाद' आदि द्वारा भावों का गाम्भीर्य एवं विस्तार मिला है, तो माखनलाल जी, 'नवीन' एवं 'दिनकर' आदि के

द्वारा अनुभूति की तीव्रता। छायावादी काव्य का यह पक्ष मात्रा में कम होते हुए भी, उपेक्षणीय कदापि नहीं है; वह हिन्दी-साहित्य की वर्तमान प्रगति का पूर्व-रूप है। आज का उठता हुआ कवि यह समझ गया है कि 'चल रहा हूँ, क्योंकि गति से पंथ का निर्माण होगा' और 'एक दिन तूफान बन्दी होगा!' इसी से वह 'पथ के गीत' गाता निर्बाध चलता जा रहा है।

छायावादी काव्य प्रधानतः गीतात्मक है। प्रारम्भ के कवियों ने स्फुट प्रगीतों में ही रचनाएँ प्रारम्भ कीं। गीत एवं प्रगीत में अन्तर स्पष्ट है। 'गीत' संगीत के स्वर-ताल-लय पर बँधी रचना होती है और 'प्रगीत' में संगीत का ऐसा कठोर बन्धन नहीं होगा। उसमें स्वर-मैत्री एवं नादार्थ-व्यंजना का प्राधान्य होता है, जिसे आन्तरिक संगीत और शब्द-जन्य संगीत भी कहा जा सकता है। भाव-तत्व की तन्मयता, कल्पना का सुखद स्पर्श एवं भाषा के स्वर-सामंजस्य को गीति-तत्व में सम्मिलित कर सकते हैं। भावों की यही आध्यान्तरिकता, चित्रात्मक अभिव्यक्ति एवं स्वर-मैत्री 'छायावादी युग, के प्रगीतों की विशेषताएँ हैं। छायावादी काव्य-धारा में 'प्रसाद', सेठ गोविन्ददास एवं 'उग्र' जी के नाटकान्तर्गत आये गीतों के अतिरिक्त महाप्राण 'निराला' ने 'परिमल' एवं 'गीतिका' में स्वतंत्र गीतों की सफल रचना की। इनमें वर्णनात्मकता की कमी एवं चरित्र-चित्रण की विश्लेषणात्मक मनोवैज्ञानिकता का अभाव होता है। भाव-सहजता एवं उद्रेक-शीलता का प्रवाह-सजीव वातावरण छायावादी प्रगीतों का विशेष आकर्षण है। 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला', महादेवी वर्मा, 'दिनकर' भगवती चरण वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, 'बच्चन', 'नेपाली', 'वियोगी', शम्भुनाथ आदि सभी का कृतित्व गीत-प्रगीत-बहुल है। 'प्रसाद' के 'प्रेम-पथिक' एवं 'पन्त' की 'ग्रंथि' में भी अन्तर्वेदिता अथवा आध्यान्तरिक उद्रेक-शीलता का ही प्राधान्य है। प्रगीतों में यदि वस्तु-विशेष का निर्देश भी है, तो भी उसमें वाह्यार्थ की प्रधानता नहीं। कवियों ने अपनी निजी अनुभूतियों, कल्पना-चित्रों एवं व्यक्तित्व-व्यंजकता को ही प्रामुख्य प्रदान किया है। 'छाया-वादी युग'

का आरम्भ ही एक असाधारण एवं उद्वेग-पूर्ण परिस्थिति में हुआ, जब कि मनोरागिनियाँ अथवा भावावेग ही प्रधान होते हैं। ऐसी दशा में मुक्तक, प्रगीतों एवं गीतों की ही प्रधानता स्वाभाविक है। तीव्र संवेदनाएँ गीत-प्रगीतों में ही स्वरमाण होती हैं, कथा-कहानियों का आवरण एक प्रकार का भार-सा अनुभव होने लगता है। जब कवि स्वनिष्ठ होकर, अपनी अन्त-र्वृत्तियों के निरूपण में सजग होता है तब वह वस्तु अथवा विषय की वाह्य वर्णना को नगण्य समझता है, किन्तु छायावादी प्रगीत-मुक्तकों में दोनों ही प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं—कभी-कभी, कवि वस्तु से अनुभूति उसके अन्तस्सौन्दर्य की ओर चलता हुआ दिखाई पड़ता है और कभी वाह्य जगत् के उपकरणों में से वह केवल उन्हीं को चयन करता हुआ दिखाई पड़ता है, जो उसकी अपनी अन्तर्वृत्ति के अनुकूल दिखाई पड़ते हैं। ऐसे स्थलों पर विषय अथवा वर्ण्य-वस्तु का एक हलका-धुँधला-सा आधार रहते हुए, एक रागात्मक उद्रेक अथवा संवेदनात्मक प्रभाव की संगीतात्मक अभि-व्यक्ति की प्रधानता होती है। एक बात और है सूर-तुलसी-मीरा एवं कबी-रादि के पदों की भाँति इन पदों में भावावेगों की उन्मुक्त उड़ान के स्थान पर, एक सचेत कला एवं एक सजग नाद-विन्यास प्रक्रिया परिलक्षित होती है। चित्रात्मक अभिव्यक्ति की सहज प्रवृत्ति भी छायावादी काव्य के वाह्य रूप की अपनी विशेषता है।

"छायावाद" जीवन एवं साहित्य की जड़ता के प्रति एक सजग विद्रोह भी है और इस नाते उसमें किन्हीं दिशाओं में अतिरेक की दुर्बलताएँ भी हैं, किन्तु इस सत्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वह जीवन-प्रेरित एवं जीवन-हेतुक है। उसमें चिरकाल से साहित्य में छायी जीवन-निरपेक्षता के विरुद्ध मानवीय सत्ता की स्वीकृति का स्वर स्पष्ट है।

'छायावादी' काव्य में बुद्धि-तत्व

छायावादी-काव्य में बौद्धिकता की प्रधानता का प्रश्न विशेषकर 'निरालाजी' की, और उसमें भी प्रमुखतः आरम्भिक रचनाओं को लेकर ही, सम्भवतः अधिक उठा है। 'समन्वय' में निकली उनकी रचनाएँ अधिकांशतः दर्शन-प्रधान हैं। एक तो 'समन्वय' 'दर्शन' की पत्रिका ही थी, दूसरे 'निराला' जी की रुचि और उनके व्यक्तिगत अध्ययन-संस्कार भी दर्शन से अधिक सम्बद्ध हैं। उनकी इन रचनाओं में भावुक कोमलता एवं रसमयी कल्पना भले हो न हो, पर शक्ति की एक प्रभावक अभिव्यक्ति की गम्भीर ध्वनि तो है ही। उनकी कितनी ही रचनाएँ शुद्ध दार्शनिक और बौद्धिक वातावरण की सघनता से ओत-प्रोत हैं। 'निराला' जी छायावादी धारा के चुने-गिने लेखकों में गिने जाते थे। फिर उनके स्वर की यह बौद्धिक प्रखरता, यदि समस्त छायावादी काव्य के विरुद्ध एक बहु-प्रचारित आक्षेप बन गयी तो सत्य के नाते नहीं, तो मनोवैज्ञानिक सीमाओं की दृष्टि से यह तत्कालीन समालोचकों के लिए स्वाभाविक ही था; यद्यपि बाद में उन्हीं की कविताओं में कल्पना एवं भावों का मनोहर संयोग होता गया है। कविता में कवि का प्राधान्य स्वीकार करने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि कविता बुद्धि की विरोधिनी है अथवा उससे बुद्धि का बहिष्कार होता है। बुद्धि-शक्ति द्वारा ही हमें वस्तुओं का सम्बन्ध ज्ञान होता है तथा उसकी स्थापना भी। शृङ्खला, सामंजस्य एवं सन्तुलन, बुद्धि बिना सम्भव नहीं। काव्य का महत्व इस बात पर भी निर्भर करता है कि कवि ने जीवन गत अनुभवों को किस प्रकार संतुलित एवं सम्बद्ध किया है। व्यवहार—क्षेत्र में दोनों के भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट होने पर भी, बुद्धि और हृदय मूलतः एक ही मानव-

चेतना के दो पक्ष हैं। जीवनानुभूति की एक सम्बद्ध अभिव्यक्ति जो बुद्धि-शक्ति बिना सम्भव नहीं, काव्य की महत्ता का अनिवार्य प्रतिबंध है। कविता के तत्वों में सानुपातिक सम्बन्ध ही कविता-गत रागों में सामंजस्य की सृष्टि करता है। बुद्धि-व्यवस्था ही भावों को सार्थकता एवं सरूपता प्रदान करती है। बुद्धि का महत्व एवं आवश्यकता जिस प्रकार जीवन-व्यवहार में अनिवार्य है, उसी प्रकार काव्य एवं कला में भी। भावावेग की प्रबलता में मनुष्य की बुद्धि भले ही आच्छन्न हो जाती हो, किन्तु काव्य-कला के अन्तर्गत आया हुआ भाव, बुद्धि से सर्वथा विरहित होने पर विच्छिन्न और अस्त-व्यस्त होकर रूप-हीन हो जाता है। भावों को सुरूपता एवं सोद्देश्यता प्रदान करने के लिए बुद्धि की सदैव अपेक्षा होती है। असन्तुलित एवं अव्यवस्थित भाव अपनी विच्छृं-खलता में काव्य-कला का उपादान नहीं बन सकते। काव्य एवं कला मानव-कृति है और सभी मानव-कृतियों की भाँति इनमें भी बुद्धि का योग आवश्यक है। काव्य में भाव-प्राधान्य का संकेत केवल यही है कि उसमें भाव ही प्रमुख उपादन होते हैं और बुद्धि उनकी व्यवस्था-पिका होती है। जहाँ भावों को दबाकर स्वयं बुद्धि ही कविता का उपा-दान बनने लगती है, वहाँ काव्य की हार्दिकता एवं रसात्मकता विनष्ट हो जाती है और नीरसता तथा गद्यात्मकता का आधिपत्य हो जाता है। यह सामान्य मान्यता छायावाद में ही नहीं, यावत् काव्य-विस्तार पर घटित होती है। दर्शन को चाहे कविता की रीढ़ हम भले न स्वीकार करें, पर 'विशेष' को एक सामान्य-आरोप का रूप दे देने में भी सत्य का अपलाप ही है।

हिन्दी के एक उत्तरदायी आलोचकवर्ग से यह आवाज़ आती रही है कि छायावादी काव्य एक बौद्धिक व्यायाम है और मस्तिष्क को खरोंच-खरोंच कर लाई गई भावाभासी तर्कनाएँ ही अनुभूतियों के नाम पर प्रस्तुत की जाती हैं। ऐसी अवस्था में उनके मत से छायावादी

काव्य भावावेश-शून्य है। कुछ आलोचकों का झुकाव इस निष्कर्ष की ओर भी दिखाई पड़ता है कि छायावादी कवियों ने कुछ सिद्धान्त अथवा 'वाद' बना लिये हैं और उन्हीं के आधार पर वे बुद्धि-प्रसूत-विचार-मन्थन द्वारा, चमत्कारपूर्ण एवं वक्र पदावलियों की शैय्या सजाने में व्यस्त रहते हैं। इस प्रकार वह देखना है कि क्या छाया-वादी काव्य में बुद्धि-व्यापार का ही प्राधान्य है और उसका सम्पूर्ण काव्य मतवाद की संकुचित प्राचीरों में ही परिबद्ध है ?

इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व, इस बात को भी ध्यान में रखना किंचित् उपेक्षणीय न होगा कि छायावादी कविता पर होनेवाले प्रहार दो दिशाओं से आते हैं। एक वर्ग तो उन पुरातनवादी एवं तथा-कथित रसवादियों और 'अभिधा' को प्राधान्य देनेवाले लोगों का है जो छायावादी काव्य को बौद्धिक चमत्कार एवं अस्वाभाविक लक्षणा-विधान मानकर शब्द क्रीड़ा से अधिक महत्व नहीं देता, और दूसरा वर्ग उन तथाकथित प्रगतिवादियों का है जो इसे, जीवन की वास्तविक (आर्थिक !) परिस्थितियों से पलायनकर अतिभावुकता एवं वायवीय कल्पनाओं पर आधृत मानता है। प्रथम वर्ग को यदि इसमें शुष्क बौद्धि-कता मिलती है तो द्वितीय वर्गको अव्यावहारिक कल्पनाओं पर आश्रित सस्ती भावुकता ! एक जीवन की सामान्य एवं स्थूल वृत्तियों के उद्बोधन एवं चर्वण को ही वास्तविक काव्य का लक्ष्य मानता है और दूसरा, सारी बौद्धिकता एवं विचार-राशि पर अपना एकाधिकार मानकर, विचार (प्रगतिशील विचार) को ही काव्य का वास्तविक तत्व स्वीकार करता है। दो विरोधी दिशाओं से चलनेवाले इन वारों के बीच छायावादी काव्य में तो स्यात् कम ही, किन्तु पूर्वाग्रहशील आलोचनाओं में अवश्य वह धुन्ध उठा कि जिससे स्पष्ट होने को कौन कहे, छायावादी काव्य और भी कुहरमय हो उठा। सहानुभूति एवं समानुभूति के साथ व्याख्या-विवेचना करते हुए छायावादी काव्य की सबलताओं-दुर्बलताओं के उद्घाटन का सत्य-

प्रयत्न न कर जो व्यर्थ की धूल उड़ाई गई, उससे दृष्टि कुछ प्रांजल एवं सबल होने की अपेक्षा, आलोचना की आँखे धुंधली ही हुई। यद्यपि इसके लिए वे पूर्णतः दोषी भी नहीं ठहराए जा सकते, क्योंकि अत्यन्त सामीप्य भी वस्तु के सम्यक् दर्शन में बाधक ही होता है। यह कर्तव्य-भार तो अगली पीढ़ी के कन्धे पर था, अतः अब इस बात के लिए पूरी सम्भावना हो रही है कि वर्तमान पीढ़ी-छायावाद के प्रस्थान-युगीन काव्य का उचित मूल्यांकन कर सके और छायावादी भावुक कल्पना की विशृंखलकड़ियों में बौद्धिक सचेतता के स्पर्श से, सुशृंखलता लाने की ओर 'निराला' जी द्वारा किये ऐतिहासिक संकेत का भी मर्म समझ सकें।

'व्यक्तिगत अनुभूति' को 'रसानुभूति' की कोटि तक लाने के लिए कवि को बुद्धि-तत्व की ही शरण लेनी पड़ती है। रसानुभूति होने पर 'अनुभाव', 'संचारी' आदि तो आ ही जाते हैं, पर ये मनोवृत्तियाँ भुक्तभोगी 'विभाव' अथवा कवि [गीतो में] तक ही सीमिति रहकर काव्य का विषय नहीं बनतीं। रसानुभूति कराने योग्य होने के लिए उनमें 'स्थायित्व' की अपेक्षा होती है और इस स्थायित्व को शब्द, अर्थ एवं वाक्य अथवा सम्पूर्ण प्रकरण से सम्बद्ध रखनेवाले भिन्न-भिन्न चमत्कारों (सौन्दर्यों) के समन्वित प्रभाव में परिणत होकर, रस-निष्पन्नता की कोटि पर पहुँचना पड़ता है। ये सारी व्यवस्थाएँ बिना बुद्धि का सहारा लिये नहीं सम्पन्न हो सकती हैं। कविता अथवा गीत को विस्मृत क्षणों की वाणी अथवा विभोर-दशा का उद्‌गार मानने का इतना ही अर्थ है कि कहीं फूलको पुष्पाधार में सजाने के प्रयत्न में, उसकी रस-सौरभ-सिक्त पँखुरियाँ न कतर दी जायँ, बुद्धि की कठोर व्यवस्था में पड़कर भाव कहीं अपनी सहज स्फूर्ति एवं जीवनमयी गति ही न खो बैठे; अन्यथा काव्य एवं कला में आनेवाले भाव-बुद्धि के वैर में कभी भी प्रभावपूर्ण एवं संवेदनीय नहीं हो सकते। बुद्धि निर्णय करती है और कल्पना सृष्टि। मन द्वारा प्राप्त सामग्री का बुद्धि निर्णय करेगी, पर

विभोरता एवं विस्मृति बुद्धि के अनुचित नियन्त्रण के अभाव एवं कवि की अद्भुत सहज भावाभिव्यक्ति-शक्ति की वांछनीयता के प्रति संकेत-रूपमें ही ग्राह्य हैं। 'शक्ति एवं भक्ति-व्यक्ति'की 'गंगा-यमुना-गूढ़-निर्झरा' से यथानुकूल पुण्य-जल ले अपनी अनुभूति को अभिषिक्तकर, उसे अविकल रूप में दूसरों अथवा पाठकों की अनुभूति बना देनेवाले शब्द-सृष्टि-स्वयंभू कवि इसी अर्थ में विधाता के प्रतिद्वन्दी हैं। घट मिट्टी का ही बनता है। किन्तु केवल मिट्टी को जिस-किसी भी प्रकार से मिला देने से ही नहीं बन जायगा, इसके लिए कुशल कुलाल की ललित कला अपेक्षित है। उसी प्रकार काव्य के तर्कमार्गी न होने पर भी, भाव स्वयं सुन्दर प्रभावपूर्ण काव्य में नहीं परिणत हो जांयगे। बुद्धि कविता का साधन है साध्य नहीं; पर ऐसा साधन, जो साधन-पद पर तो अनिवार्य ही है। काव्य कवि-व्यापार है और यह व्यापार बुद्धिशून्य नहीं। शेक्सपियर की प्रसिद्ध उक्ति के आधार पर कवि को पागलों की कोटि में गिन देते हैं, पर कवि से इतर पागल बुद्धि को खोकर पागल बनता है और कवि बुद्धि को पीकर पागल बनता है। उसके भाव बुद्धि से धुले होते हैं,और वह भावों के सुधा-सिक्त सीकरों से बुद्धि को भी धोकर निर्मल कर देता है। इसी से पागल से लोग दूर भागते, पर कवि-रूप पागल के लोग समीप खिंचते हैं। अनुभूति विचार-स्पर्श पाकर भावना बन तरंगित हो उठती है। यद्यपि यह क्रिया सर्वांश में सचेत मन द्वारा सदैव नहीं होती। इस बुद्धि-तत्व ने मनुष्य की सौन्दर्य-वृत्ति एवं शक्ति को भी बहुत प्रभावित एवं अपने ढंग से विकसित किया है। आदि मानव की सौन्दर्य-वृत्तिके विषयों एवं स्वयं सौन्दर्य्यानुभूति की क्षमता में और आज की बीसवीं शती के मनुष्य की एतद्विषयक स्थिति में बड़ा अन्तर है। बौद्धिक क्षितिज के प्रसरण के साथ सौन्दर्य्यानुभूति के नवीन क्षेत्र एवं वातायन खुलते चलते हैं। सौन्दर्य मात्र बाह्य आकृति एवं गठन पर ही निर्भर न रहकर अन्तःशील एवं व्यक्तित्व की महत्ता तक फैल

जाता है। किन्हीं परिस्थितियों एवं विकास और प्रसार की किन्हीं स्थितियों में यह ऐसे उच्च स्तरों पर प्रस्फुटित हो उठता है कि उस उच्च स्तर को सहारा देनेवाले बुनियादी स्तरों के होने-न-होने का हमें ध्यान ही नहीं रहता। जिस प्रकार किसी भवन के उच्चतम शिखर अथवा कँगूरे पर दृष्टि पड़ते ही हम उसे देखने में इतने मुग्ध एवं विभोर हो जाते हैं कि उसकी नींव की पुष्टता एवं निचली दीवालों की सुघरता पर हम दृष्टिपात ही नहीं करते; इसी प्रकार कभी-कभी किसी पदार्थ के भीतर सन्निहित किसी ऐसे पक्ष पर हम इस प्रकार सौन्दर्य-सिक्त हो उठते हैं कि वहां तक साधारण दृष्टि पहुँच ही नहीं पाएगी। जिस प्रकार बालक के विकसित वयः-क्रम के साथ उसकी सौन्दर्य्यानुभूति निम्न स्तर से ऊँचे स्तर पर चढ़ती चलती है और वह चमकदार-भड़कीले रंगों के स्थान पर सादे एवं गम्भीर वर्णों को पसन्द करने लगता है, खेल-कूद के स्थान पर जीवन-संघर्ष में रस पाने लगता है, उसी प्रकार समाज एवं युग भी बौद्धिकता के विकास के साथ-साथ अपनी सौन्दर्य्यानुभूति के विषयों को ऊँचे स्तरों पर ढूँढ़ने लगता है। इसीलिए भावुकता के आपेक्षिक महत्व को भी मानना-स्वीकार करना होगा। किसी-समाज विशेष की अनुभूति एवं बौद्धिकता के जो भी स्तर, मान, पारस्परिक सम्बन्ध एवं सीमाएँ, जिस युग में-जिस प्रकार की होगीं, उन्हीं के अनुसार इन दोनों के सामंजस्य पर ही उस युग के काव्य की सफलता निर्भर होगी। बुद्धि और अनुभूति के सामंजस्य बिना काव्य प्रभावशाली ही न होगा। वैदिक युग की श्रद्धाशील भावुकता एवं बौद्धिकता का पारस्परिक अनुपात आज के युग की विकसित तर्कशीलता एवं वैज्ञानिकता में ठीक वही नहीं हो सकता। इस प्रकार सौन्दर्य की भावना भी बौद्धिक विकास के साथ मूल-चेतना के एक होने पर भी बाह्य रूप-रेखा को बढ़ाती-घटाती चलती है। सूर और मीरा के पदों की स्वाभाविक सरलता और उन्मुक्त व्यंजना की तुलना महादेवी और 'प्रसाद' के गीतों से

करना ठीक नहीं। मीरा के सामने तत्कालीन सामाजिक मर्य्यादाओं की जड़ता एव परिपाटीबद्ध बौद्धिकता के विरोध का भी प्रश्न था। अतः मीरा 'लोक-लाज' खोने की घोषणा तो करती फिरती है; पर मीरा शत-प्रतिशत भक्त थी, उसके सामने एक व्यवस्था को तोड़ दूसरी व्यवस्था देने का प्रश्न नहीं था। छायावादी काव्य-धारा ने एक रुढ़िबद्ध प्रणाली (सामाजिक एवं साहित्यिक) का विरोध भी किया और उसमें अपनी व्यवस्था के स्वर भी मिलते हैं। छायावाद कोई धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक आन्दोलन नहीं, उसके प्रादुर्भाव एवं विकास में निश्चित रूप से एक सामाजिकता की असन्तुष्ट चेतना क्रियाशील है। समाज ही छायावाद का लक्ष्य है और विकासभूमि भी। कबीर, मीरा और सूर की भावुकता सामाजिकता से परे एक आध्यात्मिक साधना है, जब कि छायावाद की भावुकता का लक्ष्य एक सामाजिकता है, जिसमें व्यक्ति की व्यक्तिगत सत्ता के आह्वानों की स्वीकृति, माननीय मूल्यों की प्रतिष्ठा एवं एक गतिशील सामाजिक परिपार्श्व की पुकार है। प्रजातन्त्रवाद, व्यक्तिवाद एवं मानववाद सम्बन्धी बौद्धिकता के मर्म को बिना समझे पाठक छायावादी उद्गारों एवं अनुभूति-अभिव्यक्तियों के मर्म को भी यथावत् रूप से हृदयंगम करने में समर्थ नहीं हो सकता।

जब तक हम आधुनिक 'मानववाद' को न समझ लें अथवा उसके साथ हमारी बौद्धिक सहानुभूति न हो, हम महादेवीजी की निम्न पंक्तियों का आनन्द नहीं ले सकते—

> 'मेरी लघुता पर आती,
> जिस दिव्य-लोक को व्रीड़ा।
> उसके प्राणों से पूछो,
> क्या पाल सकेंगे पीड़ा?' ('नीहार' से)

जबतक हम 'विकासवाद' के अनुसार मानव-इतिहास के बिभिन्न

युग-विभाजनों का कुछ ज्ञान न रखते रहेंगे, 'प्रसाद' जी की पौराणिक स्पर्शवाली निम्न पंक्तियों में आये 'अस्थि-युग' शब्द द्वारा मानस-पटल पर सहसा प्रस्फुटित हो उठनेवाले मर्मालोक का संकेत नहीं ग्रहण कर सकेंगे—

'सुना है दधीचि का वह त्याग
हमारी जातीयता-विकास,
पुरन्दर ने है पवि से लिखा,
अस्थि-युग का मेरा इतिहास।'

यद्यपि छायावाद की दार्शनिकता-प्रधान एक प्रमुख शाखा ही हिन्दी में 'आधुनिक रहस्यवाद' के नाम से अभिहित हो गई है, जिसमें बिना तद्विषयक बौद्धिक पृष्ठभूमि एवं दार्शनिक परिपार्श्व को समझे उसका रस ही नहीं लिया जा सकता, और बिना उस विचार-प्रणाली को अपनी चेतना का अंग बनाए उस क्षेत्र में प्रभावक सर्जन ही नहीं हो सकता, पर स्वयं व्यापक छायावादी काव्य-धारा ने भी आधुनिक युग में विकसित हुए विविध विचारसूत्रों एवं चिन्तनधाराओं को मनोनिविष्ट कर लिया है। प्रकृति की ओर प्रत्यावर्तन, प्रकृति में एक निजी चेतना का विश्वास और उसके सम्बन्ध की अनुभूतियाँ, प्रकृति के साहचर्य की आवश्यकता, सर्वचेतनवाद, दुःखवाद, शैवागमों का आनन्दवाद तथा शक्तिपरक आनन्दवाद, सौन्दर्य्यवाद, मानववाद, महर्षि अरविन्द का भूत अध्यात्म-समन्वित 'चेतन-वाद' आदि कितनी ही प्रवृत्तियाँ छायावादी काव्य में यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं, जिनका सम्बन्ध स्पष्टरूप से बौद्धिक चिन्ताओं एवं दार्शनिक विचारों से है। एतद्‌युगीन बौद्धिक संघटन को बिना सहानुभूतिपूर्वक समझे इनका आस्वादन नहीं किया जा सकता, और जिन आलोचकों ने इन्हें समझने का प्रयत्न नहीं किया अथवा जो संस्कारेण इन्हें ग्रहण करने में विवश थे, वे इसे स्वीकृति न दे सके। व्यक्ति और समाज दोनों के लिए ही यह बात समान रूप से लागू होती

है कि तत्सामयिक बौद्धिक आल-जाल के बीच से ही उसे संवेदनाओं की रश्मियाँ प्राप्त होती हैं और सुप्त संस्कारों अथवा वासनाओं को जगानेवाले तीर चुभा करते हैं। यह आल-जाल जितना ही उदार, मसृण एवं गतिशील होगा, हमारी भावात्मक सत्ता को संस्फूर्त करनेवाली प्रेरणाओं का पथ भी उतना ही मुक्त और प्रशस्त होगा। इसके विपरीत यह बौद्धिक आल-जाल लौहावरण की भाँति जितना ही सघन एवं कर्कश होगा, हमारी अन्तश्चेतना को मृदूर्मिल करनेवाली सम्भावनाएँ उतनी ही विरल होंगी। छायावादी काव्य-धारा के लगभग प्रत्येक प्रमुख मान्य कवि का एक-न-एक निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त एवं बौद्धिक मान्यता है। जहाँ ये मान्यताएँ भाव-सत्ता को भी आच्छन्न करने लगी हैं, काव्य नीरस हो गया है। किन्तु जहाँ इस मान्यता को सच्चा भावावेश एवं रागात्मक आधार मिल गया है, वहाँ काव्य दिव्य एवं अपूर्व प्रभा से जगमगा उठा है। जो काव्य जितने ही ऊँचे बुद्धिस्तर पर आधृत होगा, उतना ही वह साधारण बुद्धिस्तरवाले पाठक के लिए अग्राह्य होगा। साधारण जनता के लिए लोक-गीतों में जो सहज संवेद्यता एवं आशु प्रभविष्णुता विद्यमान है, वह सुन्दर से सुन्दर शिष्ट साहित्य में प्राप्य नहीं. किन्तु जन-संवेदना के निम्नतर स्तर को ही आदर्श मानकर उच्चतर साहित्य का लिखा जाना भी तो सम्भव नहीं। उदाहरण स्वरूप तुलसीकृत 'रामचरित मानस' की लोक-प्रियता सामने लाई जा सकती है, किन्तु मेरी समझ से लोक-पावन मर्य्यादापुरुषोत्तम राम का चरित्र संस्कारतः साधारण जनता के लिए जितना आकर्षक है, 'मानस' की साहित्यिकता एवं कलात्मकता का आकर्षण उतना प्रबल नहीं। यह बात मैं साधारण जनता के विषय में कह रहा हूँ, सुशिक्षित जन-समुदाय के बारे में नहीं। जनता के लिए 'मानस' का धार्मिक मूल्य अधिक है, साहित्यिक नहीं। यद्यपि साधारण जनता के स्तर पर, 'बालकाण्ड' के आदि एवं 'उत्तर-काण्ड' के अन्तिम अंश की सुबोधता का भी अधिक विश्वास नहीं। अस्तु, मेरे कहने का

अर्थ यह है कि कोई भी वाद अथवा सिद्धांत जब व्यक्ति के व्यक्तित्व का अविच्छेद्य एवं जीवित अंग बन जाता है, व्यक्ति उसे अपने क्षण-प्रतिक्षण के जीवन में स्पन्दित कर सहजता प्रदान कर देता है, तो उसी में संवेदनशीलता एवं भावस्पर्शिता की शक्ति जग उठती है। कवि की यही सहजानुभूति स्वानुभूति को काव्यानुभूति बनाकर पर-संवेद्य बना देती है। छायावाद के बौद्धिक संघटन में कितने ही नव्य विचारों की टाँकियाँ हैं, कितने ही अधकचरे कवियों एवं उच्छृंखल लेखनियों द्वारा प्रसूत काव्य में ये टाँकियाँ ऐसी उभड़ पड़ी है कि सहज सौन्दर्य भी विकृत हो उठा है, किन्तु इसके लिए उन कवियों की असमर्थता एवं असंस्कृति ही उत्तरदायी हैं, स्वयं छायावादी काव्यप्रणाली नहीं।

जैसा पिछले अध्याय में कहा गया है, छायावादी काव्य की विषयवस्तु में बौद्धिकता का प्राधान्य नहीं, वरन् बौद्धिकता का आभास उसकी शैली के कारण है। बाह्य रूप-रेखा के वर्णन की अपेक्षा वस्तु के ऊपरी रूप के भीतर अनुभूत होनेवाले आन्तरिक सौन्दर्य अथवा हृदय पर पड़नेवाले सूक्ष्म प्रभाव की मूर्त अभिव्यक्ति ही छायावाद की प्रमुख विशेषता है। 'स्थूल' के लिए 'सूक्ष्म' एवं 'सूक्ष्म' के लिए 'स्थूल' रूप-विधान की रचना-प्रक्रिया इसी मूर्त अभिव्यक्ति का फल है। यह मूर्तिमत्ता कभी 'सूक्ष्म' को 'स्थूल' रूपाकार कर देने से आती है और कभी 'स्थूल' को 'सूक्ष्म' का प्राण पिन्हा देने से। 'निराला' जी की अम्बर-पथ से धीरे-धीरे नीरवता-सखी के कन्धे पर हाथ रखकर उतरनेवाली सन्ध्या-परी की अरूप-सूक्ष्मता रूपवान् हो उठी है। 'याद' में श्री पं० सुमित्रानन्दन की रागात्मिका अनुभूति से रंजित सन्ध्या का चित्र कितना सरूप है—

'विदा हो गई सांझ,
विनत मुख पर झीना आंचल धर
मेरे एकाकी आंगन में,
मौन मधुर स्मृतियाँ भर!'

श्रीमती महादेवी जी अपने को 'नाश में जीवित किसी की सुन्दर आश' कहती है! अनेक पीड़क सम्भारों के बीच अपनी स्थिति के अरूप मर्म को तब वे एक अनुभूतिस्पर्शी रूप दे देती हैं, जब अपनी स्थूल सत्ता पर 'साध' की सूक्ष्मता का आरोप कर देती हैं। यही कला 'शाप-मय वर' प्रयोग में भी सन्निहित है—

'शलभ' मैं शाप-मय वर हूँ, किसी का दीप निष्ठुर हूँ!'
ताज है जलती शिखा,
चिनगारियाँ शृंगारमाला
ज्वाल अक्षय कोप-सी
अङ्गार मेरी रंग-शाला।
'नाश में जीवित किसी का साध सुन्दर हूँ!'

'शाप-मय वर' एवं 'नाश में जीवित सुन्दर साध'-जैसे प्रयोग अलंकारवादियों की दृष्टि में विरोधाभास-जनित वैचित्र्य से अधिक कुछ भी महत्व रखते नहीं दीख सकते, किन्तु स्वयं जलती हुई दीप-शिखा के दूसरों को आलोक-दान करने के मर्म की जैसी सुन्दर व्यंजना इस प्रयोग के द्वारा लेखनी के एक ही आघात से स्फुरित हो उठती है, वह तो मार्मिक है ही, पर जब इस स्थिति का आरोप स्वयं गीत-लेखिका के व्यथा-सजग व्यक्तित्व पर हो जाता है, तो समस्त अर्थ जैसे दीप-शिखा की भाँति प्राणवन्त हो उठता है! दीप-शिखा पल-पल क्षीयमान् होती रहती है, पर यही तो उसके जीवन का चिह्न भी है! ज्वलन का अन्त शिखा का अन्त है!! पर जब शिखा के जलने की साध स्वयं लेखिका की तिल-तिल छीजती सत्ता पर आरोपित हो, नाश में जीते रहने की उसी की साध का प्रतीक बन जाती है, तो जैसे उसकी समस्त जीवन-साधना मनश्चक्षुओं के सामने जुगजुगाने लगती है। चाक्षुषप्रत्यक्षी-करण एवं तद्वत् अनुभूति-प्रेषण की प्रवृत्ति के कारण छायावाद चित्रात्मकता एवं ऐन्द्रियता का आश्रय ग्रहण करता है।

ऐन्द्रियता से यहाँ मेरा मतलब है 'वर्ण्य' वस्तु से उत्पन्न होनेवाली अनुभूति को ऐसे पदार्थों अथवा विषयों में प्रतिफलित कर देना, जिसका इन्द्रियों से घनिष्ठ सन्निकर्ष है। इसके लिए अलंकारों की निश्चित खानापूरी से अभिधेयात्मकता की प्रधानता हो उठती है और अभिप्राय उतना प्रभविष्णु नहीं हो पाता। लक्षणा का आश्रय अधिक सहज लगता है और छायावादी कवि लक्षणा के सहारे अपनी अभिव्यक्ति करने लगता है। इस लक्षणा के प्रयोग एवं अर्थग्रहण दोनों में ही अपेक्षाकृत अधिक बौद्धिक सजगता की आवश्यकता होती है। अभिधा की भाँति लक्षणा का 'निकट का अर्थ' उतना निश्चित एवं सीमित नहीं होता, उसमें अर्थग्रहण हो जाने पर भी एक असीमता एवं अनिश्चितता की झिलमिलाती आभा बनी ही रहती है, जिससे पाठक अथवा श्रोता का मन कुछ चकित भी होता रहता है। अनुभूति एवं सौन्दर्य की अभिव्यक्तियों की इसी असीमता एवं अनन्तता की रुझान रखने के कारण छायावादी कवि अभिधा की अपेक्षा अधिकतर लक्षणा एवं व्यंजना का भी सहारा लेता है। इन दोनों में अपेक्षाकृत अधिक बौद्धिक चेतना की आवश्यकता है। भारतीय काव्य-शास्त्र ने भी इनके आस्वाद का पात्र विशिष्ट एवं परिमार्जित रुचि के सहृदय को ही माना है। इसी प्रकार छायावादी काव्य 'रस-शास्त्र' द्वारा परिगणित नव या दश मूलभूत 'स्थायी' भावों के भीतर ही अभिव्यक्ति का प्रसार न कर, मानव-हृदय की स्थायी-अस्थायी अगणित मनोमुद्राओं का अंकन करता है। मानव-मन के इन्हीं स्थूल-सूक्ष्म अनेकानेक स्तरों की व्यंजना करने से भी, अब तक इनसे अनभ्यस्त रहनेवाले पाठक या आलोचक बौद्धिकता के प्रयास का अनुभव करते हैं। 'साधारणीकरण' के नाम पर स्थूल अनुभूतियों का चित्रण न कर असाधारण या असामान्य अनुभूतियों का वर्णन भी आक्षेप का एक कारण है।

इसी प्रकार छायावाद का प्राकृतिक अध्यात्मवाद से अटूट सम्बन्ध

जोड़नेवाले आलोचक भी इस कोटि के काव्य में अतिरिक्त बौद्धिकता के प्रक्षेप के आरोप का पोषण करते हैं। प्रकृति में अपनी ही चेतना के समान एक चेतना का दर्शन करना एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में सभी कवियों द्वारा कभी भी मान्य नहीं रहा। 'पन्त' जी में दार्शनिक स्तर पर यह आग्रह प्रारम्भ में वर्तमान अवश्य रहा, पर यह मान्यता सभी पर एक प्रकार से लागू नहीं। श्री शान्तिप्रियजी द्विवेदी तथा विश्वम्भर 'मानव' इसी 'प्रकृतिवाद' को माननेवाले हैं, किन्तु छायावादी काव्य में विशुद्ध प्रकृति का वर्णन 'पन्त' जी के काव्य को छोड़कर बहुत कम हुआ है। जहाँ स्वतन्त्र रूप में आई भी है, तो मानव-भावाश्रित रूप में, जहाँ द्रष्टा के मनोभाव ही प्रधान हैं, प्रकृति का निजी एवं विशुद्ध सहज सौन्दर्य नहीं! छायावादी काव्य में अधिकांशतः प्रकृति साधन के रूप में ही आई है,—अलंकार की सामग्री के रूप में, पृष्ठ-भूमि-प्रसाधना में अथवा मानव-भाव-दशाओं या मनोमुद्राओं की अभिव्यक्ति के निमित्त।

इस प्रकार छायावाद पर बौद्धिकता के आरोप करनेवालों का यदि यह अर्थ है कि उसमें भावों की शून्यता एवं सच्ची अनुभूतियों की कमी है, तो यह अतिकथन होगा। छायावाद ने अपने समय तक आये बौद्धिक निदर्शनों का उपयोग किया है, किन्तु वे भाव पर हावी नहीं। शैली में अपेक्षाकृत बौद्धिकता का अंश अधिक है और बौद्धिक सजगता में उससे भावों का प्रभाव और अधिक बढ़ जाता है।

'ब्रह्मानन्द सहोदर' की कोटि की, भारतीय मान्यतानुसार शुद्ध पारिभाषिक अर्थ में आनन्द-प्राप्ति छायावादी काव्य में कठिन है। 'शुद्ध रसवादी' की दृष्टि में यावत् सृष्टि-प्रसार एव समस्त काव्य-विधान उपलक्ष्य-मात्र है, उसका लक्ष्य तो है 'रस' की निष्पत्ति, उसकी अभिव्यक्ति एवं भुक्ति। रसवादी विषय की अभिव्यक्ति का उद्देश्य नहीं रखता। आज का काव्य इस दृष्टि से लौकिक एवं वस्तु-भावमुखी

है, जब कि 'शुद्ध रसवादी'-काव्य अलौकिक एवं रसानंदमुखी है। दार्शनिक मान्यता के रूप में तो आज काव्य की दृष्टि ही बदल गई है, उसकी प्रवृत्ति ही उलट गई है। तब की परिस्थिति एवं अद्यतन परिस्थिति में अन्तर है। आज विज्ञान ने हमारी आस्थाओं में एवं स्थितियों में बड़ा अन्तर उपस्थित कर दिया है। सारे संसार पर बहनेवाली अनास्थाशील एवं तर्कवादी विचार-झंझा ने मानव एवं उसकी राग-विरागात्मक सत्ता को ही उसके लिए चरम सत्य बना दिया है। मनुष्य का मनुष्यत्व में विश्वास बढ़ गया है। वह किसी लोकोत्तीर्ण सत्ता को स्वीकार करने में हिचकने लगा है, और बहुत अंशों में अस्वीकार भी कर चुका है। वह अपनी चतुर्दिक फैली समस्याओं के सुलझाव को ही अपना चरम साध्य मानता है। संवेदना एवं प्रभाव-सृष्टि को ही अब कविता का मुख्य गुण माना जाने लगा है। वायुमण्डल के बदलने के साथ-साथ मानव के संस्कार भी बदलते रहते हैं। इन्हीं बदलते हुए संस्कारों के बीच से ही कोई कला जीवन को प्रभावित कर सकती है। इसी से मानव को प्रभावित करने के लिए कविता का साधन भी बदला है। स्पिनोजा-सरीखे पाश्चात्य विचारकों के द्रष्टा-विशेष की रुचि-विशेष को महत्व देनेवाले विषयिप्रधान अथवा अन्तर्वादी सौन्दर्य्य-सिद्धान्तों ने आज की सुषमा-सौकुमार्य्य-विषयक मान्यताओं को प्रभावित किया है। मुद्रणयन्त्रों एवं पत्र-पत्रिकाओं के प्रसार ने भी कविता को पर्याप्त-रूप से प्रभावित किया है। पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में कविताओं के पढ़नेवाले पाठक केवल ध्वनि एवं वक्रोक्ति की अंगभंगी से तृप्त होना नहीं चाहते। वस्तु से वस्तु या अलंकार से वस्तु की व्यंजना आज के पाठक को एक छिछली शब्द-क्रीड़ा लगती है। बौद्धिकता के विकास से पुष्ट एवं तर्क की विभूति से परुष आज के मानव को वही कविता महत्वपूर्ण हो सकती है, जो अपने आवेग से उसे झकझोर कर हिला दे, अपने विचार-वेग में

उसे बहा दे और अनेक उलझी-सुलझी गुत्थियों में फंसे उसके चेतनको बलपूर्वक अपनी ओर खींच ले। विभानुभावसंचारि-संयुक्त 'स्थायी भाव' की कोष्ठक पूर्ति उसे कवि के श्रम एवं सूझ की दाद देने को नहीं उकसा पाती। उसे चाहिये भावों का उद्रेक, विचारों का वेगपूर्ण आघात एवं संवेदना का झोंका, जो इसी लोक से उसके आस-पास से उठकर उसके, लिए उसके पार्श्व में ही स्थित किसी मार्मिकता का वातायन खोल दे। कविता अब उतनी सुनने की चीज न रही जितनी मन में पढ़कर मनन करने की। अब वह कविता को मुद्रितरूप में पढ़कर उचित विरामादिके सहयोग से स्वयं काव्य-चिन्ताको निकालना चाहता है। कविता के क्षेत्र के विस्तृत होने और संसार की कठोर वास्तविकताओं से सम्बद्ध होने के कारण अब भाव ही नहीं, विचार-चिन्ता का बोझ भी उसे वहन करना पड़ता है। छायावादीयुग आधुनिक भारतीय इतिहास का एक विमंथित काल है। तत्कालीन समस्याओं की आलोड़न-विलोड़नों की गूँज उस समय की विचार-धारा में स्पष्ट रूप से गुंजायमान है। ऐसी परिस्थिति में इस काव्य को एक मात्र कलात्मक या साहित्यिक प्रयास ही नहीं कहा जा सकता। यह तत्कालीन जागरूकता का स्वरमाण रूप है, फिर युग-विशेष में आविष्कृत कोई भी साहित्यिक सिद्धान्त अपने ही में इसे पूरा-पूरा कैसे ढँक सकता है ? छायावादी काव्य में आए बुद्धि-तत्व को उसके तत्कालीन सामाजिक परिपार्श्व में रखकर ही देखा जा सकता है और तभी उसका महत्व भी समझा जा सकेगा। पाठ्य काव्य मनन-चिन्तन की गम्भीरता पाकर ही समाहृत हो सकता है। बौद्धिक स्तर के अन्तर के साथ-साथ साहित्य एवं कला-सम्बन्धी रमणीयता का आधार भी बदलता जायगा, अन्यथा एक असभ्य तथा एक सुसंस्कृति के कलात्मक आनन्द की कोटि में अन्तर ही क्या हो ? पर मेरे कहने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि इसके पूर्व का युग निर्बुद्धि था, मैंने तो प्रत्येक क्षण सजग रहनेवाली बौद्धिक प्रवृत्ति की आज के युग में प्रधानता की ओर संकेत किया है।

छायावादी काव्य में कल्पना

'मनोविज्ञान' में 'स्मृति' और 'कल्पना' का एकत्र विवेचन होता है, क्योंकि दोनों में 'पूर्वभुक्त' का आनयन होता है; किन्तु कल्पना में सर्जन की स्वतंत्रता का भी स्थान है, जब कि स्मृति एकदम पूर्वभुक्त अथवा पूर्व-घटित की प्रतिकृति-मात्र होती है। काव्य-गत अनुभूति, कल्पना के सहारे भाषा में अभिव्यक्त होकर ही सामने आती है; अतएव अनुभूति एवं कल्पना का विभाजन बड़ा कठिन होता है, पर सुविधा के लिए, साहित्य-मनीषियों ने कविता पर विचार करते हुए कल्पना, भाव अथवा राग, बुद्धि एवं शैली अथवा अभिव्यक्ति—नाम से उसके चार तत्व माने हैं। रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से कल्पना को हमने इसलिए सर्व-प्रथम ग्रहण किया है कि यद्यपि भाव अथवा राग ही कविता का मूल है किन्तु भावावस्था में कलात्मक सर्जन की चेष्टा तबतक नहीं आती जब तक उसमें कल्पना का मिश्रण नहीं हो जाता अथवा कल्पना भाव-विशेष के संस्कारों को पुनः अंतश्चक्षुओं के सामने नहीं उपस्थित कर देती। कल्पना मन की शक्ति है। कल्पना के सहारे ही कवि अथवा कलाकार जीवन-जगत् में दृष्ट अथवा अनुभूत वस्तुओं को अपने अन्तर्जगत् में पुनः प्रस्तुत करता है। कल्पना द्वारा 'बिम्ब-ग्रहण' के पश्चात् ही कविता की सृष्टि सम्भव है। भाव-दशा में तो भोक्ता उसमें इस प्रकार आसक्त होता है कि उसकी कल्पना उस समय सुप्त रहती है। कविता-रचना के लिए जिस तटस्थता की आवश्यकता होती है, वह कल्पना के मिश्रण के पश्चात् ही सम्भव होती है। यही नहीं, उल्लास की जिस संवेदना से कलाकार कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रसव-पीड़ित-सा अनुभव करता है, वह कल्पना द्वारा विषय के पुनर्ग्रहण पर ही प्राप्त होती है। दुःखात्मक विषय भी जब कल्पना के दृष्टि-पथ पर प्रतिफलित होते हैं, तो उनमें भी भोगावस्था की वह विकलता नहीं होती जो सर्जनात्मक वृत्ति को अवसन्न अथवा कुण्ठित कर दे। एक विशिष्ट मनोमुद्रा में कल्पना का

प्रकाश, ज्ञानेन्द्रियों से पूर्व-प्राप्त प्रभावों को एक अनुकूल रूप प्रदान कर देता है। यही कारण है कि जीवन-जगत् के एक ही दृश्य विभिन्न चित्रकारों की तूली एवं विभिन्न कवियों की लेखनी से विभिन्न रूपों में आकर सभी अपने-अपने ढंग से एक नवीन आनन्द की उपलब्धि कराते हैं। समस्या-पूर्त्ति की प्राचीन-पद्धति में यह बात विशेष रूप से दर्शनीय होती थी। 'विश्लेषण' कल्पना का धर्म नहीं, 'संश्लेषण' ही इसका निजी व्यापार है। यद्यपि क्रोचे ने ज्ञान को कल्पना-जन्य भी माना है, पर वेकन उससे सह-मत नहीं। वह कल्पना-जनित ज्ञान को सच्चा ज्ञान मानने को उद्यत नहीं। जो भी हो, कल्पना का निवास मन में है और मन से निरपेक्ष बुद्धि का कोई व्यापार ही नहीं चल सकता। कल्पना से ही सहजानुभूति होती है। यदि कवि की 'विधायक कल्पना', कवि को मुक्त विषय का पुनर्ग्रहण न कराये, तो कवि कविता नहीं कर सकता और यदि पाठक की 'ग्राहक कल्पना' कवि द्वारा प्राप्त चुने हुए संकेतों के आधार पर एक विम्ब न उपस्थित कर सके तो वह काव्य का आनन्द नहीं ले सकता। कल्पना सदैव चित्रात्मक होती है और इसीलिए वह 'व्यक्ति' अथवा 'व्यष्टि' की ही होती है, 'सामान्य' की कल्पना अत्यन्त क्लिष्ट, दुष्कर एवं रसविवर्जक होती है! पाश्चात्य साहित्य में कल्पना का बड़ा महत्व माना गया है। इसकी महत्ता के सामने भाव अथवा राग-पक्ष भी हलका पड़ जाता है। 'शुक्ल' जी कल्पना को 'बोध-पक्ष' के भीतर ही ग्रहण करते हैं। इसीलिए उन्होंने बड़े आग्रह-अवधारण के साथ कहा है कि पाश्चात्य साहित्य-मनीषियों का, कला की अनुभूति को 'ज्ञान' या 'बोध' मानना एक भ्रान्तिपूर्ण धारणा है। मैंने पहले ही कह दिया है कि 'भाव' अथवा 'राग' के ही चूल पर घूमने पर भी कविता की रचना-प्रक्रिया में कल्पना का बड़ा महत्व है। जिस प्रकार फल की प्राप्ति के लिए जड़ ही आवश्यक नहीं, किन्तु शाखा-प्रशाखा एवं पत्रों से युक्त तना भी आवश्यक होता है—साथ ही मूल-विहीन तना भी मृत है, उसी प्रकार 'राग' अथवा 'भाव' की मूल-प्रेरणा के

विना कविता निर्जीव है; पर विना कल्पना के भी भाव वैसे ही हैं जैसे विना तने का मूल। कल्पना भाव से असम्बद्ध एवं निरपेक्ष नहीं, न कल्पना अनुभूति की जननी ही है, पर विना अनुभूति के कल्पना रूप किसे देगी और विना कल्पना के अनुभूति को रूप कौन देगा? कल्पना भावों में व्यापकता के साथ-साथ कलात्मक तटस्थता भी लाती है, किन्तु इसकी अधिकता से कविता जीवन-विच्छिन्न होकर, अपनी प्रभविष्णुता भी खो बैठती है। इतना होने पर भी हमें यह नहीं भूलना है कि अनुभूति, और कल्पना में आये 'सहजानुभूत वर्ण्य' में अन्तर होता है। 'अनुभूति' में हमारा 'ज्ञान' सूक्ष्मरूप से छिपा होता है, पर कल्पना-गत सहजानुभूति में वही, एक विशेष रूप, आकर अथवा बिम्ब के रूप में उपस्थित होता है। यही कारण है कि जहाँ अनुभूति में आया बोध व्यक्ति तक ही सीमित होता है, वहाँ वह सहजानुभूति के 'बिम्ब'-विशेष में परिणत होकर जन-जन-अनुभूति-ग्राह्य हो जाता है। कवि के मानस में 'विधायक' कल्पना के सहारे 'सामान्य' का 'विशेष' में परिणमन एवं 'ग्राहक' कल्पना के सहारे उस 'विशेष' की पाठक के मानस में पुनः 'सामान्य' में परिणति ही, काव्य-रस-प्रक्रिया का रहस्य है। यदि कल्पना बोध-पक्ष के भीतर ली जाय, तो वह बुद्धि की सर्जक अथवा विधायक शक्ति है।

भारतीय 'रसवाद' मुख्यतः, पाठक की 'आनन्द-ग्रहण-प्रक्रिया' का ही विवेचन है। 'कवि-व्यापार' पर 'रस-सिद्धान्त' बहुत कुछ मौन है। 'वक्रोक्तिवाद' के भीतर आचार्य कुन्तक ने कविता के इस पक्ष को सामने रखने का अवश्य प्रयत्न किया है। काव्य-रचना की प्रक्रिया पर विचार करनेवाले प्रत्येक विचारक को कविता में कल्पना के महत्वपूर्ण एवं अनुपेक्षणीय स्थान पर अवश्य विचार करना होगा। 'छायावाद' पर पाश्चात्य 'अभिव्यंजना-वाद' के प्रभाव का पूर्वाग्रह रखने वाले हिन्दी के समीक्षकों ने छायावादी काव्य को कल्पना की क्रीड़ा कहकर, छिछले मनोरंजन की वस्तु कहा है। 'पन्त' की 'नक्षत्र' एवं 'स्याही की बूंद' के प्रति

कही गई कविताएँ ही वस्तुतः उनके इस कथन का आधार रहीं और इन उक्तियों के बाल-जिज्ञासा एवं अल्प-वयस्क कुतूहल की सृष्टि होने का आरोप लगाया। इन आलोचकों ने छायावाद के अभिव्यक्ति-पक्ष में निहित कल्पना के योग को भुलाकर, उसके भाव-पक्ष पर ही कल्पना जनित होने का आक्षेप कर दिया। छायावादी कवियों को भावों की भी कल्पना करने वाला कहा गया। 'रस के साधारणीकरण' एवं 'सामान्य-मानव-भाव-भूमि' के सिद्धान्त पर आचार्य 'शुक्ल' ने छायावादी काव्य-साधना के मूल पर ही प्रश्न-वाचक चिह्न लगा दिया और इस छायावाद की एक शाखा 'रहस्य-वाद' से छायावाद के विरोधी पक्ष को और भी भ्रम-पोषण मिला। कोई भी छायावादी यह नहीं कहता कि राग या भाव कविता में अप्रधान अथवा नगण्य है और अभिव्यक्ति ही काव्य का मात्र रहस्य है। वस्तुतः बिना भाव के, बुद्धि निश्चेष्ट एवं कल्पना निष्क्रिय रहेगी, किन्तु भाव बिना कल्पना के, भोक्ता के हृदय-तंत्री की अस्फुट झंकार-मात्र होकर रह जायगा। कल्पना ही भाव को वह स्वरूप प्रदान करती है जिससे वह एक हृदय से दूसरे हृदय तक संक्रमण करता है। कल्पना भाव का पग है जिससे वह एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक गमन करता है। फिर क्या यह आरोप सत्य है कि छायावादी काव्य मात्र कल्पना की ही असंयत उछल-कूद है उसमें भावों की ऊष्मा नहीं ? 'पन्त' जी की कल्पना-प्रधान 'पल्लव' की रचनाओं और 'वीणा' की आरम्भिक कविताओं से इस निर्णय को सामने आने का साहस मिला।

संस्कृत-साहित्य में साहित्य के 'प्राण' का निर्धारण करनेवाले यावत् 'वाद' चले, उनमें 'अलंकार' एवं 'ध्वनि-सम्प्रदाय' इतने व्यापक हुए कि उन्होंने रीति, गुण, रस-वक्रोक्ति एवं औचित्य सभी को अपने में अन्तर्भुक्त कर लिया। अलंकार-सम्प्रदाय जहाँ कथन-शैली के महत्व के निर्देश को लेकर चला था, बाद में कुछ गिनी गिनाई, कथन-प्रणालियों की रचना कर उन्हीं के बनाव-परिष्कार एवं अनुगमन में ही सीमित हो गया। 'रस-

सम्प्रदाय' में भाव अथवा राग को अवश्य महत्व दिया गया, किन्तु 'स्थायी भावों' की गिनी-गिनाई संख्या में वह इस प्रकार उलझ गया कि कुछ 'अनुभावों' एवं 'संचारियों' तथा 'हावादि' की रेखाएँ खींच, वह भी मानव-हृदय की स्थूल वृत्तियों की परिधि में ही व्यायाम करने लगा। मनुष्य के अन्तर्जगत् के व्यापक प्रसार एवं उसकी संघर्ष-विघर्षमयी जटिलताओं को वह भूल ही बैठा। उसने मानव मन के व्यापक विस्तार को आठ—नव कोठों में ही बांट लिया। मूल-वासनाएँ या प्रधान-प्रवृत्तियाँ इतनी प्रधान बन बैठीं कि उनके उच्च स्तरों एवं परिष्कृत-परिवर्तित रूपों का ध्यान ही छूट गया। छायावादी काव्य ने इन प्रणालियों की जड़ताओं को तोड़कर काव्य और जीवन के बीच इन विभाजनों को अभंग्यता को अस्वीकार कर दिया। उसने जड़ से ही न चिपक कर उसकी ऊँचाई से अपना सम्बन्ध स्थापित किया। इस ऊँचाई, भावनाओं की इस विविधता से चिरकाल के अपरिचय के कारण हिन्दी-जगत् को इसमें कृत्रिमता, कल्पनातिरेक एवं भावाभास की झलक मिली। उसे अर्धभुक्त वृत्तियों एवं 'मूड' की सृष्टि कहा गया। इस प्रकार छायावादी काव्य के मूल भाव अथवा प्रेरक अनुभूति पर ही शंका उत्पन्न होने के दो कारण थे—एक, अभिव्यक्ति में कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान, दूसरे भावों एवं अनुभूतियों के विविध एवं परिवर्तित-परिष्कृत रूपों का उद्घाटन। अभिव्यक्ति में कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान—इसके उदाहरण स्वरूप 'कामायनी' में 'श्रद्धा' के रूप वर्णन एवं 'पन्त' के 'परिवर्तन' की पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। 'श्रद्धा' के रूप का वर्णन दर्शनीय है—

'कुसुम कानन-अञ्चल में मन्द, पवन प्रेरित सौरभ साकार।
रचित परमाणु-पराग शरीर, लड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो इस पर शुभ्र, नवल मधु राका-मन की साध।
हँसी का मद-विह्वल प्रतिबिम्ब, मधुरिमा खेला सदृश अबाध।'

'श्रद्धा' की रूप-योजना में कवि ने अद्भुत कला—कौशल से काम लिया

है। कवि के मन में अंकित श्रद्धा के रूप की धारणा स्थूल उपमानों एवं अप्रस्तुतों के द्वारा साधारणतया अभिव्यक्त नहीं हो सकती थी। 'श्रद्धा' की अपार रूप-राशि की जो गहनता कवि के अन्तश्चक्षुओं के सामने साकार हुई है, वह पाठकों की ग्राहिका कल्पना के पट पर तभी अनुविम्बित हो सकती है, जब असाधरण ढंग से असाधारण 'अप्रस्तुतों' का संकलन इस प्रकार किया जा सके कि पूर्ण चित्र का समग्र प्रभाव पाठकों के परिचित संस्कारों एवं अनुभूतियों के माध्यम से ही, किन्तु असाधारणता के साथ प्रतिफलित हो। ऐसे स्थलों में कवि के लिए बड़ी सतर्कता की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार भवनशिल्पी चिर-परिचित ईंट एवं सीमेंट से ही विचित्र से विचित्र गृह-उद्भावनाओं को रूप प्रदान कर, दर्शकों की प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय बना देता है, उसी प्रकार सच्ची अनुभूतियों का इमानदार कवि परिचित एवं प्रकृति-प्राप्त उपकरणों के सहारे, अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं निगूढ़तम भावनाओं को भी पाठकों के लिए ग्राह्य बना देता है। रूपातिशयता एवं अनुभूति की सूक्ष्मता, सभी महान् कवियों को ऐसी चित्र-योजनाओं के लिए प्रेरित करती है। महात्मा तुलसीदास जी ने सीता जी के रूप-वर्णन के समय इसी प्रकार की योजना का सहारा लिया है। असाधारण का साधारणीकरण तो कवि करता ही है, किन्तु प्रभाव की पावनता एवं उदारता की रक्षा के लिए उसे 'असाधारण' के 'असाधारणत्व' को भी कुछ अंशों में अक्षुण्ण रखना पड़ता है—

'जो छबि सुधा पयोनिधि होई।
परम-रूप-मय कच्छप सोई॥
सोभा रजु, मंदर सिंगारू।
मथइ पानि-पंकज निज मारू॥
यहि बिधि उपजइ लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि संकोच समेत कबि, कहहिं सीय-सम-तूल॥'

ऐसे रूप-दृश्यों का प्रभाव सब पर एक रूप का नहीं पड़ सकता।

पाठक को भी कवि की भांति कुछ अंशों में रचनात्मक अथवा विधायक कल्पना का सहारा आवश्यक हो जाता है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे स्थल साधारण स्तर के पाठकों में सामान्यतः उस प्रकार से भावोन्मेष नहीं करते, जितना विकसित रुचि के पाठक में।

'राधा' के रूप-वर्णन में भी, कवि महात्मा सूरदास जी ने यही मार्ग अपनाया है। उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, सन्देहालंकार एवं रूपकों की अनवरत झड़ी उनकी इसी मनःस्थिति की द्योतक है। 'मनु गिरिवर ते आवति गंगा' एवं 'अद्‌भुत एक अनूपम बाग'-जैसे पद इसी स्थिति के सीमान्त हैं। 'वर्ण्य' की गहनानुभूति सभी युगों में कवि की उदात्त विधायक कल्पना को उत्प्रेरित करती रही है, पर छायावादी कवियों की यह विशेषता है कि 'वर्ण्य' अथवा रूप के प्रति केवल कुतूहल एवं अद्‌भुत्य की भावना को जगाकर ही वे चुप नहीं हो जाते, वरन् समस्त अद्‌भुदता एवँ अतिशयता के बावजूद भी उनकी दृष्टि सदैव उस बिन्दु की ओर रही है जिसे शास्त्रीय शब्दावली में 'प्रभावसाम्य' कहा गया है। फूलों के वन में मन्दगति से बहते हुए पवन द्वारा एकत्र सौरभ, जब पराग एवं मधु के सहारे रूपबद्ध हो उठा हो और उस पर वासन्ती पूर्णिमा की शुभ्रज्योत्स्ना भी प्रतिबिम्बित हो रही हो, तब कहीं 'श्रद्धा' के गौर, कोमल, सरस एवं गतिमान रूप की कमनीयता, भीतर की प्यास-भरी साध एवं मदभरी निष्कलुष हँसी के साथ पाठकों की अनुभूति में आ सकती है! मन की भीतरी साध से बाह्य शरीर पर उभरने वाली झिलमिलाती कांति के लिए मधुकालीन पूनम का उपस्कर उपस्थित करना, कवि की विधायक कल्पना का चूड़ान्त परिचय है। प्रभाव-साम्य का सूक्ष्म आधार पकड़ कर चलने के कारण, छायावादी रूप-योजनाओं और अप्रस्तुत-चयनों में ऊहात्मकता की प्रधानता बहुत अंशों में नहीं आने पाई है। पर छायावादी कविता के पाठकों में कुछ विधायक कल्पना भी अपेक्षित है, क्योंकि वह वर्णनात्मक नहीं सांकेतिक होती है। छायावादी कवि इन्द्रियज ज्ञान एवं सहज-प्रकृतिगत संस्कारों के सूत्र को, अपनी भावाभिव्यक्ति के

पथ पर नहीं छोड़ता, यही कारण है कि पाठकों की ग्राहक कल्पना में उसका चित्र अपने प्रत्येक रेखा–रंग के साथ उगता चलता है और वह अपने पूर्व-संस्कारों एवं संचित–अनुभूतियों के सहारे 'अप्रस्तुतों' से बने चित्र में 'प्रस्तुत' का आस्वाद करता चलता है। छायावादी चित्र चाहे लघु हों चाहे विराट्, स्पष्ट या धुँधले-उनसे ऐसा भान होता चलता है कि वे कवि की अनुभूति में सुप्त तथा उसकी सहजानुभूति में स्पष्ट हुए रहते हैं।

कविवर 'पन्त' की कविता का कल्पना-विलास हिन्दी के आधुनिक साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। यदि 'नक्षत्र' जैसी कविताएँ अपवाद-स्वरूप मानी जायँ, जहाँ कल्पना ने उसे 'निद्रा के रहस्य-कानन', 'सूर–सिन्धु तुलसी के मानस' एवं 'स्वप्नों के नीरव चुम्बन' में अध्यवसित कर दिया है, तो यह मानना पड़ेगा कि श्री सुमित्रानन्दन पन्त के भाव एवं रूपाभिव्यक्ति में भी कल्पना का बड़ा कुशल प्रयोग हुआ है। 'परिवर्तन' एक सूक्ष्म भावात्मक संज्ञा है, जिसका लक्ष्य तो होता चलता है, पर जिसकी कोई स्थूल सत्ता नहीं निर्दिष्ट की जा सकती। अपनी विराट् विधायक कल्पना के सहारे कवि ने समय, ऋतु, आयु, युग, भाव स्थिति आदि के परिवर्तित रूपों का ऐसा सचित्र वर्णन किया है कि उसकी समस्त भीषणता, पृथुल आन्दोलक शक्ति एवं गतिमान प्रत्यक्षता नेत्रों के सामने मूर्त्त–सी हो उठती है।

ओस–विन्दुओं सी सजी डाल की सारी शोभा कवि की कल्पना ने डाल को 'मोतियो से जड़ी' कह कर प्रत्यक्ष-सा कर दिया—

'मोतियों जड़ी ओस की डार,
हिला जाती चुपचाप बयार।'

जन्म के साथ ही मनुष्य संसार में आँख खोलता एवं मृत्यु के साथ मूँद लेता है, किन्तु इसको इसी प्रकार इतिवृत्तात्मक ढंग से कहने से इन दोनों व्यापारों की प्रभाव-पूर्ण साकारता नेत्रों के सामने न उपस्थित होती।

कवि की कल्पना ने 'जन्म' एवं 'मृत्यु' इन दो भाववाची दशाओं को 'सूक्ष्म' से 'मूर्त्त' रूप दे दिया—

'खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण।'

'परिवर्तन' पर सहस्र-फन वासुकि का आरोप करती हुई कवि की कल्पना परिवर्तन के लोमहर्षण-कारी रूप को आकार प्रदान कर देती है—

'लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर,
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षः स्थल पर।
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत-फूत्कार भयंकर—
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर।
मृत्यु तुम्हारा गरल-दन्त, कञ्चुक कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र-कुण्डल
दिङ् मंडल।'

'आलोड़ित सिन्धु' एवं 'वाताहत-मेघाच्छन्न गगन' की सहानुभूति का निम्न-पंक्तियों में सप्राण कर देनेवाली कवि की कल्पना का बल दर्शनीय है—

'आलोड़ित-अम्बुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन
मुग्ध भुजंगम-सा, इंगित पर करता नर्तन।
दिक्-पञ्जर में बद्ध, गजाधिप-सा विनतानन,
वाताहत हो गगन आर्त्त करता गुरु-गर्जन।'

'धर्मी' के लिए 'धर्म' का प्रयोग कर निम्न पंक्तियों में 'पन्त' जी ने दीन व्यक्ति के कृशकाय पर अत्यन्त प्रखर प्रभाव डालने वाले शिशिर को 'भौंकते श्वान' कहकर समस्त प्रभाव को शत-शत स्वरों में मुखर बना दिया है—

काँपता उधर दैन्य निरुपाय,
रज्जु-सा छिद्रों का कृश-काय !
न उर में गृह का तनिक दुलार,
उदर में ही दानों का भार।
भूँकता-सिड़ी-शिशिर का श्वान
चीरता हरे अचीर शरीर!'

प्रसाद जी ने 'श्रद्धा' के 'अधखुले अंग' की प्रभावानुभूति के लिए कल्पना की जिस सुनहली तूलिका का सहारा लिया है, वह कितनी कमनीय है। मेघों का वन चाहे भले ही न होता हो और बिजली का फूल भी किसी ने भले ही न देखा हो, किन्तु 'श्रद्धा' के नील परिधान से झाँकते अधखुले गौरारुण अंग की कमनीयता का दर्शन तो वही कर सकता है जो कवि की कल्पना के साथ रूप के मधुर आलोक में, इस काव्यात्मक उक्ति के साथ ही मेघों के वन में बिजली के गुलाबी कंचन-पुष्प की सहजानुभूति कर सके !

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।—('कामायनी')

'श्रद्धा' की रूप-ज्वाला की काव्यानुभूति का बोध कराने के लिए प्रसाद की विधायक कल्पना माधवी रजनी में नव इन्द्रनीलमणि के लघु शृंग को फोड़कर अश्रान्त धधकनेवाली अचेत ज्वालामुखी का दृश्य प्रस्तुत कर देती है। माधवी रजनी के आरोप के विना मनु के मुग्ध नेत्रों से दिखाई पड़नेवाला वह मादक वातावरण प्रस्तुत ही कैसे होता! नीले परिधान से दिखाई पड़नेवाले अधखुले अंग की रूप-स्वर्णिमा, उसका मनु के मन में मधुर ताप जगानेवाला प्रभाव, साथ ही उस रूप की मतवाली अल्हड़ता विना 'धधक' और 'अचेत' शब्दों के कैसे संकेतित होती !

था कि नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड़कर धधक रही हो कान्त,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत,
माधवी रजनी में अश्रान्त

प्रश्न हो सकता है कि साधारणीकरण-विभाव की सामान्यता और आश्रय के साथ तादात्म्य ही रसानुभूति का मूल है, फिर ऐसी असम्भव कल्पनाएँ रसोद्रेक में कहाँ तक सहायक हो सकती हैं? इसका उत्तर यही है कि रसोद्रेक एवं रसानुभूति को न तो इतने संकुचित-सीमित रूप में लेना है कि काव्य एवं कला की उच्च एवं परिष्कृत अनुभूति मात्र शारीरिक एवं स्थूल ही बनकर रह जाय और न प्रत्येक स्थल पर रूप सौंदर्य का प्रभाव रति-उद्रेक तक ही निवद्ध कर देना है कि सुन्दरता एवं रूप की उदात्त भावनाएँ एवं उच्च संस्कारों के अस्तित्व का अनुभव ही निषिद्ध हो जाय। रूप एवं सौंदर्य के प्रभाव के रति, कुतूहल, विस्मय, आनन्द, तादात्म्य एवं निस्संग कलात्मक आह्लाद आदि कितने ही स्तर हो सकते हैं। छायावादी कवियों ने विशाल कल्पना के सहारे ही अपनी उच्चातिउच्च रूप-भावनाओं एवं उसके प्रभाव की काव्यानुभूति को पाठकों में सहजानुभूति का रूप प्रदान किया है। यही कारण है कि संवेदना एवं प्रभाव की सृष्टि करती हुई भी छायावाद की रूप-सौंदर्य–सम्बन्धी उक्तियाँ इतनी अशारीरिक एवं मांसलता से ऊपर हो सकी हैं। 'सीता' रूप-वर्णन में 'गोस्वामी' जी को 'साधारणीकरण' की कठिनाई एवं सुपरिचित प्राकृतिक उपकरणों-उपमानों की कमी नहीं थी, वरन् उन्हें उस रूप के प्रति पाठकों के हृदय में रति-भाव पैदा ही नहीं करना था। अपने ऊँचे-से-ऊँचे कल्पना-प्रासाद में छायावादी कवि इन्द्रिय-बोध एवं जीवन-जगत् के संस्कारों की नींव नहीं भूलता, इसी से उसमें अनुभूति की कमी नहीं होती।

छायावादी कवियों ने हृदय की विभिन्न वैयक्तिक अनुभूतियों को भी सहजानुभूति से चित्रित करने का प्रयत्न किया है। ये अनुभूतियाँ कभी-कभी

अत्यन्त वैयक्तिक एवं असाधारण भी लगती हैं, पर साधारणीकरण की सीमाओं को जड़ मानकर ऐसी अनुभूतियों को अनुभूत्याभास या कल्पित अनुभूति मानना मनोविज्ञान की जटिलता एवं मानव-मन की गूढ़ता को अस्वीकार करना है। अनुभूति के भी स्तर होते हैं और वह भी तुलनात्मक एवं आपेक्षिक होती है। 'सीता' के वियोग में व्याकुल राम कह रहे हैं—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मन बसत सदा तोहिं पाहीं।
जानु प्रीति-रस एतनेहिं माहीं॥—('मानस')

सीता की वियोग-पीड़ा की अधिकता में राम के लिए सीता-राम की एकात्मता अविश्वासनीय एवं कल्पित नहीं, वह राम के उस क्षण के आन्तरिक-सत्य की प्रतिध्वनि मात्र है, केवल चार अर्धालियों में सीता को फुसलाने का कौशल नहीं। 'प्रकृत-प्राकृत' एवं 'जन-सामान्य' के कठोर आग्रह से मानव-हृदय एवं उसका समस्त विकास 'प्राकृत' मात्र ही रह जायगा।'

उच्छ्वास एवं आँसू की घड़ियों में भी सच्चे प्रेमी के भीतर एक प्रकार के विश्राम की आन्तरिक अनुभूति बनी रहती है। रुदित नेत्रों में निद्रा आ जाती है और वह व्यक्ति स्वप्न में भी अपनी कामनाओं की तृप्ति पा लेता है। प्रेम-वियोग की दशा सर्वथा विश्राम-शून्य ही नहीं होती। फिर उच्छ्वास-रुदन-काल को विश्राम की सुप्तावस्था एवं स्वप्न को जाग्रतावस्था कहने की व्यंजना मर्म-शून्य कैसे कही जा सकती है? इस लाक्षणिक मूर्ति-मत्ता का अपना एक लक्ष्य है—

उच्छ्वास और आँसू में,
विश्राम थका सोता है।
रोई, आँखों में निद्रा
बनकर सपना होता है।

'अप्सरी'-कविता में अप्सरी के 'तुहिन बिन्दु में इन्दु-रश्मि-सी सोने' तथा 'मुकुल-शयन में उसके स्वप्न देखने' की कल्पना कितनी कमनीय एवं कोमल है !

इसी प्रकार नम्रता में भी भास्वर होनेवाले यौवन-गर्व का भाव-द्वन्द्व कितना सटीक उतरा है ! नम्रता एवं गर्व की मिश्रित-दशा कल्पित अनुभूति नहीं, जीवन की एक वस्तु-स्थिति है—

तुम कनक-किरन के अन्तराल में,
लुक छिपकर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन रस-कन ढरते—
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो,
मौन बने रहते हो क्यों ? ('चंद्रगुप्त')

इसी प्रकार 'सौंदर्य' को कनक-किरन के अन्तराल में लुक-छिपकर चलनेवाला कहना कल्पना-विलास का अतिरेक नहीं, वरन् सुन्दर-गौरवर्ण के भीतर से अभिव्यक्त होनेवाले भाव-रूप सूक्ष्म सौंदर्य की काव्यानुभूति के संकेत करने का मार्मिक प्रयास है।

उषा से भावों का अनुराग, विजन से एकाकीपन की अनुभूति एवं राग से उल्लास-मय माधुर्य व्यंजित किया गया है। प्रेम की सुहावनी, मादक किन्तु एकान्त अनुभूति के लिए मनोरम चित्र अंकित हुआ है—

'ओ मेरी जीवन की स्मृति !
ओ अनन्त के आतुर अनुराग
बैठ गुलाबी विजन उषा में
गाते कौन मनोहर राग ।'—('चन्द्रगुप्त)

यौवन के प्रेम की मादक पीर ऐसे आच्छादित कर लेनेवाली होती है कि प्रत्येक आह एक मधुर संगीत हो उठती है ! युवक-हृदय वेदना के इस नये वरदान को विश्व का मूल मान बैठता है। यह एक वैज्ञानिक

सत्य भले ही न हो, किन्तु एक स्वाभाविक मानसिक आवेग के रूप में इसका सत्य अकाट्य है—

'वेदना के ही सुरीले हाथ से;
है बना यह विश्व इसका परमपद
वेदना का ही मनोहर रूप है,
वेदना का ही स्वतंत्र विनोद है।'

छाया को 'बच्चों के तुतले भय एवं वृद्धावस्था की स्मृति—सी' कहनेवाली कोरी कल्पना ने जहाँ साधारण एवं इन्द्रिय-ग्राह्य रूप-वर्णन में भी अलौकिकता एवं असाधारणता का मोह छोड़ दिया है, वह अनुभूति होकर अत्यन्त रमणीय हो उठी है। कल्पना की भाव-विरहित अनियंत्रित उड़ान स्थलों का कोई भी समर्थन नहीं कर सकता, किन्तु 'लक्षणा', 'ध्वनि' एवं 'वक्रोक्ति' के सहारे छायावादी काव्य-साधना ने केवल कल्पनालोक में मिथ्या आस्फालन नहीं किया है, उसने अपनी कल्पना की खराद पर चढ़ा कर मानव-जीवन की विविध निगूढ़ एवं सूक्ष्म अनुभूतियों को मूर्त्त, सचित्र एवं प्रभविष्णु भी बनाया है। लक्षणा की ऐसी विराट् महत्ता हमें हिंदी-साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है। छायावादी कल्पना का व्यापार वहीं अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म एवं अस्पष्ट हो उठता है, जहाँ वह रूप एवं धर्म से आगे बढ़कर प्रभाव के आधार पर 'अप्रस्तुत—विधान' करने लगती है। यह अस्पष्टता तब और तीव्र हो उठती है, जब प्रभाव-साम्य का यह आधार गोचरता की सीमा से परे जाने लगता है। 'पन्त' की 'छाया बालिका' एवं 'नक्षत्र' के प्रति कही गई रचनाओं में यह अस्पष्टता कुछ अंशों में झलक जाती है, यद्यपि कल्पना के बहुमुखी प्रसार एवं नवीन उन्मेष से उत्पन्न चारुता का जितना विकास उनमें पाया जाता है, उतना अन्य कवियों में नहीं। कल्पना उनके काव्य का प्रमुख तत्व है और यह 'कला' ही नहीं, 'विषय-वस्तु' में भी व्याप्त है। कहीं-कहीं तो वह कोरी कल्पना (फैन्सी) के स्तर तक उड़ जाती है। यही कारण है कि

भंगिमा एवं आलंकारिक वक्रता की जो प्रसृति हमें 'पन्त' में प्राप्त है, वह 'प्रसाद' में भी नहीं। 'प्रसाद' की कल्पना भाव-नीति है, 'निराला' की दर्शनबोझिल एवं महादेवी जी की चिन्तन-दीप्त। 'पन्त' कल्पना की गुदगुदी से नाच उठते हैं; प्रसाद के भाव अपनी अभिव्यक्ति के लिए कल्पना से मैत्री करते हैं; और महादेवी कल्पना की शीतल ज्योत्स्ना में अपनी अनुभूतियों का स्वरूप सवाँरती हैं। 'पन्त' का बच्चों का-सा भोलापन एवं शिशु की अजानता का आकर्षण उनकी कल्पना-प्रियता का ही रूप है। आनुभूतिक सघनता के कारण 'प्रसाद' जी की कल्पना पार्श्वस्थ, आकार की अभिनव झिलमिलाहट के कारण 'पन्त' जी की कल्पना दूरस्थ एवं सीमा के अपरिबद्ध विस्तार के कारण महादेवी की कल्पना कान्त किन्तु असीम है। डा० रामकुमार वर्मा की कल्पना मध्यम-पथ-गामिनी है, वह सूक्ष्म चेतना की अपेक्षा रूपाकार के अधिक निकट है। 'दिनकर' जी की कल्पना यों तो भावाक्षिप्त है अथवा विचाराक्षिप्त। 'बच्चन' जी की अनुभूति-सघनता के तल में कल्पना की विनिमज्जित स्फूर्ति का अनुभव ही नहीं हो पाता। 'कर्णफूल' में 'नरेन्द्र' जी का 'मधुप-मन' कर्णफूल बन जाने की भावुक कल्पना से अवश्य थिरक उठा है, पर उनकी कल्पना पर भाव एवं क्रमशः विचारों का चाप बढ़ता गया है। सुश्री सुमित्रा कुमारी सिनहा की कल्पना उनकी अनुभूति और चिन्तन में धुल ही नहीं गई है, कहीं-कहीं सूख भी गई है। सुश्री विद्यावती जी 'कोकिल' की कल्पना-भ्रमरी वातावरण में गूँजती तो अवश्य है, किन्तु जैसे उसके पंखों की प्रत्येक थरथराहट 'रस-भींगी' होने की स्पृहा से ही आर्द्र हो उठती है। 'कौन तम के पार रे कह'—जैसे गीतों में यद्यपि कल्पना की अन्तः-सलिला विचारावेग में उमड़ कर भावों को मूक कर देती हैं पर 'जुही की कली' एवं 'शेफालिका' जैसी रचनाओं में 'निराला' जी ने कल्पना को अप्रतिम रसावरण प्रदान किया है। छायावाद के 'तृतीय चरण' में कल्पना और भाव की मैत्री और अधिक संतुलित हो उठी है। कलात्मक प्रतिक्रिया की लहर शान्त हो

चली थी, और रूप-सौंदर्य एवं जीवन की नवीन आशा-आस्था से प्रेरित सर्वश्री शम्भूनाथ, भारती, 'शाही', हंसकुमार, जानकी-वल्लभ शास्त्री, 'प्रभात' (बिहार), रू० ना० त्रिपाठी' 'प्रकाश', हरीमोहन, 'भ्रमर' आदि के गीतों में भाव और कल्पना का सुन्दर मणि-कांचन-संयोग होता गया है । जो अब तक 'प्रयोगवाद' की प्रतिक्रिया से बचकर अपने विश्वास को बचाये हुए लिखते जा रहे हैं, उनमें यह सन्तुलन निखरता ही आ रहा है । 'कोकिल' जी की साधना इधर काफी निखरी है । श्री शम्भूनाथ और भारती प्रयोग के पथ के पथिक बन गये हैं ।)

छायावाद का शास्त्रीय-परीक्षण

सर्वप्रथम मैं इस निबंध के शीर्षक के विषय में ही यह स्पष्ट कर देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि 'शास्त्रीय परीक्षण' कहने से मेरा यह कदापि अभिमत नहीं है कि छायावाद का एक निश्चित एवं सर्वमान्य शास्त्रीय आधार है और छायावादी कवि उसी को अपना पाथेय बनाकर चलता है और न यही मेरा मन्तव्य है कि एक सुनिश्चित शास्त्रीय प्रेरणा से लिखा गया छायावादी काव्य ठीक-ठीक शास्त्रीय कोष्ठकों में सर्वत्र बिठाया जा सकता है। फिर प्रश्न होता है कि यह 'शास्त्रीय परीक्षण' का प्रश्न उठा ही क्यों ? इसके उत्तर में मेरा यही निवेदन है कि प्रायः 'छायाबाद' को अशास्त्रीय ही नहीं, साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से 'अस्पृश्य' भी घोषित किया गया है; फिर यह समस्या स्वभावतः उठ सकती है कि यदि भारतीय साहित्य-शास्त्र की मान्यताओं एवं परंपराओं के अनुसार 'छायावादी काव्य' पर विचार किया जाय तो वह किस कोटि का काव्य ठहरता है और यदि हर सच्चा साहित्य अपनी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध होता है तो 'छायावाद' उससे कहाँ तक जीवन ले सका है।

यद्यपि जीवन-जगत् के प्रति स्वीकृत दृष्टिकोण साहित्यकार की कृति के वस्तु-संचय एवं उसके विन्यास पर पर्याप्त प्रभाव डालते हैं, पर विषय एवं वस्तु-गत सीमाओं की जड़ता में कोई भी साहित्य सार्वभौम एवं जन-जन हृदय-सम्वेद्य नहीं हो सकता। 'छायावादी काव्य' में आये वस्तु-विषय अपने पूर्ववर्ती एवं परवर्ती साहित्य में गृहीत विषयों से कुछ विशिष्ट हो सकते हैं, किन्तु उन विषयों को ही विभाजन की मुख्य कसौटी मानकर चलना ठीक नहीं। हर युग की अपनी कुछ न कुछ मुख्य प्रवृत्तियाँ अथवा समस्याएँ हुआ करती हैं और वे अन्य विषयों की अपेक्षा अधिक अवधारण प्राप्त कर लेती हैं। 'रीतिकाल' में 'नायक-नायिका-भेद' की व्यापकता होने पर भी यह कहना किंचित् ठीक न होगा कि यह उनका सिद्धान्त या दर्शन

था और वे इसके अतिरिक्त विषय पर लिखे गये काव्य को हेय-काव्य या काव्य ही न समझते थे। इसी प्रकार व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की आकांक्षा, आत्माभिव्यक्ति की प्रबलता, वेदना की विवृति, प्रकृति के प्रति रागात्मक सम्बन्ध या उसमें चेतना-प्रक्षेप, प्रेम-प्रवणता और ऐन्द्रिय तथा काल्पनिक सौन्दर्य की अशरीरी भुक्ति आदि प्रवृत्तियों के थोड़े-बहुत अंश में सर्वत्र मिलने पर भी इन्हीं को 'छायावाद' का धर्म मान लेना, मेरी समझ से अधिक सत्य-संगत नहीं।

'छायावादी काव्य' अपनी अभिव्यक्ति-प्रणाली अथवा प्रकाशन-शैली की दृष्टि से विशिष्ट और अपनी पूर्ववर्ती शैलियों से भिन्न है। अनुभूति का ही साहित्य में स्थान है, अतः यहाँ 'छायावादी काव्य' में आयी विविध अनुभूतियों के प्रकाश को उसके विषय-विस्तार की व्यापकता मानकर, हमें दृष्टिकोण और शैली की ओर ही अधिक ध्यान देना है, अन्यथा किसी भी दो कवि के विषय कभी सर्वांश में एक नहीं हो सकते और तब इसको ही आधार मानकर वर्गीकरण की ओर बढ़ने से 'मुंडे-मुंडे' एक 'वाद' मानना पड़ेगा। आज 'आशावाद', 'स्वप्नवाद', 'स्मृतिवाद' आदि नये-नये वादों की वृद्धि के मूल में भी ऐसी ही भ्रान्तिमूलक स्थूल एवं छिछली दृष्टियाँ, काम कर रही हैं। 'छायावाद' में गिने जानेवाले किन्हीं दो कवियों का एक ही दर्शन नहीं है, समानता है तो दृष्टिकोण एवं अभिव्यक्ति-शैली की ही।

हम आचार्य 'शुक्ल' जी के मत से यहाँ तक तो सहमत हैं कि 'छायावाद विषय-निरूपण' का दृष्टिकोण विशेष है, किन्तु हम उनके इस मत से सहमत नहीं कि 'छायावाद' मूलतः 'प्रस्तुत' के स्थानों पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप में 'अप्रस्तुत' का कथन और मात्र शैली है।' ऐसा कहने का तात्पर्य यह हुआ कि 'छायावादी' जान-बूझकर अपनी उक्ति को अस्पष्ट, गूढ़ एवं रहस्यमय बनाना चाहते हैं। ऐसा मानना 'छायावादी' 'प्रतिभा के साथ बड़ा अन्याय होगा। जब मैं अन्याय की बात कहता हूँ तो मेरा अर्थ 'छायावादी' 'धारा' की मान्य एवं सर्व-स्वीकृत प्रतिभाओं से ही

है, मात्र अनुकरण पर शब्द-क्रीड़ा करनेवाले कविमानियों से नहीं। यद्यपि इस बरसाती बाढ़ का अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन देने का श्रेय हमारी अधिनायक-वादी विचारधाराओं को ही है, जिन्होंने उचित मूल्यांकन न कर उसकी खिल्लियाँ ही अधिक उड़ाईं।

'प्रसाद' जी की यह उक्ति 'छायावाद' की मूल-प्रवृत्ति एवं उसकी अभिव्यक्ति-प्रणाली पर यथार्थ प्रकाश डालती है कि 'छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्या-त्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्य-मय प्रतीक विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की निवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभि-व्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।' अन्यत्र उन्होंने कहा है कि 'बाह्य-वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी; तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।' उनके मत से ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में कुछ विचित्रता उत्पन्न कर देती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही।' उन्होंने 'छाया' के विषय में भी कहा है कि मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। रस-लावण्य को संस्कृत में 'छाया' और 'विच्छित्ति' के नाम से कुछ लोगों ने निरूपित किया है।' यही नहीं, लोकोत्तीर्ण-पद-रचना, वैदग्ध्यभंगी-भणिति, उज्ज्वल छायातिशय-रमणीयता-आदि द्वारा उन्होंने संकेत ही नहीं, कुन्तक को अपना प्रेरणा-स्रोत मानने का, स्पष्ट उद्धरणों के द्वारा कथन भी किया है। 'शुक्ल' जी ने भारतीय 'वक्रोक्ति-वाद' को पाश्चात्य, 'अभि-व्यंजनावाद' का समकक्ष कहकर निकृष्ट और उपेक्षणीय सिद्ध किया है, किन्तु हमें संक्षेप में यह देखना है कि राजानक कुन्तक की वह 'वक्रता' मात्र-बुद्धि-चमत्कार ही थी अथवा उसमें कोई साहित्य एवं कला-विषयक

सत्य भी ध्वनित हुआ है।

कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' की व्याख्या 'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी-भणितिरुच्यते' कहकर की। यह 'वक्रोक्ति' अलंकार-वादियों की 'वक्रोक्ति' से भिन्न और इतनी व्यापक है कि इसमें साहित्य के यावत् सिद्धान्त समा जाते हैं। वह केवल बौद्धिक चमत्कार की उद्भाविका नहीं, जो मन के ऊपरी स्तर पर एक कुतूहल और विस्मय की भावना जगाकर ही शान्त हो जाती है; वह कवि का वह व्यापक व्यापार है जिसमें रस, अलंकार, ध्वनि, रीति-गुण एवं औचित्य आदि सभी तत्व समा जाते हैं। वर्ण-वक्रता, पद-पूर्वार्ध-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण-वक्रता एवं प्रबंध-वक्रता के विभागों से कुन्तक ने इस वक्रता को ६ रूपों में बाँटा है। कुन्तक ने 'लोकोत्तर चमत्कारि वैचित्र्य-सिद्धि' अर्थात् अलौकिक आनंदोत्पत्ति के निमित्त अपने वक्रोक्ति-जीवित की रचना की। उसने अपने वक्रोक्ति को 'विचित्रा-अभिधा' भी कहा है। इससे यह अर्थ निकला कि 'वक्रता' एवं 'वैचित्र्य' एक ही हैं। कुन्तक के शस्त्रादि प्रसिद्ध शब्दार्थों निबंध व्यतिरेकि, प्रसिद्ध-प्रस्थान-व्यतिरेकि एवं अतिक्रान्त प्रसिद्ध व्यवहार सरणि— आदि सभी शब्दावलियों के विचार द्वारा यही सिद्ध होता है कि राजानक कुन्तक कविता की शैली को साधारण एवं कठोर वाच्यार्थ-प्रधान व्यावहारिक एवं दैनिक भाषा-प्रणाली एवं अभिव्यक्ति-विधि से भिन्न मानता है। अतः 'वैचित्र्य' शब्द से चकृत और उत्कर्ण होने की बात नहीं। 'रस-सिद्धान्त' की 'साधारणीकरण' प्रक्रिया की मान्यता भी यही सिद्ध करती है कि काव्य में कवि के व्यापार अथवा कलात्मक प्रयत्न का महत्व अपरिहार्य है। वक्रोक्तिमत में काव्य का यावत् सौन्दर्य 'वक्रोक्ति' अथवा 'वैचित्र्य' के ही भीतर है, क्योंकि उसका एक-एक शब्द कवि की विशेष काव्यावस्था में प्रबुद्ध-अप्रबुद्ध-रूप में एक विशेष अभिप्राय से विन्यस्त होता है। कवि के कर्म की कुशलता का नाम विदग्धता है अतः वैदग्ध-भंगी भणिति का अर्थ हुआ— कवि-चातुर्य से उद्भूत वैचित्र्य-पूर्ण कथन-शैली कुन्तक की शैली को अभिव्यक्तिवादी या

अविधावादी भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी 'विशिष्टा अभिधा' में लक्षणा और व्यंजना का भी अन्तर्भाव है। अर्थ-मात्र की प्रतीति करानेवाले सभी शब्द नायक हैं। 'अम्लान-प्रतिभोदभिन्न-नव शब्दार्थ-बंधुर' कहकर राजानक ने कवि-प्रतिभा, शब्द एवं अर्थ तीनों के महत्व को स्वीकार किया है। 'वक्रोक्ति-जीवित' के १। २३ श्लोक में 'तद्विह्लाद कारिता' की अनिवार्यता' मानकर उसने उच्छृंखल युक्तियों के विरुद्ध सहृदयों के अनुरंजन की बात भी मानी है। उसकी वर्ण-वक्रता में अनुप्रासति, अलंकार पर्याय-वक्रता में अनेक पर्यायो में से उचित पर्याय के चयन की आवश्यकता, उपचार वक्रता में अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य' नामज लक्षणा पर आधृत ध्वनि और रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता में अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि घिर आते हैं। कुन्तक का 'प्रतीयमान रूपक' आनन्दवर्धना की 'रूपक-ध्वनि हो जाती है। 'वाक्य-वक्रता' में अलंकारों को एवं 'प्रकरण' तथा 'प्रबन्ध-वक्रता' में 'रस' को समेटते हुए कुन्तक ने काव्य एवं उसके प्रभाव की सीमा-वृद्धि ही की है।

यहाँ कुन्तक पर संकेत करते हुए रस या ध्वनि के सिद्धान्त का उत्पादन करना मेरा लक्ष्य नहीं है और न कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का प्रचार ही। इतना कहने से मेरा उद्देश्य यही है कि छायावादी प्रसाद की अभिव्यक्ति शैली को कुन्तक एवं आनन्द-वर्धन की वैचित्र्य-प्रतीयमानता-प्रधान सरणि से प्रेरणा मिली है। अब ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, प्रतीक-विधान, उपचार-वक्रता एवं स्वानुभूति की विवृति की व्याख्या के साथ रसादि सम्प्रदायों की दृष्टि से छायावाद काव्य पर विचार किया जायगा और यह देखने का प्रयत्न किया जायगा कि ये प्रणालियाँ उन प्राचीन साँचों में कहाँ तक बैठ सकती हैं।

ध्वन्यात्मकता का संकेत आनन्द-वर्धन के 'प्रतीयमान अर्थ' से है। शास्त्रानुसार 'वाच्यार्थ' एवं 'लक्ष्यार्थ' पर 'व्यंग्यार्थ' की प्रधानता ही 'ध्वनि' की स्थिति है। इसको नारी के सुन्दर अंगावयवों के अतिरिक्त सौन्दर्य या लावण्य की भाँति, वाच्यार्थादि से भिन्न माना गया है। 'चारुत्वोत्कर्ष-

निर्बंधना हो वाच्य व्यंग्ययोः प्राधान्य विवक्षा' एवं वाच्यतिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्' के द्वारा वाच्य से उत्कृष्ट व्यंग्य को ही क्रमशः 'ध्वन्यालोक' एवं 'साहित्य-दर्पण' में ध्वनि कहा गया है। शास्त्रों में इसकी उपमा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होने वाली घंटा-ध्वनि से दी गई है। 'वस्तु-ध्वनि', 'अलंकार-ध्वनि' एवं 'रसादि-ध्वनि' नाम से 'ध्वनि' के तीन रूप माने गये हैं। इनमें 'वस्तु-ध्वनि' का बड़ा ही सुन्दर विस्तार छायावादी काव्य में हुआ है। 'निराला' की 'संध्या-सुन्दरी' में 'वस्तु-ध्वनि' का बहुत ही सुन्दर रूप उपस्थित हुआ है—

सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह छाँह-सी अंबर-पथ से चली
वह संध्या-सुन्दरी 'परी-सी धीरे-धीरे !'

'नीरवता के कंधे पर हाथ डालने' से संध्याकाल की शान्ति एवं निस्तब्धता, 'छाँह-सी' से संध्या का छाया रूप से उतरना, 'अम्बर-पथ से उतरने' से उसकी काया-कोमलता एवं परी-सी सुषमा, सुकुमारता आदि सभी बातें ध्वनित हो जाती हैं। 'अलंकार-ध्वनि' में अलंकार 'वाच्य' न होकर 'व्यंग्य' होता है। 'ध्वनि' के प्रधानतः 'अभिधा-मूला' तथा 'लक्षणा मूला' नाम के दो भेद किये गये हैं। इन्हें ही क्रम से 'विवक्षितान्य पर-वाच्य-ध्वनि' और 'अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि' भी कहते हैं। 'अभिधा-मूला' में वाच्यार्थ की विवक्षा-अपेक्षा होती है, पर 'लक्षणा-मूला' के 'अर्थान्तर-संक्रमित' और 'अत्यन्त-तिरस्कृत' अवान्तर भेद माने गये हैं। 'अभिधा-मूला' के 'संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य' एवं 'असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' तथा, 'लक्षणा मूला' के 'अर्थान्तर-संक्रमित' और 'अत्यन्त-तिरस्कृत' अवान्तर भेद माने गये हैं। 'अलंकार और वस्तु-ध्वनि', 'अभिधा मूला' के संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि में आती हैं, पर 'रसादिध्वनि', 'असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि' में परिगणित है। 'अर्थान्तर-संक्रमित' में 'प्रयोजनवती लक्षणा' और 'अत्यन्त-तिरस्कृत' में 'लक्षणा-लक्षणा' ग्रहीत होती है। 'रसादि-ध्वनि' का अधिक स्पष्ट उल्लेख 'रस' के प्रसंग में होगा। यहाँ वस्तु और अलंकार-ध्वनियों के विषय में

यही कहना है कि रस को काव्य की आत्मा मानने पर भी वस्तु एवं अलंकारों के अपने स्थान पर महत्व रखने से इन्कार नहीं किया जा सकता। छायावादी काव्य, रीतिकाल के विरोधी-इतिवृत्तात्मक 'द्विवेदी-युग' के भी विरुद्ध एक उत्थान था; अतएव रसके आधारों–'विभाव', 'अनुभाव,' 'संचारी' आदि के स्पष्ट उल्लेख न करके इस श्रेणी के कवियों ने 'वस्तु' एवं 'अलंकारों' की ध्वनि के द्वारा अपनी सारी अनुभूतियों एवं संदर्शनों को अन्तर्भुक्त किया है। 'शब्द-शक्ति उद्भवा' एवं 'अर्थ-शक्ति उद्भवा' ध्वनियों में 'शब्द-शक्ति उद्भवा' का ही प्रयोग अधिक हुआ है। 'संलक्ष्य-क्रम-ध्वनि' जिसे 'अनुरणन ध्वनि' भी कहते हैं, 'निराला' की 'सरोज-स्मृति' कविता में 'अलंकार-ध्वनि' के रूप में देखी जा सकती है—

'चढ़ मृत्यु-तरणि पर तूर्ण चरण कहँ–पितः पूर्ण आलोक वरण
करती हूँ मैं यह नहीं मरण 'सरोज' की ज्योतिः शरण-तरण'

यहाँ 'सरोज' पद दृष्टान्त-अलंकार की ध्वनि करता हुआ, अनुपम सौन्दर्य बिखेर रहा है। 'सरोज' के किरणों में मिलने का दृष्टान्त, परमात्मा में जीवात्मा के मिल जाने के संकेत से ध्वनित किया गया है।

छायावादी कवि को भावों की लोक-भूमि पर उतर कर रसास्वादन कराने की अपेक्षा, अपनी सुख-दुःखमयी अनुभूतियों एवं विषम अवस्थाओं का ध्वनन अधिक आवश्यक था, अतएव उसने 'वस्तु' को सर्वाधिक महत्व दिया। इसी के सफल एवं प्रभावपूर्ण संवेदन–सम्प्रेषण के लिए उसने अलंकार का भी सहारा लिया, पर आनन्द-दान एवं चमत्कृति से अधिक महत्वपूर्ण समस्या उसके लिए अपनी कटु-मधुर अनुभूतियों की थी, जिसें वह परिष्कृत एवं उदात्तीकृत रूप में ही नहीं उनको मूल-प्राकृत संवेदनाओं के साथ ही दे देना चाहता है। 'अर्थशक्ति-उद्भव-अनुरणन-ध्वनि' के 'स्वतः-सम्भवी,' 'कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र–सिद्ध' एवं 'कवि-निबद्ध-पात्र–प्रौढ़ोक्ति-मात्र–सिद्ध'–भेदों में, 'कवि–प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध'-रूप ही अधिक आया है। इन्ही 'प्रौढ़ोक्तियों' के कारण भी छायावादी काव्य प्राचीन पद्धति के अनु-

सारियों को दुर्बोध लगता है। 'प्रौढ़ोक्ति' का अर्थ है, वह उक्ति जो कवि-कल्पना में ही सिद्ध हो, प्रत्यक्ष अथवा व्यावहारिक रूप में नहीं। 'प्रसाद' जी कहते हैं—

'चमकूँगा धूलि-कणों में सौरभ बन उड़ जाऊँगा।
पाऊँगा तुम्हें कहीं तो ग्रह-पथ में टकराऊँगा॥' ('आंसू')

'निराला' जी का विधवा को 'इष्टदेव के मन्दिर की पूजा' 'क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा' आदि कहना प्रौढ़ोक्ति ही है। इसी प्रकार कवियों द्वारा निबद्ध पात्रों से भी प्रौढ़ोक्तियों की नियोजना प्रचुर मात्रा में हुई है। विशेषण-वक्रता के रूप में आये सभी छायावादी काव्य के अधिकांश विशेषण इसी कोटि में आ जाते हैं। 'मुखर आंसू' एवं 'रुदित वीणा' जैसे पदों की सार्थकता के मूल में भी यही है। प्रकृति के उपकरणों से मानवीय कार्यों के कराने एवं प्राकृतिक व्यापारों पर मानुषिक क्रिया-कलापों के आरोपों में यही प्रौढ़ोक्ति विराजमान है। कुछ विद्वानों ने छायावाद के यावत् काव्य-प्रसार में 'लक्षणा-मूला ध्वनि' का 'दूरारूढ़ रूप' ही प्रधान माना है। लगता है जैसे छायावादी कवि 'भरत' की अपेक्षा 'ध्वनिकार' से निकटतर है। अपनी विषम परिस्थितियों में उन्हें कुछ कहने में 'सुविधा थी' और कुछ झलका भर देने में। अतएव ध्वन्यात्मकता को अधिक अनुकूल पाया। शास्त्रीय 'रस'-प्रणाली सम परिस्थिति की वस्तु है, विषम की नहीं।

लाक्षणिकता—छायावाद की दूसरी विशेषता है। मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन-विशेष के कारण मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य द्योतित अर्थ को लक्ष्यार्थ, उस शब्द को लाक्षणिक एवं उस शक्ति को लक्षणा कहते हैं। इस प्रकार मुख्यार्थ की बाधा, मुख्यार्थ से योग एवं रूढ़ि अथवा प्रयोजन—इन तीन कारणों से लक्ष्यार्थ सिद्ध होता है। वाच्यार्थ के इसी सम्बन्ध के कारण लक्षणा 'अभिधा-पुच्छ-भूता' भी कही गई। पर यह सम्बन्ध 'शक्य' ही होना चाहिये, 'दूराधिरूढ़' अथवा

'नेमार्थत्व-दोष-दुष्ट' नहीं। लक्षणा का प्रयोग छायावादी कवियों ने प्रभूत रूप से किया है। यह लाक्षणिकता प्रारम्भ में हिन्दी के आलोचकों को नहीं रुची और उसका बड़ा विरोध हुआ, जिसका सम्भवतः प्रच्छन्न स्वर यह भी रहा कि व्यंजना जैसी सर्वश्रेष्ठ शक्ति के होते हुए लक्षणा का इस मात्रा में प्रयोग भाषा एवं साहित्य के ऐतिहासिक विकास एवं उसकी निधियों को नकारना है। जो भी हो, लक्षणा-शक्ति एवं लक्ष्यार्थ की यह विशेषता होती है कि इनके द्वारा दृश्य का चित्रात्मक साक्षात्कार अत्यन्त इन्द्रिय-ग्राह्य रूप में होता है। अभिधा की मांसलता एवं व्यञ्जना की आध्यात्मिकता के बीच रूप-अरूप की यह ऐसी गंगा-जमुनी कड़ी है कि एक ओर तो दृश्य का बाह्य रूप प्रत्यक्ष हो जाता है और दूसरी ओर उसके भीतर का सूक्ष्म मर्म-सौन्दर्य भी 'मोती के पानी की भांति' झलमला उठता है (यद्यपि इसमें व्यञ्जना का भी आश्रय लेना पड़ता है)। 'विम्ब ग्रहण' के उद्घोषक आचार्य शुक्लजी पता नहीं अभिधा के आगे की इस मध्यम स्वर्ण-कड़ी को क्यों अधिक पसन्द न कर सके।

'रूढ़ि' की अपेक्षा 'प्रयोजनवती लक्षणा' ही छायावाद का केन्द्र-विन्दु है। 'प्रयोजनवती' में भी, 'गौणी' की अपेक्षा 'शुद्धा' का चमत्कार मात्रा में अधिक है। 'प्रस्तुत'-पक्ष के अधिकांशतः परोक्ष में होने के कारण, इसमें भी 'सारोपा' की अपेक्षा 'साध्यवसाना'—रूप ही की अधिकता है। 'गूढ़ा'—'अगूढ़ा' के अवान्तर भेदों में 'गूढ़ा' की ओर ही छायावाद अधिक प्रवण है।

'इस युग के काव्य में 'तात्स्थ्य', 'ताद्धर्म्य', 'तत्सामीप्य', 'तत्साहचर्य' एवं 'तादर्थ्य'—सम्बन्धों के अतिरिक्त 'तात्कर्म्य', 'वैपरीत्य', 'प्रेर्य प्रेरक-भाव', 'सामान्य-विशेषभाव', 'कार्य—कारण—भाव', 'आधाराधेय-भाव', 'अवयवावयवि—भाव' एवं 'स्वस्वामिभाव', से घटित लक्षणाओं के सुनहले तार यत्र—तत्र—सर्वत्र बुने हुए हैं। 'सारोपा गौणी लक्षणा' का उदाहरण दर्शनीय है, साथ ही 'बालक मन' में लक्षण-लक्षणा भी घटित है—

'स्वर्ण किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन'। (-निराला)

स्वर्ण-किरणों पर कल्लोल का आरोप है।

'गौणी साध्यवसाना' का उदाहरण 'आँसू' से उद्धृत है—

'बाँधा है शशि को किसने इन काली जंजीरों से।
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से ॥'

'गौणी साध्यवसाना उपादानमूला-प्रयोजनवती लक्षणा' का उदाहरण 'दिनकर' से लिया जा सकता है—

'मैं सुनता उस पार कुटी में भूखे शिशुओं की चीत्कारें।
मैं सुनता उस चुसी ठठरियों के बावों की हरी पुकारें ॥'

'लोहे की जोत' और 'चाँदी की हार' आदि प्रयोग भी, 'साध्यवसाना उपादानमूला' के प्रयोग हैं। मूर्त के लिए अमूर्त एवं अमूर्त के लिए मूर्त-विधाना में भी प्रयोजनवती लक्षणा ही समाविष्ट है। इसी प्रकार 'मानस-सागर के तट पर' होनेवाली 'लोल लहर की घातें' भी 'अस्फुट स्वर' में बीती बातें करती हैं। इसी प्रकार आँसुओं का 'सिसकना' और साँसों का 'थकना' भी है। इसी प्रकार 'पन्त' जी की दृष्टि में 'मारुत किसी की अलकों में चंचल चुम्बन उलझाने लगता है।' जिस प्रकार किसी अमूर्त वस्तु या भाव के गम्भीर प्रत्यक्षीकरण के लिए मूर्ति अथवा रूप का विधान किया जाता है, उसी प्रकार किसी मूर्त वस्तु की भावात्मक सत्ता के प्रभाव को सघन करने के लिए उसे 'अमूर्त रूप' दे देते हैं।

प्रतीक-विधान की शैली भी छायावाद की प्रमुख विशेषताओं में से है। अपने यहाँ इससे मिलता-जुलता एक शब्द है 'उपलक्षण'। 'एक पदेन तदर्थान्यपदार्थ कथनमुपलक्षणम्' के अनुसार कोई शब्द उस अवस्था में 'उपलक्षण' रूप में प्रयुक्त होता है जब वह अकेला अपने समान अन्य पदार्थों का भी बोध करावे। छायावादी काव्य में ऐसे 'अप्रस्तुतों' का प्रयोग किया गया है जिसमें पूर्ण-रूप से गुण-साम्य न रहने पर भी प्रतीकता पाई जाती है। वस्तुतः ऐसे स्थलों पर 'धर्म' के लिए 'धर्मी'

का प्रयोग किया जाता है। पर प्रतीकों के सुष्ठु एवं सफल प्रयोगों की विशेषता यही होती है कि वे जिस धर्म के लिए प्रयुक्त होते हैं उसका पूर्ण और तत्त्वण बोध करा देते हैं। फूल, शूल, उषा, तम, तारे, तार, वीणा आदि ऐसे ही छायावादी प्रतीक हैं। इन प्रतीकों में लाक्षणिकता का पूरा प्रयोग किया गया है, किन्तु ये जितने ही भावात्मक एवं उद्‌बोधक हैं, उतने ही अधिक सुन्दर और प्रभावशाली। इनमें कुछ अपनी संस्कृति पर भी आधृत हैं और कुछ विदेशी भी। उपमानों एवं प्रतीकों में यही अन्तर होता है कि उपमान की भाँति प्रतीक में गुण-साम्य का उतना ठोस आधार अनिवार्य नहीं होता।

'उषा का था उर में आवास,................।
चाँदनी में स्वभाव का वास; विचारों में बच्चों की साँस।' ('पन्त')

प्रतीकों का सर्वाधिक प्रयोग 'पन्त' जी ने ही किया है। 'प्रसाद' का प्रतीक-विधान भी उद्धार्य है—

'विकसित सरसिज वन-वैभव; मधु-ऊषा के अंचल में।
उपहास करावे अपना, जो हँसी देख ले पल में।' ('आँसू')

उपचार-वक्रता भी 'प्रसाद' जी के मत से छायावाद की एक विशेषता है। 'साहित्य-दर्पण'-कार ने 'उपचार' को 'अत्यन्त विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना-भेद-प्रतीति-स्थगनम्' कहा है। किन्तु कुन्तक 'यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते। लेशेनापि भवत्काञ्चित्काञ्चिद्वक्तु-मुद्रक्तवृत्तिताम्' के द्वारा वहाँ उपचार मानते हैं, जहाँ देश-काल की भिन्नता न होकर, स्वभाव की भिन्नता में भी दो वस्तुओं में दूरान्तर सम्बन्ध स्थापित किया जाय। इस प्रकार 'चेतन' में 'अचेतन', 'द्रव' में 'ठोस' के गुण का अध्यारोप 'उपचार' कहा जायेगा। इसके भीतर तो 'ध्वनि' का सम्पूर्ण प्रसार अन्तर्भुक्त हो जाता है। 'स्निग्धश्यामल-कान्ति-लिप्त वियतः' संस्कृत का उदाहरण है। इसी प्रकार 'तम-चूर्ण का बरसना', 'समय की शिला पर मधुर चित्र खिंचना', 'स्वप्नों का स्वर्ण बरसना' आदि प्रयोग

इसी के भीतर हैं। 'मूर्त'-'अमूर्त', 'रूप'-'अरूप', 'चल'-'अचल' आदि भिन्न एवं प्रतिकूल पदार्थों में साम्य का आरोप करना 'उपचार-वक्रता' की ही परिधि में आता है। स्वयं 'रूपक' अलंकार में भी इसके तत्व हैं। इस प्रणाली से अव्यक्त और सूक्ष्म वस्तुओं, अनुभूतियों एवं विचारों के चाक्षुष्प्रत्यक्ष एवं इन्द्रिय-ग्राह्य बनने में सहायता मिलती है। छायावादी काव्य-धारा के रोमानी विकास को मुखरित करनेवाले श्री शम्भूनाथ सिंहजी के 'समय की शिला' कविता की निम्न पंक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं—

'सुरभि की अनिल-पंख पर मौन भाषा,
उड़ी अर्चना की जगी सुप्त आशा।'

पवन द्वारा वितरित होती सुगंधि को 'मौन भाषा' कहना कितना व्यंजक है!

स्वानुभूति की विवृति या आत्म-व्यंजकता इस युग की सर्वप्रमुख विशेषता है। इसे ही 'विषयि'-प्रधानता के नाम से पुकारा गया है। छाया-युग का साहित्यकार हर बातको उत्तम-पुरुष 'मैं' के माध्यम से व्यक्त करता है। कथा-कहानी की आड़ लेना उसे पसन्द नहीं। इसी को 'प्रसाद' जी ने 'वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति' कहा है। आज का कवि आत्मगोपन या आत्म-परिशोधन की परोक्ष पद्धतियों का समर्थक नहीं। वह 'साधारणीकरण' के द्वारा अपनी बात लोक-सामान्य-भाव-भूमि पर भी लाने की ओर अधिक उत्सुक नहीं। वह तो चाहता है कि वह जैसा, जिस रूप में अनुभव करता है, किसी भी प्रकार से तद्वत् उसे व्यक्त कर दे। रस-प्रणाली के अनुसार वह 'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रस-निष्पतिः' की तालिका की भी खाना-पूरी नहीं करना चाहता। उसका 'विभाव', उसकी भुक्त वस्तु और परिस्थिति वह स्वयं है। प्रकृति को भी वह अपने भावा-तिरेक से रँग देता है। 'प्रसादजी' के अनुसार उसकी पीड़ा भी पलायनवादी अथवा पराजयवादी नहीं, वरन् जीवन की एक सचेतन एवं आनन्दमुखी संवेदना है, जो जीवन को पुष्ट करती है। आचार्य ह० प्र० जी द्विवेदी ने

इस व्यक्ति-परकता पर आश्चर्य प्रकट किया है और जैनेन्द्रजी ने इसे भावुकता का अतिरेक कहा है, जिसके संयम में ही अधिक लाभ था, मुखरता में शक्ति का अपव्यय ! जो भी हो, साहित्य में 'उत्तम-पुरुष' अथवा 'अन्य-पुरुष' के माध्यम से कहना शैली ही का भेद है, तथ्य का नहीं। कहने वाला अपने को आड़ में रख कर पात्रों से भी आपत्तिजनक बातें कहला सकता है और स्वयं 'मैं' रूप में अधिक भद्र एवं सुन्दर।

छायावादी कवि ने व्यष्टि—रूप में बहुत कहा और 'आग-पानी' भी कहा, पर उसकी विशाल-विराट् प्रेरणा में, हिन्दी-साहित्य को कला एवं सौंदर्य की ऐसी मणियाँ भी मिली हैं जिनसे विश्व-साहित्य-भंडार का गौरव बढ़ सकता है। छायावादी विद्रोह-रागिनी में 'व्यक्ति' के कंठ से व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में उमड़ने-घुमड़ने वाले समष्टि-गत उद्गार भी बहुत अंशों में मिलते हैं। यदि ऐसा न होता तो छायावादी युग का समस्त साहित्य व्यक्तिगत 'दैनन्दिनी' से अधिक महत्व न रखता। ('प्रसाद', 'पन्त', 'निराला', महादेवी, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमारजी एवं 'दिनकर' जैसी प्रतिभाएँ इसी युग की सुरभि से सुवासित हैं। 'कानन—कुसुम' से लेकर 'स्वर्ण—धूलि' एवं 'स्वर्ण—किरण' तक का हिन्दी-काव्य-विकास उसी आभा से जगमगा रहा है। 'शुक्ल' जी ने जिस स्पष्टता-वाद का नाद उठाया था, उसे भी अन्त में समझना पड़ा कि युग के विकसित मनोविज्ञान के अनुकूल कविता का विषय भी हृदय की अन्तरतम गहराई से लेकर उसके चूड़ान्त मानस-स्तर एवं बाह्य-प्रकृति-विस्तार तक फैल सकता है। वर्ण, चित्र एवं विज्ञान ने भी हिन्दी-काव्य की अभिव्यक्ति शैली को प्रभावित किया। जो कभी पारिभाषिकता एवं सिद्धान्त के नाते 'रसाभास', 'रसोदय', 'भावोदय', आदि नामों से तुच्छ था, आज वही मानव-जीवन एवं हृदय से साक्षात् सम्बद्ध होकर अभिव्यक्तव्य हो उठा। आज तो संचारी भी कविता के स्वतंत्र विषय बनकर हमारी वृत्तियों का अनुरंजन करने में संलग्न हैं। विज्ञान की तीक्ष्ण एवं दूरगामिनी प्रकाश-किरणों से, जीवन के रहस्य की ओर भी

(गहराई का अनुभव कर रहा मानव, प्रत्यक्ष के साथ अप्रत्यक्ष, रूप के साथ अरूप एवं स्थूल के साथ सूक्ष्म को छोड़ भी कैसे सकता है? 'छायावादी काव्य' 'रस-व्यंजना' के राजमार्ग पर न चलकर भी, हृदय के संस्कारों को उद्बुद्ध, 'वासनाओं' को जाग्रत एवं हृदय को संस्फूर्त कर रहा है; उसे अभिव्यक्ति एवं व्यंजना के प्रति कोई पूर्वाग्रह नहीं। हाँ, 'विभाव' की अपेक्षा 'आश्रय' अवश्य प्रामुख्य प्राप्त कर लेता है और 'आश्रय' ही अपनी अनुभूतियों एवं 'अनुभावादिकों' की अभिव्यक्ति करता है।)

छायावादी अभिव्यक्ति पर पाश्चात्य प्रभाव की गहरी छाप घोषित की जाती रही है, क्योंकि उसने अंग्रेजी से **'मानवीकरण', 'नादार्थ-व्यंजना'** एवं **'विशेषण-विपर्यय'** जैसे अलंकार ग्रहण किये हैं। 'नादार्थ-व्यंजना' या 'ध्वन्यर्थव्यंजना' को हम अपने अलंकार-शास्त्र के 'अनुप्रास' एवं 'रीति' के अन्तर्गत पा जाते हैं। 'मानवीकरण' एवं 'विशेषण-विपर्यय' में प्रायः 'साध्यवसाना लक्षणा' क्रियाशील होती है। 'निराला' की उक्ति है—

'चल चरणों का व्याकुल पनघट, कहाँ आज वह वृन्दा-धाम?'

('यमुना के प्रति')

अंग्रेजी के अनुसार 'व्याकुल पनघट' का अर्थ 'व्रजबालाओं की व्याकुलता' होने से यह 'विशेषण-विपर्यय' का उदाहरण है। भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार यह लक्षण-लक्षणा है।

छायावादी कविताओं में **'चित्र-व्यंजना'** या **'चित्रात्मक व्यंजना'** का भी नाम लिया जाता है। श्री पं० रामदहिन मिश्र ने इस नामकरण का ही खंडन किया है। इसके उदाहरण में उन्होंने 'निराला' की 'बादल' शीर्षक कविता ली है, इसे ही डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने अपने इतिहास में 'चित्र व्यंजना' नाम दिया है। मैं 'मिश्र जी' के इस कथन से तो सहमत हूँ कि इसमें प्रत्यक्ष चित्र हैं, व्यञ्जना नहीं; पर मेरा तो यह कहना है कि 'छायावाद' में चित्रों के द्वारा व्यञ्जना करने की शैली ग्रहण हुई है। ऐसे स्थलों पर वह चित्र प्रधान नहीं होता, वरन् वह स्वयं 'अप्रस्तुत'-रूप में

आता है और उसकी समष्टि-संवेदना किसी सूक्ष्म तथ्य की व्यञ्जना करती है। 'प्रसाद' की पंक्ति है—

'और उस मुख पर वह मुस्कान, रक्त किशलय पर ले विश्राम।
अरुण की एक किरण अम्लान, अधिक अलसाई हो अभिराम।'
—('कामायनी')

(इसमें 'मुस्कान'-दृश्य की व्यञ्जना है। यह 'प्रस्तुत'-चित्र कवि का 'वर्ण्य' नहीं, वरन् इन 'अप्रस्तुतों' द्वारा व्यञ्जित 'मुस्कान' का रूप 'व्यंग्य' है। ऐसे चित्र 'कामायनी' में 'श्रद्धा' के रूप-वर्णन के समय अत्यन्त रमणीय रूप में उपस्थित हुए हैं। मधुऋतु के परिमल का, मधु का आधार लेकर खड़ा होना और उस पर मधु-राका-मन की साध का पड़ना—आदि ऐसी ही चित्र-व्यंजनाएँ हैं।)

'छायावाद' की शैली में प्रायः एक बात और प्रायः पाई जाती है, वह है रूपकों का 'व्यधिकरण आरोप।' छायावादी कवि 'पीड़ा-नौका' न कहकर 'पीड़ा की नाव' लिखना अधिक पसन्द करता है—

'सूखे में......यह नैया मेरे मन की।
आँसू की धार बहाकर, ले चला प्रेम बेगुन की॥'

कभी-कभी 'दुहरे रूपक' आ जाते हैं—

'श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा॥'

वस्तु-गत अर्थ है, चन्द्रमा उस पार आकाश में मेरी हँसी उड़ाता रहा।

'छायावाद' में भारतीय 'अलंकार-शास्त्र' के जाने कितने ही 'अलंकार' अत्यंत प्रिय रूप में प्रयुक्त हुए हैं। 'समासोक्ति', 'रूपकातिशयोक्ति', 'अप्रस्तुत-प्रशंसा', 'विरोधाभास', 'प्रच्छन्न रूपक', 'प्रस्तुतांकुर', 'निदर्शना' (एक पर दूसरे के गुण का आरोप करना), 'प्रौढ़ोक्ति' (उत्कर्ष के अहेतु को भी हेतु मानना), अनुज्ञा (अनंगी कार्य को अंगीकार करना) 'तिरस्कार' एवं 'लेश' (गुण का दोष एवं दोष का गुण-रूप वर्णन) आदि कितने

ही अलंकार पंक्ति-पंक्ति में उलझे चलते हैं। एक साथ एकाधिक भाव-छायाओं को प्रदान करनेवाले अलंकार इस शैली के प्रिय आभूषण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार राजानक कुन्तक ने, अपने पूर्ववर्ती अलंकार, रस, रीति-गुण एवं ध्वनि-सिद्धान्तों का सामंजस्य कर, कवि-व्यापार को प्रधानता देते हुए, एक व्यापक 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' का प्रणयन किया था, उसी प्रकार 'छायावाद' ने भी रस, भाव, अलंकार, ध्वनि, लक्षणा, अभिधा, रीति आदि सभी तत्वों को, अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के कटाह में कल्पना के सुगन्धित छींटों से ऐसी कलामयी चाशनी चढ़ाई, जिसमें भींगकर व्यष्टि के भाव-अभाव, सुख-स्वप्न और राग-विराग समष्टि के 'चमचम'* बन गये। अवश्य ही यह स्वर 'समाज' के जड़-नियमों की यांत्रिकता के विरुद्ध व्यक्ति के 'अवकाश एवं मुक्ति' का विद्रोह है। इसमें सामयिक जीवन की स्पन्दना है और व्यक्ति की जागरूकता के सत्व की गुंजार। इसने 'साहित्य-दर्पण'कार एवं अभिनवगुप्त पादाचार्य की 'रस-सरणि' का साम्प्रदायिक अर्थ में अनुगमन नहीं किया, वरन् अपने युग के प्राण-मय तत्वों को आत्मसात् कर, जीवन की अभिव्यक्ति को अपना लक्ष्य माना; फिर भी यह कहना कि उसकी जड़ भारतीय काव्य-शैली से सर्वथा विजातीय भूमि से ही जीवन लेती रही है, सर्वथा सत्य नहीं। बंगला एवं अंग्रेजी साहित्य से भी वह एक सचेतन एवं जीवित साहित्य की भाँति ही प्रतिकृत हुआ, अन्धानुकारी की भांति नहीं। वह अपने अतीत एवं वर्तमान दोनों से एक सप्राण सूत्र में सम्बद्ध है।

---

* 'चमचम' एक प्रकार की सरस बंगाली मिठाई होती है।

छायावादी-काव्य के सम्बन्ध में कुछ कठिनाइयाँ

'छायावादी' युग हिन्दी-साहित्य का ऐसा युग है जिसके सम्बन्ध में बड़ी विवादास्पद सम्मतियाँ विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रकट की गयी हैं। इन मतों में कुछ सच्चाई भी है और बहुत कुछ भ्रान्तियाँ भी। भ्रान्तियों का मूल कारण यह रहा है कि इस युग की कविताएँ स्वच्छन्दतावादी रही हैं। साहित्य-सर्जना में कवि को अधिकांश प्रेरणा व्यक्तिगत माध्यम से आयी है और उसका आन्तरिकता से अधिक सम्बन्ध रहा है। अपने साहित्य की सुदीर्घ-परम्परा के मान्य मूलभूत सिद्धान्तों के प्रति भी एतद्‌युगीन कवियों ने स्वतंत्रता ग्रहण की। इन कारणों से छायावादी काव्योच्छ्‌वास अपने प्रारम्भ में अत्यन्त अपरिचय, विस्मय और अजनबीपन की दृष्टि से देखा गया। हिन्दी के प्राचीन संस्कारों के साहित्य-मर्मज्ञों ने इसे 'विदेशी अनुकरण' की संज्ञा से अभिहितकर, मिथ्या-काव्य अथवा शब्द-क्रीड़ा-युक्त 'काव्याभास' के आक्षेपों से दबा देना चाहा। यही नहीं, काशी के नागर-परिवार (रसराज नागर आदि, जिनकी मृत्यु अभी हाल में ही हुई है) के नेतृत्व में एक 'छायावाद' नामक विरोधी पत्रिका भी निकाली गई, छायावाद पर अकांड दुर्वचन-वर्षा जिसका एक मात्र उद्देश्य था। दूसरी ओर अपनी अभिनव प्रेरणाओं से संवलित काया के कारण, जिन लोगों ने उसे पसन्द किया, वे उसे अपने गूढ़ अध्ययन और मार्मिक विवेचनों के द्वारा न तो अपनी परंपरागत शृंखला की कड़ियों से जोड़ सकने में ही पूर्ण समर्थ हो सके और न उसके प्राप्त कलेवर के सम्यक् विचार-विभावन के द्वारा पाठकों के सामने उसे पूर्ण स्पष्ट ही कर सके। इन्हीं कारणों से छायावाद के नाम पर जहाँ एक ओर उचितानुचित आलोचनाओं की भरमार हुई, वहाँ दूसरी ओर अनर्गल कवितोक्तियों की एक बाढ़ भी दृष्टिगत हुई। आन्तरिकता के मोहक स्पर्श से पुलकित इन रचनाओं ने एक ऐसे पाठक-समाज की सृष्टि कर ली, जो इसे पूर्णतः न समझकर भी इस पर निछावर था।

विरोधी दल वालों में उस समय सिद्धान्तों की दृष्टि से कई प्रकार के दल थे। अलंकारों को ही काव्य-सर्वस्व माननेवाले अलंकारवादी प्राचीन व्रजभाषा-काव्य के अनुयायियों ने, इसमें अलंकारों की अधकचरी और अव्यवस्थित पहेली देखी, 'वाक्यं-रसात्मकं काव्यम्' को माननेवाली विद्वन्मंडली ने इसे विविध रस-विरोधिनी विशृंखल पंक्तियों का अर्थहीन विन्यास घोषित किया। उन्हें इस प्रकार की रचनाओं में अस्वस्थ 'व्यक्तिवाद' का अहंगर्जन और साहित्य के प्राण 'साधारणीकरण' का नितान्त अभाव खटक उठा। स्पष्ट कथन और इतिवृत्तात्मकता-प्रधान रुचिवाले लेखकों और पाठकों को यह काव्य दुर्बोध और क्लिष्ट-कल्पना-विशिष्ट लगा। स्वयं छायावादी 'शिविरों' से जो समर्थन के तर्क उठे, उनमें भी आपस में विभिन्नता थी। 'रहस्यवाद' के स्थान पर रखकर अथवा उसी कोटि में प्रतिष्ठित कर इसे पूर्ण आध्यात्मिक काव्य की स्वीकृति भी दी जाने लगी। किन्तु सबसे अधिक खटकनेवाली बात जो सभी ओर से सुनाई पड़ी, वह थी इसकी अस्पष्टता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है परिस्थिति, प्रतिक्रिया, नवीन प्रेरणाओं और अन्तस्साहित्यिक प्रभाव के साथ-साथ, इस दुर्बोधता का कारण वह शैली भी थी जो हिन्दी के लिए पूर्ण रूप से अपरिचित न होकर भी ऐसी थी जिसके अपने निजी आग्रह थे, अपना विधान (टेकनीक) था, जिनका कम-से-कम इस मात्रा में अतिरेक पहले कभी न हुआ था। यहाँ स्वानुभूति के आधार पर मैं छायावाद-सम्बन्धी कतिपय उन विशिष्टताओं का संकेत करना चाहता हूँ, जिन पर ध्यान देने से बोध में सहायता मिल सके।

स्वानुभूति का प्रकाशन—छायावादी कवि का आग्रह अपनी निजी अनुभूतियों के अभिव्यक्तीकरण की ओर ही प्रधान रूप से होती है। किसी वस्तु अथवा दृश्य को वह स्वयं किस दृष्टि से देखता है अथवा उसके प्रति उसकी निजी अनुभूति क्या है, यही उसकी काव्याभिव्यक्ति का मूलाधार है। उस वस्तु के प्रति औरों की अनुभूति से उससे अधिक सम्बन्ध

नहीं। इसीलिए जो चाँदनी औरों को प्रसन्न दिखलाई पड़ती है, वह यदि उसकी भावावस्था अथवा मनोदशा में रुग्ण दिखलाई पड़े, तो हमें आश्चर्य न करना चाहिये। जिन प्रातःकालीन रश्मि-रंजित 'तुहिन-विन्दुओं को हम धरित्री का हसित वैभव समझते हैं, एक छायावादी कवि को यदि वे रजनी के व्यथित अश्रुविन्दु लगें तो इससे हमें क्षुब्ध न होना चाहिये। प्रश्न हो सकता है कि अन्ततः इस लोक-विपर्यस्त भाव-दशा अथवा अनुभूति का मर्म क्या है और क्या इस व्यक्तिगत अनुभूति में लोक-हृदय के लिये भी कुछ संवेदना हो सकती है? उत्तर स्वरूप इतना ही कहा जा सकता है कि छायावादी कवि इस ओर ध्यान नहीं देता कि उसको उक्ति लोकोक्ति से समता रखती है अथवा नहीं। वह अपने हृदय की स्पन्दना को ही वस्तु को स्पन्दक शक्ति की माप अथवा संवेदकता की कसौटी समझता है। वह कला अथवा काव्य को व्यक्तिगत अनुभूति के रूप में ही ग्रहण करता है। ऐसे काव्य में कविता की सफलता कवि की अनुभूतियों की तद्वत् अभिव्यक्ति में होती है। वह पाठकों से यही आशा करता है कि हमने जो कहा है, वह कहाँ तक संवेद्य है? अतः यदि किसी वस्तु के प्रति अभिव्यक्त, कवि की अनुभूति यदि हमें भी छू पाती है, तो वहाँ कवि का प्रयास सफल है। चूँकि वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को, उनकी सम्पूर्ण सूक्ष्मता को अक्षुण्ण रखते हुए, ठीक उसी रूप में कह देना चाहता है जिस रूप में और स्पष्टता तथा अस्पष्टता की जिस मात्रा में, उसने उसका अनुभव किया है, इसीलिए वह हमें अस्पष्ट अथवा अर्ध-स्पष्ट-सा भी लगता है। वह कहता है 'अमुक मनोदशा की अनुभूति अमुक रूप में मुझे हुई, मैं यथासम्भव तद्वत् चित्र में उसे तुम्हारे सामने व्यक्त करता हूँ; वह कहाँ तक सुस्पष्ट अथवा अस्पष्ट है, मैं नहीं जानता। यदि यह मेरी अनुभूति का सच्चा चित्र होगा, तो मुझे विश्वास है कि तुम्हारे मन अथवा हृदय के लिए भी वह ग्राह्य और सम्वेद्य होगा, क्योंकि प्रत्येक हृदय के बीच से गया हुआ भाव-समष्टि का विश्व-वेधी तार एक ही है,

जो किसी भी स्थान पर आघात खाने पर सर्वत्र झंकृत हो उठेगा।' यही छायावादी काव्य का साधारणीकरण है, वह अपने 'अहं' को सब के 'अहं' का प्रतीक मानकर चलता है और इसी से उसके मर्म को स्पर्श करनेवाली अनुभूतियाँ पाठक-मात्र के 'अहं' की अभिव्यक्ति होती हैं। उर्दू के शायर-सा दर्द हमें नहीं होता, किन्तु उसकी दर्द-भरी उक्तियाँ हमें भी गुंजित कर देती हैं। छायावादी काव्य में कवि नीचे नहीं उतरता, वरन् पाठकों को उसके साथ ऊपर उठकर तादात्म्य-लाभ करना पड़ता है। जो इस तादात्म्य-लाभ के योग्य हैं, उन्हें ऐसे काव्य में वैसा ही आनन्द आता है, जैसे अन्य प्रकार के काव्य में। इसी से छायावादी मुख्यतः सुशिक्षित और सुसंस्कृत पाठकों के हृदय तक ही अपनी संवेदना-किरण विकीर्ण कर सका है। यही उसकी ऊँचाई है और यही उसकी अलभ्यता। प्रश्न हो सकता है, क्या छायावादी काव्य तुलसी-सूर के काव्य के समान हृदय-संवेद्य है? उत्तर है कि वह हृदय-संवेद्य है, किन्तु उसकी शैली और विधान-प्रक्रिया को जान लेना भी आवश्यक होता है। मैं अब तक अनुभूति की ही बात कहता रहा हूँ; उसकी शैली किस प्रकार कला-साध्य और विधान कितना बुद्धि का अपेक्षी है, यह उसके बाह्य-स्वरूप की बात है अनुभूति की नहीं; शरीर की बात है, आत्मा की नहीं।

वेदना-विवृति की प्रधानता—'छायावादी-काव्य', द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मकता और बाह्य-प्रधानता अथवा स्थूल बहिर्मुखीनता की प्रतिक्रिया में उद्भूत, आन्तरिकता एवं स्वानुभूति की प्रधानता अथवा सूक्ष्म-अंतर्मुखीनता की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। यदि इसके पूर्व का काव्य बहिर्वादी रहा है, तो यह अन्तर्वादी, यदि वह वस्तुवादी रहा है तो यह अनुभूतिवादी, यदि उसका माध्यम समष्टि रहा है तो इसका माध्यम व्यष्टि। छायावादी कवि का मानो यह पूर्व-विश्वास होता है कि अभिव्यक्ति में ही आनन्द अथवा कलात्मक सौंदर्य होता है, तभी तो वह अपने समस्त वेदनोच्छ्वास, अपने समस्त आलोड़न-विलोड़न को अभिव्यक्त कर जाता

है। इसी से जब 'शिष्टवादी' अथवा उपयोगितावादी कहता है कि कलाकार अपने विष को नीलकंठ की भाँति पी जाता है और अपनी सुधा से ही वह संसार का सिंचन करता है, तो अपने प्रेम-वेदना-विह्वल-स्वरों में मानो छायावादी उसका प्रत्युत्तर-सा देता दिखलाई पड़ता है कि सच्ची लगन और सत्यता-पूर्ण अनुभूति की तद्वत् अभिव्यक्ति के कला-मन्दिर का कोई भी प्रसाद-पुष्प अपावन नहीं।

छायावादी-वेदना-विवृति को लोगों ने इह-लोकातिरिक्त रंग भी दिया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह उसका अनिवार्य और सहज-सामान्य मूल-लक्षण नहीं, वह छायावादी मूल-भावना का एक ऊर्ध्व-प्रक्षिप्त स्वरूप है। वस्तुतः उसमें आन्तरिक अनुभूति की प्रधानता और शारीरिकता की गौणता होने से ही वह आध्यात्मिक आभा से संवलित हो उठा है। वह लौकिकता का ही उच्च-स्तर को पहुँचा परिष्कृत (sublimated) रूप है। प्रश्न हो सकता है कि इस दुःखवाद अथवा वेदना-वाद का कारण वैयक्तिक है अथवा सामाजिक? इस बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। सामाजिक विसदृशताओं और रूढ़ियों के जड़ बन्धनों का भी इसमें कम हाथ नहीं। भौतिकतावादी इसे पलायन-वृत्ति भले ही कहें, किन्तु इस वेदना की जहाँ परिशुद्ध अभिव्यक्ति हुई है, वह निस्सन्देह हिन्दी की अमूल्य निधि है। समाज से प्राप्त इस वेदना-विस्तार को पचाकर जहाँ कला का रूप प्रदान किया गया है, वहाँ आत्मप्रखरता की करुण निष्पत्ति अत्यन्त हृदय-संपृक्त हो उठी है। मैं यहाँ छायावाद की प्रतिनिधि रचनाओं की ही बात कर रहा हूँ।

चाक्षुष-प्रत्यक्षता—छायावादी काव्य के विधान में यह तत्व अत्यन्त प्रमुख है। चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त घ्राण, श्रवण, स्पर्श एवं स्वाद पर आधृत ऐन्द्रियता इस काव्य की निजी विशेषता है। कवि संकेत अथवा अभि-व्यंजना का ही सहारा न लेकर 'अभिव्यक्ति' का भी सहारा लेता है। इसीलिए अपने भावों को सूक्ष्म व्यंग रूप में न रखकर चित्र-रूप में इन्द्रिय-ग्राह्य बना

देता है, अनुभूतियों की अमूर्त्त एवं सूक्ष्म व्यंजना न कर ज्ञानेन्द्रियों के विषय-साँचे में ढाल कर उन्हें प्रत्यक्ष करना प्रियतर समझता है। इसी को लोगों ने चित्रात्मकता, चित्रोपमता अथवा मूर्त्त-विधान आदि विविध अभिधानों से प्रकट किया है। इसी के भीतर प्रतीकात्मकता भी आती है। यदि भीतर जलकर भी कवि अपनी मंगल-विधायिनी पीड़ा का वर्णन करना चाहेगा, तो वह 'पीड़ा की लौ' का चित्र उपस्थित करेगा, जिसमें सुनते ही कवि के कल्पना-नेत्रों के सामने विभावन-व्यापार के सहारे, तुरन्त एक चित्र आ उपस्थित होगा। वह आशा को प्रभात की प्रभा और निराशा को संध्या के धुँधलेपन से अभिव्यक्त करेगा। इसी प्रकार प्रकृति, सुख-दुख-विषयक नाना उपकरण रूपक, रूपकातिशयोक्ति, सामासोक्ति, नादार्थव्यंजना आदि के रूप में प्रयुक्त होते रहते हैं। आशा के फूल, पथ के शूल, नयनों के तारे और हृदय के तार, ऊषा का हास तथा प्राणों की चाँदनी-आदि प्रयोग बिखरे मिलेंगे।

'अमूर्त्त' का 'मूर्त्तीकरण' तो होता ही है, 'मूर्त्त' का अमूर्त्तीकरण भी छायावादी शैली की विशेषता है। आशा का कंचन बरसना, अभिलाषाओं के बादलों का मन में घिरना तो होता ही है, सुन्दरी का भावनाओं-सी कोमल होना और लज्जा-सी सिमट जाना भी छायावादी लेखनी की सृष्टि है। ये चित्र भी चाक्षुष कहे जा सकते हैं। मन में इन विविध अमूर्त्त भावनाओं की अनुभूति का एक संस्कार है, जो हमारे अन्तश्चक्षुओं के सामने उसे बाह्य वस्तु-चित्रों की ही भाँति सुस्पष्ट कर देता है। मूर्त्त वस्तुओं की अमूर्त्त से उपमा देकर यदि आन्तरिकता को चाक्षुष-प्रत्यक्ष करते हैं तो 'अमूर्त्त, की 'मूर्त्त' से उपमा देकर उसकी बाह्यता को। इस प्रकार इन्द्रिय सम्वेदनाओं का सहारा लेता हुआ छायावादी कवि चाक्षुष-प्रत्यक्षता (sense of the eye) को अधिक प्रधानता देता है। प्रचीन परंपरा के विद्वान् उसमें 'प्रस्तुत' के उभय-पक्षों को सर्वत्र वाच्य अथवा अभिधेय न पाकर, नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं, आलंकारिक दोष देखने लगते हैं।

इसी विशेषता को लाक्षणिकता के अन्तर्गत भी ग्रहण कर सकते हैं। लक्षणा की यह विशेषता होती है कि एक ओर जहाँ वह अभीष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करती है, वहाँ दूसरी ओर उस वस्तु का एक चाक्षुष दृश्य भी उपस्थित कर देती है, जो कल्पना में प्रत्यक्ष होकर अनुभूति को घनीभूत कर देता है। व्यंजना जहाँ अपने इशारे से तत्सम्बन्धी चित्रों को, पाठकों की निजी अनुभूति से पुष्ट संस्कारों के लिये छोड़ देती है, वहाँ लक्षणा अभीष्ट चित्र-विधान में भी पाठक की 'विभाविका-शक्ति' को सहायता दे देती है। इस प्रकार छायावादी कविताओं में अनुभूतियाँ अपने अंगीभूत विभानुभाव-संचारियों के द्वारा संकेतित न होकर प्रधानतया चित्रों के माध्यम से आती हैं। कवि ने किसी भाव की अनुभूति की, फिर वह उसकी अभिव्यक्ति के अनुकूल बाह्य-दृश्यों के सहारे चित्र-विधान करता है, जो तद्वत् अनुभूति की, पाठक-हृदय में आविर्भावना कर सके। इसलिये इसमें कुछ बौद्धिक प्रक्रिया की भी एक सीमा तक आवश्यकता होती है, जो कवि और सहृदय दोनों के लिये अपेक्षित होती है। जिनको काव्यगत इन चित्रों के द्वारा मानसिक अनुभूति के विभावन का अभ्यास नहीं होता, उन्हें यह काव्य-विधान अस्त-व्यस्त वर्णों का विधान ही प्रतीत होता है। छायावादी कवि अलंकारों और शास्त्रीय विधानों के पृष्ठ-पोषण का ध्यान न रख, अभिव्यक्ति को ही अपना प्रमुख लक्ष्य बनाता है।

भावों की चिरप्रवहमानता—रीतिकालीन छन्दकारों की भाँति छायावादी कवि शेष पंक्तियों में वातावरण की सृष्टि कर, अन्तिम चरण में ही चमत्कार की सहसा अभिव्यक्ति नहीं करता, जिसमें अन्तिम चरण पर पहुँचते ही श्रोता अथवा पाठक का हृदय उछल पड़े। उसकी प्रत्येक पंक्ति एक निश्चित गति से भावा-धारा को आगे बढ़ाती चलती है और भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया में अपना औपदानिक महत्व रखती है। यहाँ प्रत्येक चरण 'निमित्त' न होकर 'उपादान' होता है। इसीलिए रीतिकालीन परिपाटी से परिचित अथवा द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मकता के अभ्यस्त पाठक को जब

पूर्व-वातावरण की उपस्थिति करने वाली पंक्तियाँ नहीं मिलतीं और गीत की प्रथम पंक्ति से ही, केन्द्रित मन से विभावन-शक्ति को निरन्तर आगे बढ़ाना पड़ता है, तो वह ऊब जाता है। उसे इन कविताओं में विभाव-अनुभाव और संचारियों की सीढ़ियाँ भी शास्त्रोक्त ढंग से नहीं मिलतीं, तब उसे सारा प्रयास बाल-क्रीड़ा-सा लगने लगता है। वह यह भूल जाता है कि हृदय-हृदय के 'प्रतिनिधि' के रूप में 'कवि का निजी व्यक्तित्व' ही वहाँ प्रच्छन्न रूप से उन अनुभूतियों का समाधार औा 'आश्रय' है।

अपनी अनुभूतियों की तद्वत् अभिव्यक्ति को ही लक्ष्य बना रखने के कारण छायावादी कवि करुण, शृंगार और वीर आदि रसों की लौह-निश्चित सीमा-रेखाएँ नहीं खींचता। वह मानता है कि मन विविध मनोभावों और अनुभूतियों की जटिल समष्टि है। उसकी गति भी सदैव दो-दो चार की भाँति निश्चित नहीं होती। अभ्यन्तर का यही चित्रण छायावादी काव्य का आग्रह है। वाह्य-सृष्टि को वह आन्तरिक अनुभूतियों की छाया में चित्रस्थ करता है, यही उसकी प्राकृतिक सम्वेदना का हेत्वाभास (pathetic fallacy) है; वह स्पष्ट-अस्पष्ट अनुभूतियों का बाह्य-प्रकृति के सहारे तद्वत् चित्रण करता है, यही उसकी अस्पष्टता है; वह चित्रों के सहारे, ऐंद्रिकता और चाक्षुषता लाना चाहता है, यही उसकी बौद्धिकता है; वह अन्तर को प्रधानता देना चाहता है, यही उसकी काल्पनिकता और पलायन-शीलता है!

वास्तव में प्रत्येक युग की अपनी-अपनी परिस्थितियाँ होती हैं और अपनी-अपनी प्रश्न-समस्याएँ। हर युग का साहित्य उनको समाधान देकर ही अपने युग का प्रतिनिधि और विश्वासी बनता है; किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि हर युग एक ऐसी कड़ी का निर्माण करे, जो पिछली परंपरा-शृंखला में बैठ ही न सके और उसका अगला विकास न बन सके। इसलिए अतीत के साथ जुड़कर भी वर्तमान के प्रति न्याय करता हुआ, हर साहित्य भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त करता चलता है। छायावादी

युग के साहित्य ने भी वही किया है। उसने अपनी पिछली वरासत तो परखी ही, साथ ही नये युग के नवीन मूल्यों को भी स्वीकृति देते हुए, भविष्य की माँगों के लिए भी स्थान बनाया है। छायावाद ने काव्य और जीवन के सम्बन्ध की पुनर्व्याख्या भी की, जिस पर नवीन परिस्थितियों का दबाव अनिवार्य था। इस नवीनता अथवा युगीन आह्वानों के प्रति न्याय करने की दिशा में बढ़ने के कारण ही, छायावाद को 'विदेशी जूठन' और 'विदेशी कलम' आदि के आरोप सहने पड़े हैं।

छायावादी काव्य में व्यंजनाएँ भरी पड़ी हैं, पर वे पूर्व-प्रचलित शास्त्रोक्त कोष्ठकों के भीतर कसी-कसाई 'फिट', नहीं आई हैं। उसने कहीं एक 'विशेषण' से ही पूरा एक अर्थ-प्रसंग झलकाने का प्रयास किया है और कहीं एकाध 'विशेष्य' अथवा संबोधन द्वारा ही एक विशिष्ट भावानुषंग उभाड़ दिया है। इन व्यंजनाओं के मर्मों के बोध एवं आस्वाद के लिए अवश्य ही प्रारम्भ में संस्कार और सम्पर्क की आवश्यकता पड़ती है। अभिव्यक्ति-अभिव्यंजना की नवीन भूमियों के तोड़ने या नये साँचों को आज़माने के कारण नयापन लगेगा ही, पर पिछले बासीपन को हटाकर ताजगी लाना भी हर युग की कला का मर्म होता है।

कुछ आरोप : उत्तर

वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं जनतांत्रिक मनोवृत्तियों के प्रभाव-प्रसार ने छायावादी कवियों के सामने एक ही वस्तु-विषय के विविध भाव-पत्तों की महत्ता का कोण भी उपस्थित किया। इसके पूर्व कवि किसी विषय के केवल उस पक्ष और भाव-कोटि को ही सामने रखता तथा उसी में अपने पाठकों को रमाने का प्रयत्न करता था, जिसने उसकी भाव-कल्पना को संस्फूर्त्त किया हो; उस वस्तु-विषय के प्रति औरों की और भी धारणाएँ एवं भाव-दिशाएँ हो सकती हैं, पूर्ववर्ती कवियों ने इस पर ध्यान नहीं दिया। छायावादी कवि दृष्टिकोणों की इस विभिन्नता से सजग रहा है, अतः उसने एक ही वस्तु को विविध कोणों से देखने का प्रयास किया है। 'रसवादी' के लिए छायावादी कविता की यह स्थिति दुरूह हो जाती है। वह तो वस्तु-विशेष के भाव-विशेष को ही लक्ष्य में रखकर चलने वाला होता है और एक समय, एक कविता में उसके एक ही 'रस-राज' का एक-छत्र राज्य रहेगा; किन्तु छायावादी कवि के 'जनतंत्र' में सबके प्रतिनिधि-स्वरूप एक 'व्यापक-भाव' का प्राधान्य होते हुए भी उसमें अन्तर्गत-दृष्टियों अथवा भाव-'घाटकों' का समाहार भी रहता है। 'रस-पक्ष' की ओर से डा० देवराज द्वारा उठाये गये 'कल्पना-मोह' ('छायावाद का पतन' पृ० ३३, ३४) एवं 'केन्द्रापगामी व्यंजना-प्रवृत्ति'—सम्बन्धी प्रश्नों का यही मूल-रहस्य है।

'पन्त' जी की 'बादल' कविता बादल के विविध रूपों की सौन्दर्य-मयी चित्रपटी है। बादल के सरल-कोमल से लेकर भीम-भीषण एवं लघु से लेकर वृहत् आकारों तक कवि की कल्पना का मनोरम विस्तार हुआ है। 'व्योम-विपिन में जब वसन्त-सा खिलता नव पल्लवित प्रभात' एवं 'दमयन्ती-सी कुमुद-कला के रजत करों में...' अथवा 'समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में, पकड़ इन्दु के कर सुकुमार'—जैसी पंक्तियों को छोड़ भी दिया

जाय और डा० देवराज द्वारा 'छायावाद का पतन' नामक पुस्तक के पृ० ३६-३७ पर उद्धृत ही 'पन्त' की पंक्तियाँ ली जायँ, तो डा० साहब ने जिसे 'केन्द्रापगामिता' (गौण चित्रों में बहक जाने की प्रवृत्ति) कही है, वह और कुछ नही 'रसवाद' के पीछे छिपे 'सामाजिक दर्शन' एवं आज की छायावादी काव्य-धारा की पृष्ठ भूमि में निहित 'सामाजिक दर्शन' का अन्तर ही है। बादल सुरपति का अनुचर, जगत्प्राण का सहचर, मेघदूत की सजल कल्पना, चातक का चिर-जीवनधर एवं मुग्ध शिखी का मनोहर नृत्य है ! बादल के अनुषंग में पाठक के मन में प्रत्यक्ष जीवन-गत अनुभवों एवं अतीत संस्कारों के आधार पर उठे इन रमणीय चित्रों का अनुक्रम क्या पाठक की चेतना को उत्फुल्ल करने में अक्षम हैं ? यदि बादल का सहज-सुषम एवं वास्तविक रूप ही इस कविता का केन्द्र है, तो मैं नहीं समझ पाता कि ये चित्र किस प्रकार केन्द्रापगामी हैं ? मैं तो समझता हूँ कि 'रसवाद' के परिगणित कोष्ठक में बाँध कर, बादल की किसी एक रूप-मुद्रा पर लगातार कई पंक्तियाँ लिखकर, विभावानुभाव-संचारी एवं स्थायीभाव के व्यायाम द्वारा बलाघात देकर, मानव की दमित वासना या सोये संस्कारों को जगाने से कम रंजक और सौन्दर्य-सर्जक पन्त का यह विविध-चित्र-विधान नहीं।

एक बात और है; डा० देवराज जीका अवचेतन, 'रसवाद' की कोष्ठक-पूर्ति एवं अलंकार-वाद की खानापूरी से अधिक प्रभावित मालूम पड़ता है। एक ओर वे कहते हैं कि 'महादेवी जी में भी केन्द्रापगामी प्रवृत्ति तीव्र है, पर वहाँ वह दूसरा रूप धारण कर लेती है। हम कह रहे हैं कि किसी भी रचना में अलंकार-रूप में प्रयुक्त कल्पनाओं तथा चित्रों द्वारा केन्द्रगत भाव पुष्ट होना चाहिये, और जब महादेवी जीकी रचनाओं में समस्त पृष्ठाधार विशद रूप से कवियित्री के मूल भाव को ही पुष्ट करता हुआ प्रयुक्त होता है तो उन्हें 'मूल भाव' फीका दिखाई पड़ने लगता है (पृ० ३८, वही)। महादेवी जीकी अभिव्यक्ति-शैली का मर्म यही है कि वह चित्रात्मक होता है। पृष्ठभूमि पृष्ठाधार का चित्रण अपने मूल-भाव के सामंजस्य में ही करती

हुई वे उस वातावरण में अपने भाव को इस प्रकार प्रतिष्ठित कर देती हैं कि देखने में एक पंक्ति में कहा हुआ होकर भी वह सुई की नोक की भाँति संवेदना में तीव्र हो उठता है। जिस प्रकार चित्र में एक मुरझाई कमल-कली का अंकन करने में पूरे सांध्य-वातावरण का चित्रण समष्टि-रूप में कली की संवेदना को और अधिक तीव्र कर देता है, उसी प्रकार महादेवी जीकी रचनाओं में पृष्ठाधार की विशदता उनके केन्द्रीय भाव के पीछे खड़ी होकर, उसे पूरे प्रवेग के साथ और आगे बढ़ा देती है। संवेदना की कमी तो पाठक को नहीं महसूस होती, हाँ, सर्वत्र 'रस'-प्रणाली पर भावों के तीव्रतर आघात से हृदय-तारों की झकझोर के ही अभ्यासी आलोचक को, महादेवी की भावानुभूतियों का शालीन अवरोह क्षत-विक्षत तो नहीं कर सकता! रहस्यानुभूति, जिसके क्रम द्रष्टा का हृदय एवं प्रकृति का व्यापक प्रसार दोनों ही एक भाव-तार में झनझनाते रहते हैं, पृष्ठाधार अथच वातावरण की संवेदना तक प्रसरित है। इन दोनों में भी कठोर विश्लेषण और भेद-विभाजन की वृत्ति को ही प्रमुखता देकर चलनेवाला आलोचक एक अखण्ड सत्य को खंडित करता हुआ संश्लिष्टता को बिखराता हुआ ही मालूम पड़ेगा!

'मैं निर्धन तब आयी ले सपनों में भर कर डाली' पंक्ति गौण नहीं हुई है वरन् पृष्ठाधार का अनुकूल पृष्ठ-पोषण पाकर सबल हो उठी है! जब झिलमिल तारों की जाली वाली रात के बिखरे वैभव पर उजियाली रो रही थी! शशि को चूमने के लिए मचली हुई लहरों का चुम्बन करने के लिए, जब तटिनी उनकी बेसुध काया का आलिंगन करती थी, जब मलयानिल अपनी करुण कहानी कहने लगता है और आँसुओं से सूखी अवनीका अंचल भर जाता है...कण-कण में जब प्रभात-समय नव यौवन की लाली छा रही थी, तब मैं निर्धना अपने सपनों की भरी डाली लेकर आई! पता नहीं इस प्रभात में साधिका के इन स्वप्नों की क्या स्थिति होगी! अन्तिम पंक्तियों की टीस सुई की नोक

की भाँति चुभ जाती; पर विभावानुभाव-संचारी की स्पष्ट क्रम-योजना न होने से किन्हीं पाठकों को यदि अन्तिम पंक्ति अत्यन्त दुर्बल ही लगे, तो साहित्य में सहृदयता को ही प्रामाण्य मानकर मौन रह जाने के सिवा और किया ही क्या जा सकता है!

असह्य तो तब हो जाता है, जब 'सान्ध्य गीत' का सुन्दर गीत "मैं नीरभरी दुख की बदली!" भी आलोचकों को व्यर्थता से भरा दिखलाई पड़ने लगता है। केन्द्रीय भाव को मुख्यता देकर चलने वाले डा० देवराज जी रूपक पर आग्रहशील हो उठते हैं—और उसमें भी रूपक की वस्तुवत्ता (objectivity) पर! बदली की आड़ से अपनी भावानुभूतियों की व्यंजना करना ही कवयित्री का मुख्य लक्ष्य है और गीत का मर्म-बिन्दु भी। छायावादी काव्य-धारा में अप्रस्तुतों का ग्रहण प्रकृति से अवश्य हुआ है, पर वहाँ अप्रस्तुतों की वस्तुवत्ता को वहीं तक स्वीकृति मिली है, जहाँ तक वे अभीष्ट भावानुभूति को व्यंजित करते हैं। रूपक-पूर्ति या अलंकार-पोषण के लिए, अभिव्यक्त किये जानेवाले 'भाव' पर कवियों ने भरसक आँच नहीं आने दी। जो पाठक रूपकों के झीने आवरण के भीतर अभिव्यक्त हुई भाव-धारा को गौण समझकर, रूपक के चौखटे को ही साग्रह पकड़ कर उलझ जायगा, वह मर्म-पथ से निरत ही रहेगा। आश्चर्य तो तब और बढ़ जाता है जब उन्हें इस गति में रागात्मक ऐक्य दिखलाई ही नहीं पड़ता (पृ० ५६, वही)। सहज जीवनगत मानव-मनोविज्ञान को छोड़ शास्त्रों की परिभाषाओं एवं 'रस-शास्त्र' के अनुसार 'संचारियों' और 'अनुभावों' की तालिका को पकड़ कर चलनेवाला पाठक यदि ऐसा कहे तो कोई आश्चर्य नहीं, पर जब जीवन-दर्शन के मर्मज्ञ डाक्टर साहब ऐसी बातें कहते हैं, तो सहृदय पाठक को कष्ट होने लगता है।

क्या जीवन की अनुभूतियों में करुणता, आत्म-विश्वास, सन्तोष एवं गौरवानुभूति सचमुच इतनी कठोरता के साथ भिन्न-भिन्न कोष्ठकों में विभाजित हैं? यदि नहीं, तो इन अनुभूतियों की एक सामंजस्य-

मयी मनःस्थिति यदि कविता-बद्ध होती है तो क्या वह अस्वाभाविक एवं हीन है। डाक्टर महोदय द्वारा इस रस-गीत का सुधारा हुआ रूप द्रष्टव्य है—

'नभ की सूनी गहराई में
सन-सन करती पुरवाई में
मैं लक्ष्य-भ्रष्ट तिरती फिरती
आकाश-बेलि-सी व्यर्थ फली।
मैं नीर-भरी दुख की बदली!'('छायावाद का पतन' पृ० ६०)

यदि अन्विति एवं सामंजस्य के नाम पर स्वयं डाक्टर साहब से ही कोई पूछे कि नभ की सूनी गहराई से सन-सन करती पुरवाई पर आप कैसे उतर आये? फिर 'मैं' के लिए तो 'बदली' स्वयं एक 'अप्रस्तुत' है, आपने उसके लिए 'आकाश-बेलि' का अप्रस्तुत लाकर इस दुहरे अप्रस्तुत-विधान से क्या रसानुभूति में बाधा नहीं उत्पन्न की और 'केन्द्रापगामी व्यंजना' से असामंजस्य की सृष्टि नहीं की? फिर क्या अपने इस प्रश्न पर भी विचार किया कि 'बदली' महादेवी जी की आत्मानुभूति को व्यक्त करने का साधन है या स्वयं महादेवीजी की अनुभूति 'बदली' को व्यक्त करने का? स्वानुभूति को ही प्रधानता देने के कारण, छायावादी कवि अपनी अनुभूति की विविध गतियों को व्यक्त करने के लिए स्वतंत्र चित्र देता चलता है, क्योंकि एक ही दीर्घ रूपक या दूर तक विलम्बित अप्रस्तुत-विधान उसे व्यक्त करने में अपनी एकरुपता के कारण समर्थ नहीं हो सकता।

कविता में आवेग के तीव्र झोकों एवं सर्वदैव कँपा-हिला देनेवाले वर्णनों के अभ्यासी को छायावादी कविताएँ 'सेंटीमेंटल' एवं 'मूड' की कविताएँ लगती हैं। जीवन में सहजतया आनेवाले विविध मानसिक स्तरों को खींच-तानकर विना 'आलोड़न' एवं 'आवेग' की तीव्रतम स्थिति तक पहुँचाये, उन्हें विश्राम नहीं। कविता को आवेगों से दूर, मात्र वायवी कल्पनाओं के लोक की वस्तु मानना उतना ही असत्य है, जितना आवेग की तीव्रता के नाम पर, जीवनानुभूतियों की विशाल-राशि को अस्वीकार कर भावना एवं

विचारों के कितने ही मृदु-कोमल शिष्ट-सुरुचिसम्पन्न स्तरों को झुठलाना। मेरी समझ से अपने आलोचकों की इन प्रवृत्तियों के मूल में, कितने ही अंशों में, उनके ऊपर पड़ा हुआ रीतिकालीन परंपरा का प्रच्छन्न प्रभाव है, जिसने एक ओर तो छायावादी कविता के प्रत्येक चरण के, अनुभूति की दृष्टि से, समतोल होने के कारण कवित्त-सवैयावालों को असन्तुष्ट किया जो भाव को चौथे चरण पर पटकने के लिए शेष तीन चरणों में मात्र तैयारी करते हैं और दूसरी ओर, 'रस-वाद' की बाह्य-रूप-रेखा से अविच्छेद्य रूप में बँधे रहनेवाले उन पाठकों को भी कुण्ठित किया जो जीवन की सहज एवं दैनन्दिन स्थिति में आनेवाली भावानुभूतियों को बिना बनावटी चाशनी दिये व्यक्त करने का निषेध करते हैं।

'व्यंजना-वादी' यह आक्षेप करते हैं कि छायावादी काव्य 'अभिव्यक्ति' अथवा 'अभिधा-त्मकता' के निकट और 'व्यंजनात्मकता से दूर है। श्री बच्चन सिंहजी ने अपनी पुस्तक 'क्रान्तिकारी कवि निराला' में 'निराला' की अभिधात्मकता या वर्णनात्मकता में भी की गई रस-सृष्टि को छायावादी काव्य, और विशेष कर 'निराला' जी का एक क्रान्तिकारी डग बताया है। वास्तविकता यह है कि छायावादी काव्य मानव-हृदय और उसकी अनुभूतियों पर केन्द्रित है। उसने किसी भी शैली या पद्धति को अपनी भावाभिव्यक्ति के साधन के रूप में ही लिया है, मोह, पक्षपात अथवा पूर्वाग्रह-वश नहीं। उनकी कविताओं को शब्द-मोह, चित्र-मोह, कल्पना-मोह, विचार एवं राग-गत असामंजस्य अथवा 'सेंटीमेण्टल' कह कर नहीं टाला जा सकता। उसमें भारतीय समाज के हिन्दी-प्रदेश के एक जीवन-संघर्ष एवं मूल्य-चेतना का इतिहास-विकास छिपा हुआ है, उसे समझने एवं समझाने के लिए पूर्वाग्रह एवं दुराग्रह के स्थान पर विस्तृत सहृदयता, विशालतर सांस्कृतिक दृष्टि एवं गम्भीर-चिन्तन की आवश्यकता है। डा० नगेन्द्रजी के शब्दों में उसे 'महान् श्रेणी' का काव्य न मानकर 'मध्यम-कोटि' का काव्य मान लेने के निर्णय का भार अगली पीढ़ियों पर ही होगा।

रहस्यवाद

'छायावाद' और 'रहस्यवाद', ये दो शब्द हिन्दी में ऐसे परिभाषित हुए हैं जिनके चतुर्दिक् विभिन्न भ्रान्तियों का एक अम्बार-सा लगा हुआ दिखाई पड़ता है। बहुत अंशों में, ये शब्द बड़े ही लांछित रहे हैं। इनके ऊपर दोहरी चोट पड़ती रही है। एक ओर तो पुरानी रूढ़ियों के कट्टर समर्थक इन्हें मिथ्या और विदेशीय सिद्ध करने के भगीरथ-प्रयत्न में निरन्तर निरत रहे हैं, और दूसरी ओर साहित्य को वर्ग-विशेष का प्रचार-साधन मानने वाले प्रगतिवादी इसे प्रतिक्रियावादी, क्षयशील और पलायनवादी सिद्ध करने में आकाश-पाताल एक करते रहे हैं। स्वयं 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' के विभेद में भी बड़ी भ्रान्तियाँ प्रस्तुत हुई हैं। स्वयं आचार्य 'शुक्ल' जी, अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के भीतर दोनों को एक ही मानकर चलते दिखलाई पड़ते हैं। वास्तव में 'छायावाद' और 'रहस्य-वाद' एक ही नहीं, वरन् 'रहस्यवाद' 'छायावाद' के अन्तर्गत एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। जीवन के 'अभ्यन्तर' और 'सूक्ष्म' को स्पर्श और अभिव्यक्त करने की छायावादी प्रवृत्ति जब इस विराट् विश्व के मूल में स्थित 'परम सूक्ष्म' की ओर अनुरत होकर, उसके प्रति अपनी प्रणयानुभूति व्यक्त करने लगी, तो हिन्दी में उसे 'रहस्यवाद' की संज्ञा मिली। यह परमसत्ता अनन्त, असीम और अपरिज्ञेय है। जब यह हमारी ज्ञान-वृत्ति का विषय न होकर, हमारी सम्पूर्ण आस्था को समेट, हृदय की भावनाओं और रागिनियों का विषय बन जाता है, तब काव्य में अभिव्यक्त होकर वही 'रहस्यवादी काव्य' का अधिकारी बनता है। रहस्यवादियों ने इस परोक्ष सत्ता को 'अखंड-चेतन', कण-कण-व्यापी और प्रत्येक आत्मा में अनुस्यूत अनुभव किया है।

'रहस्यवाद' के दर्शन के विषय में भी विवाद उठते रहे हैं। कुछ ने इसे 'प्रतिबिम्ब-वाद' कहा है और कुछ, इसका सम्बन्ध शुद्ध रूप से

'अद्वैत-दर्शन' से मानते हैं और कुछ 'अद्वैत' और इसमें भी भेद बतलाते हैं। 'रहस्यवाद' की धारा पूर्व और पश्चिम, दोनों ही देशों में प्रवाहित हुई है, और इसमें तो कोई मतभेद नहीं कि पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों में द्वैत-अद्वैत को लेकर ही मौलिक भेद हैं; अतएव यह कहना कि 'रहस्यवाद' केवल 'अद्वैतवाद' ही पर आश्रित होकर मान्य हो सकता है, कदाचित् ठीक नहीं; हाँ, 'व्यष्टि'-आत्मा अथवा 'जीव' तथा 'परमात्मा' अथवा परोक्ष 'अखण्ड चेतन' या 'ईश्वर' और 'जीव' में मूल-सम्बन्ध की अनुभूति और विश्वास इस साधना के लिए अवश्य अनिवार्य हैं। यदि 'ब्रह्म' और 'जीव' जैसे अद्वैत-सम्बन्ध को ही रहस्यानुभूति का आधार माना जाय, तो पश्चिमी रहस्यवादी 'ब्लैक' आदि किस श्रेणी में रक्खे जायँगे? हम सूफी जायसी, सन्त-कबीर, कृष्णा-राधिका मीरा को भी इसी में ग्रहण करते हैं, और इनकी दार्शनिक मान्यताओं में, सर्वांशतः एकता नहीं है। ऐसी दशा में वैसी ही सम्बन्धानुभूति जैसी कि किसी लौकिक व्यक्ति के प्रति होती है, जब व्यक्ति-विशेष के प्रति न होकर परमात्मा या सर्व-व्यापी 'परम सत्ता' के प्रति सम्पूर्ण भावात्मक सत्यता के साथ गतिमान हो उठती है, तब 'रहस्यानुभूति' का जन्म होता है। यह अनुभूति उसी मात्रा में अधिक गम्भीर और तीव्र (उपास्य के प्रति अपनापन या सगेपन की अनुभूति—अद्वैत भाव में) होगी जिस मात्रा में आराध्य या उपास्य के प्रति उपासक की रागात्मिकता वृत्ति। अपने उपास्य के प्रति अपनापन या सगेपन की यह अनुभूति अद्वैत-सम्बन्ध की पीठिका पर अवश्य ही अपेक्षाकृत अधिक सवेग और पुष्ट होगी। इसी से कुछ विद्वानों ने रहस्यवाद की व्याख्या करते समय कहा है, कि जब दर्शन का 'अद्वैतवाद' मस्तिष्क से उतरकर हृदय में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब 'रहस्यवाद' का जन्म होता है। भारतीय 'रहस्यवाद' का आदि-बीज वेदों और उपनिषदों में ही प्राप्त हो जाता है, और एक प्रकार से यह कहना कदाचित् त्रुटि-पूर्ण न होगा कि भारतीय 'रहस्यवाद' अद्वैत-मूलक ही है। 'विशिष्टाद्वैत', 'विशुद्धाद्वैत' 'द्वैताद्वैत' और 'द्वैत वाद'

के भीतर भी यह रहस्य-साधना चल सकती है, चाहिये केवल उपासक में उपास्य के प्रति अटूट आस्था और राग। इस आस्था और राग की भित्ति जितनी ही अधिक भावात्मक सच्चाई, आनुभूतिक सत्यता और आत्मीयता के भावों पर खड़ी होगी, उतना ही अधिक उसमें बल और प्रभाव होगा।

इसी स्थल पर दो प्रश्न और उठते हैं, एक तो इस अनुभूति के भावात्मक और काव्यात्मक स्वरूप पर और दूसरा, सामान्य भक्ति-भाव से उसके विभेद पर। कुछ विद्वानों ने रहस्यवाद की मूलभावना पर आक्षेप करते हुए उसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति को मिथ्या घोषित किया है। आचार्य 'शुक्ल' जी इस मत के प्रबल नेता हैं। उन्होंने कहा है कि 'रहस्य' और 'अज्ञात' कभी भी हमारे भाव का विषय नहीं बन सकता। 'स्पष्ट' और 'ज्ञात' ही हमारे भावों के 'विभाव' और 'उद्दीपन' हो सकते हैं। 'अज्ञात' की जिज्ञासा बोध-वृत्ति का विषय है, भाव अथवा राग का नहीं। बोध-वृत्ति द्वारा ज्ञान ही हमारे भावों का विषय है, जो बोध का ही स्वायत्त नहीं, वह भाव का स्वायत्त कैसे होगा? इसके उत्तर में इतना ही कहना अलम् होगा कि 'सगुण'-स्वरूप भी आस्था और भावना की स्वीकृति पाकर ही सिद्ध होता है, अन्यथा उसका भी कोई ठोस शारीरिक या दृश्य आधार नहीं है। उसी प्रकार परम प्रेममय और अनन्त रहस्यमय अखण्ड-चेतन परमात्मा की निराकार सत्ता और उसके प्रति अपने अटूट सम्बन्ध की आस्था, जब जीव के भीतर किसी भी प्रकार प्रतिष्ठा पा जाती है तो वह भावना के लिए भी स्वीकार्य बन जाती है। विश्वास तो सापेक्षिक मनःस्थिति है। निरपेक्ष नहीं; अतः एक बार परमात्मा के सर्वव्यापी और सर्वात्म होने की बात जब मनमें पैठ जाती है, तो उसके प्रति भावों की सच्चाई में संदेह करना 'रहस्य' ही नहीं स्वयं भक्ति के सिद्धान्त को भी खंडित करना है। ब्रह्म या परमात्मा की सत्ता को मान लेने पर, उसके निर्गुण और सगुण का प्रश्न उठाना पानी पीकर जाति पूछना है। काव्य का विषय अन्तर और बाह्य, स्थूल और सूक्ष्म, साकार-निराकार सभी कुछ है। भाव

और अनुभूति किसी भी विश्वास को केन्द्र बनाकर जग सकते हैं; प्रश्न केवल मानसिक क्षितिज के विस्तार और अन्तःक्षमता का है। बौद्धिक जिज्ञासा ही पुष्ट होकर भावभूमि बन जाती है।

सामान्य 'भक्ति'-भावना और 'रहस्य'-भावना में अन्तर है। जिस प्रकार भक्ति में सम्बन्ध-स्वरूप के अनुसार दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भेद किये गये हैं, 'रहस्य-साधना' में भी जिज्ञासा से लेकर प्रणयानुभूति तक कई कोटियाँ, करने को की जा सकती हैं, पर प्रणय का आधार पाकर ही रहस्यवाद अपने प्रौढ़तम रूप और अपेक्षाकृत गम्भीरतम संवेदना एवं प्रभाव को प्राप्त होता है। भक्त का आराध्य 'निर्गुण', 'सगुण' एवं सर्वान्तर्यामी होकर भी एक महा व्यक्तित्व की भाँति जैसे, पूर्ण प्रत्यक्ष हो जाता है। उसकी समस्त गतियाँ अज्ञेय होकर भी ज्ञेय, अरूप होकर भी सरूप, सर्वत्र होकर भी जैसे पास ही होता है। वह और उसकी गति चाहे कितनी ही रहस्यमय क्यों न हो, पर भक्त को उसकी रहस्यमयता से कोई सरोकार नहीं, उसकी अज्ञेयता के प्रति कोई शंका नहीं। उसने तो एक सबसे बड़े और सर्व-शक्तिमान को आत्म-समर्पित कर दिया है; अब उसकी कृपा पर ही उसका अस्तित्व है। वह कथाओं और अवतार-स्वरूपों के माध्यम से अपने को शरणागत बना देता है। वह यदि उसकी लीलाओं में भी आसक्ति रक्खेगा तो सम्प्रदाय अथवा पुराणानुसार-वर्णित पात्रों की आड़ से, उन्हीं को अपना प्रतिनिधि-सा मानकर अप्रत्यक्षरूप से। जब यह प्रेम-प्रणय-भावना सम्प्रदाय और अवतारों की सीमा से ऊपर उठकर, सीधे उस परमसत्ता के प्रति और उसकी समस्त रहस्यमयता के समक्ष, स्वयं आँख-मिचौनी, अभिसार और मिलन के लिए कुसुम्भी सारी पहन कर चल पड़ती है, तो रहस्यवाद की भूमि का अनावरण होता है। रहस्यवादी के लिए बीच के प्रतिनिधि हट जाते हैं, वह उस अनन्त रहस्यमय की स्वयं प्रेयसी या दूल्हन होता है। रागात्मक वृत्ति का आराध्य के प्रति प्रत्यक्ष रीति से

चलने वाला यह मादन और उद्वेलन 'रहस्यवाद' का प्राण है। इसी को 'प्रसाद' जी ने 'अपरोक्ष अनुभूति' कहा है, जो "समरसता तथा प्राकृतिक सौदर्य के द्वारा 'अहं' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।" प्रेम की वह विद्युत् जिसके प्राणों को छू देती है, प्रणय की यह लव जिसकी चेतना की वाती में जगमगा उठती है, वह अपनी सीमा के भीतर से 'असीम' के लिए लहरा उठता है! उसका श्वास-श्वास एक अभिनव संगीत से बज उठता है!! रोम-रोम में वियोग पीर गूँथ उठती है!!! रहस्यवादी के आराध्य का कोई एक प्रतीक रूप, प्रतीक नाम भी नहीं, उसका निश्चित लोक भी नहीं। वह तो उसे कण-कण में मुस्कराता दिखाई पड़ता है, फूल-फूल से झाँकता और स्वर-स्वर से बोलता हुआ अनुभव होता है। वह कभी रजत-रश्मियों में धूमिल-सा दिखाई पड़ता है और कभी-कभी तारों में झिलमिलाता हुआ छिप जाता है। उस रहस्यमय की रूप-रश्मियाँ सारी सृष्टि में झलक दिया करती हैं, उसका सौंदर्य विश्व की यावत् रूप-समष्टि में आँख-मिचौनी खेला करता है। रहस्य-वादी कभी मिलन के निकट पुलकों का अनुभव करने लगता है और कभी सुदूर स्थित वियोगिनी की भाँति हृदय में चुभे शूलों की व्यथा को थपकियाँ देकर सुलाने लगता है। उसका प्रियतम उसका अपना सगा होने पर भी उसके सामने कभी पूर्णरूप से प्रत्यक्ष या स्वायत्त नहीं हो पाता। वह पास भी लगता है और दूर भी। वह भक्त की भाँति अपने आराध्य की प्रपत्ति पाकर निश्चित नहीं हो पाता, उसका तो सम्पूर्ण जीवन ही एक चिर-वियोग है, जो शायद उसकी अन्तिम साँस के साथ समाप्त हो। आराध्य के प्रति एकात्मता के अर्ध-सुप्त संस्कार और मिलन की धुँधली स्मृतियाँ उसमें सोते-जगते रहते हैं, तभी तो महादेवी कहती हैं—

'कैसे कह दूँ अलि, सपना है
मेरे मूक मिलन की बात!

भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू, उनके हास!',

'उसे ही 'प्रसाद' ने पुकारा है—'हे अनन्त रमणीय कौन तुम!' 'पन्त' ने 'मौन-निमंत्रण' में उसका ही निमंत्रण सुना और 'निराला' ने 'मैं और तुम' में उसी को समझने-समझने का प्रयास किया। महादेवी भी इसी 'चिरन्तन-प्रिय' की 'क्षण क्षण नवीन सुहागिनी है', मीरा का कृष्ण गोपियों का कृष्ण नहीं, उसका अपना 'मोहना' है। वह वियोगिनी मीरा का राम ब्रह्म और 'सोऽहं है', उसे मीरा ने एक नहीं, प्रणयावेग की आकुलता में निर्गुण-सगुण कितने ही विभिन्न नामों से पुकारा है। तभी तो उसे विश्वास है कि 'आधीरात प्रभु दर्शन देहैं प्रेम नदी के तीरा'। कबीर ने सखियों को सहेजा कि—

'दुलहिन गावहु मंगलाचार, हम घर आये राजा राम भरतार।'

डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार 'रहस्यवाद' आत्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति के साथ अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।' कवीन्द्र रवीन्द्र का कहना है कि 'असीम' भी 'ससीम' के लिये उतना ही विकल रहता है; जितना 'ससीम' 'असीम' के लिये। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो भावावेग की तीव्रता के पक्ष से 'रहस्य' नाम को ही अपूर्ण कहा—और अपनी पुस्तक 'साहित्य के साथी में रहस्यवाद को भी 'लीला' ही माना है; क्योंकि रहस्य शंका है और लीला समाधान। उनके मत से रहस्यवादी सृष्टि को मात्र संकेत और उसके पीछे ही, सत्य की स्थिति मानता है; यह सृष्टि चाहे प्रतिबिम्ब हो या संकेत अथवा उसकी झलक का माध्यम, रहस्यवादी इसे साधन से अधिक महत्व नहीं देता; अधिक से अधिक सूफियों की भांति वह इस प्रकृति-सृष्टि को भी उसी के लिये विकल-व्याकुल मान ले सकता है।

बहुत से लोग दार्शनिक आग्रह के लिये यह प्रश्न उठाते हैं कि जब वह 'परमोपास्य' हमसे अद्वैत हैं, तब विग्रह-वियोग की व्याकुलता का रहस्य वाद में क्या स्थान है? विरह की अनुभूति तो 'द्वैत' को ला खड़ाकर देती है। प्रेम अथवा प्रणय, 'दो' की सत्ता मानकर ही चलसकता है, अद्वैत तो अन्तिम लक्ष्य है। कभी-कभी तो रहस्य-साधक को अपनी साधना से इतना राग हो जाता है कि भावावेष में वह अपने द्वैत को बना रहने देना चाहता है, क्योंकि संयोग-वियोग का प्रणयानन्द दो सत्ताओं की विभिन्नता बनाये रखकर ही सम्भव है। इसी से 'अभिमानिनी' महादेवी अपना 'निजत्व' देकर नहीं मिलना चाहतीं, 'उसमें' भी अपनी पीड़ा ढूढ़ना चाहती हैं और उन्हें दूर ही रहना भाता है। यह 'दूरी' उनके लिए 'रंगमय' है—

रंग-मय हैं देव दूरी
छू तुम्हें रह जायगी यह चित्र-मय क्रीड़ा अधूरी।'

वास्तव में स्पर्जियन के शब्दों में 'रहस्यवाद' एक तार्किक विचार-सिद्धान्त नहीं, एक विशिष्ट मनःस्थिति है, एक दर्शन-परम्परा नहीं; भावों की एक विशेष-दिशा है।' इसमें द्वैत-अद्वैत सभी पिघलकर प्रणय-रसायन बन जाते हैं। महादेवी जी तो अपने आराध्य के सन्मुख अपने बनने-मिटने के अधिकार को भी अक्षुण्ण रखना चाहती हैं—

'क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार।
रहने दो हे देव हमारे
बनने-मिटने का अधिकार।'

इस प्रकार बुद्धि अथवा ज्ञान द्वारा नहीं, वरन् आत्मानुभूति द्वारा उस 'अज्ञेय, अमेय, अनन्त, असीम, और अवतार से परे सत्ता को अपनाने का भावना-पथ ही रहस्यवाद का विभेदक लक्षण और समस्त रूपों में समाये उस 'अरूप' के प्रति प्रणय या राग-वृत्ति ही उसका तीव्र-तम- उत्कृष्टतम रूप है। इस विशिष्ट मनोवृत्ति के परिमंडल में स्वामी

विवेकानन्द के 'वेदान्त'-सिद्धान्त' स्वामी रामतीर्थ का अद्वैत, बुद्ध का 'दुःखवाद', आगमों का 'शैवदर्शन', भक्त की भावमयता सभी कुछ गल-पिघलकर इस रहस्यानुभूति की ऊष्म शिखा में प्रोज्जवल हो उठा। इसीलिए इस नवीन छायावादी रहस्य-धारा में दर्शन–विशेष की निश्चित रूप-रेखा ढूँढ़ना अकाण्ड प्रयत्न होगा। यहाँ एक सामान्य और सबसे अधिक स्पष्ट सूत्र जो है, वह है उस अवतारोत्तर 'अनन्त सत्ता' के प्रति प्रणय-निवेदन और विरहानुभूति, एक मीठी-मीठी चोर जो हास-रुदन, दुख-सुख, दूर-निकट सर्वत्र और सर्वदा काँच-मंडल के भीतर टिमटिमानेवाली लव की भाँति मुस्कराती रहती है। महादेवी जीने ('महादेवीजी का विवेचनात्मक गद्य' में) जो 'छायावाद' के लिए कहा है वह 'रहस्यवाद' पर अधिक चरितार्थ होता है–'छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति पर बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की' (पृ० ६०)।

इस नये रहस्यवाद में आधुनिक युग के विकसित मनोविज्ञान का भी समावेश है; इसी से इस धारा का एक छोर जिज्ञासा और कुतूहल को भी छुए हुए है। 'देवी' जी ने 'शुक्लजी' का प्रतिवाद करते हुए कहा है कि 'हम समझ नहीं सके हैं कि रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं।' इस रहस्यवाद को पश्चिम और वंग-भूमि से भी प्रेरणा मिली है, पर यह भारतीय रहस्यवाद की परम्परा से विरत नहीं। अभिव्यक्ति की लौकिकता को देखकर उस पर संदेह करना व्यर्थ है। मानव-मनोविज्ञान ज्ञात-अज्ञात; रूप-अरूप के बीच इस प्रकार फैला हुआ है कि इस प्रकार की वृत्ति की सत्यता पर ही अविश्वास करना, सत्य की सूक्ष्मता का निषेध करना है। ये रहस्यवादी योगी और सन्त नहीं है, समाज के एक अंग और हाड़-मांस के जीवित प्राणी हैं।

भक्तों की भांति 'खरिया-खरी' न लेकर और किसी अवतार विशेष को ही आराध्य न बनाकर इन 'रहस्य'-गायकों ने अपने युग की विकसित वैज्ञानिकता में परमात्मा की सूक्ष्म व्यापकता के प्रति ही अपने उद्‌गार व्यक्त किये, तो कौन सी असम्भाव्यता और वर्ज्यता आ गई ? इसकी असम्भवता पर आग्रह करनेवाले कदाचित् इस युग के स्वामी विवेकानन्द स्वामी रामतीर्थ, 'ब्राह्मसमाज' आदि की आध्यात्मिक विचार-साधनाओं को महत्त्व नहीं देना चाहते, जो युग की मानसिक पृष्ठभूमि का एक महत्व पूर्ण अंग रहा है।

चाहे हम सफल हों चाहे न हों, किन्तु उस परम सत्ता की अनन्तता, अखण्डता और विराटता के प्रति हमारी भावनाओं की जिज्ञासा, आस्था और तादात्म्य की वृत्ति जबतक मूलतः सब दिन के लिए मिट नहीं जाती, 'रहस्य' की यह शिखा युग के पथ पर जगमगाती ही जायगी।

छायावाद की छन्द और 'रूप'-चेतना

जिस प्रकार 'शरीर' ही प्राणी नहीं है, किन्तु प्राणी के 'प्राणीत्व' अथवा व्यक्ति के 'व्यक्तित्व' की सरूपता एवं अभिव्यक्ति शरीर द्वारा ही प्राप्त होती है, उसी प्रकार 'छन्द' ही काव्य नहीं है, किन्तु काव्य की अभिव्यक्ति छन्द में ही होती है, चाहे उसे 'मात्रिक' छन्द कहिए या 'वर्णिक' अथवा 'मुक्त छन्द'। कविता, आधुनिक मत के अनुसार गद्य में भी हो सकती है, पर वहाँ भी उस गद्य और साधारण गद्य में अन्तर अवश्य होगा। उनकी प्रकृतियों का यह भेद ही, काव्य में छन्द की उपयोगिता, महत्व अथच अनिवार्यता को सिद्ध करता है।

'छन्द' का अर्थ 'बन्धन' या 'आच्छादन' लिया जा सकता है, किन्तु यह बन्धन या नियंत्रण परवशता-विवशता के लिए नहीं, मुक्ति के लिए ही होता है। इस बन्धन को स्वीकार कर भावना, कल्पना, अनुभूति एवं विचार अधिक प्रभविष्णु, अधिक लयवान्, अधिक तीव्र एवं संवेदनीय हो जाते हैं। भाषा लयवती होती है। प्रत्येक भाषा की अपनी-अपनी लय-विशिष्टता होती है। लय तो प्रत्येक वर्ण और शब्द में होता है। 'वर्ण' 'शब्द' में और 'शब्द' 'वाक्य' में अपने लय की निजता को सीमित कर बृहत्तर सामंजस्य की प्राप्ति करते हैं। यह लय निश्चित छन्द का आश्रय पाकर अधिक प्राणमय और प्रभावशाली हो जाता है। लय व्यक्ति की विभिन्न मनोदशाओं के अनुसार बदलता भी है। 'लय' विद्वानों के अनुसार एक प्रकार का कम्पन अथवा गति-प्रवाह है। व्यक्ति को, किसी स्थल-विशेष पर या समय-विशेष में अपने मन को केन्द्रित करने के लिए उसके अनुकूल ही विशिष्ट मनोगति ग्रहण करनी पड़ती है। वह बाह्य वस्तु, और उसके अनुकूल आन्तरिक गति ही लय को आविर्भूत करते हैं। यह लय अथवा मनोगति वैयक्तिक सीमा-भेदों के होते हुए भी एक सामान्य आकर्षण लिए है, इसी से 'व्यष्टि'-कवि के मन में उद्भूत लय छन्द में प्रकट हो

अन्यान्य व्यक्तियों को आकर्षित एवं प्रभावित करता है। वैसे तो यह लय-गति ब्रह्माण्ड-व्यापिनी है, किन्तु काव्य एवं संगीत-रूप में अभिव्यक्त होकर यह सर्वाधिक प्रभाव-शालिनी हो उठती है।

जिस प्रकार वर्ण, शब्द में और शब्द, वाक्य में अपने को तिरोभूत कर एक व्यापकतर सामंजस्य प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार वाक्य भी छन्दों में अपने को लयमान कर उच्चतर सामंजस्य और तीव्रतर संगीत की उपलब्धि करते हैं। इस प्रकार 'छन्द' भाषा-लय का ही कालावधि-मर्यादित एवं सामंजस्य-समन्वित सुष्ठु रूप है। निश्चित प्रसार-विस्तार, परिमित मात्रा-वर्ण-संख्या एवं, भाव तथा भाषा के अनुकूल संगीत-लय द्वारा ही छन्द की साधारणतः, सृष्टि होती है। मात्रा एवं वर्णों की संख्या का निर्धारण तो विशेष परिस्थिति में उपेक्षणीय भी हो सकता है, पर लय तो छन्द का प्राण, उसकी आत्मा ही है। बिना लय के छन्द 'छन्दत्व' को नहीं प्राप्त हो सकता। यह छन्द वर्ण, मात्रा, स्वरों के आरोह-अवरोह एवं तुकान्त आदि पर भी आधृत हो सकता है और भावों के संकोच-प्रसार एवं अपचय-उपचय के अन्तस्संगीत या आभ्यन्तर लय पर भी।

छायावादी काव्य अपने युग की क्रिया-प्रतिक्रिया से प्रणोदित, एवं समाज तथा व्यक्ति की जीवन-गत परिस्थितियों से प्रेरित अभिव्यक्ति है; अतएव अनुभूति की भाँति, उसकी अभिव्यक्ति में भी नवीनता है। सामाजिक परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक चेतना और उसके रूपों में भी परिवर्तन होता चलता है। यह अभिव्यक्ति—ये रूप प्रत्येक युग में अपनी कुछ अलग विशेषता रखते हैं। इसलिए 'भारतेन्दु-युग' से 'द्विवेदी-युग', और 'द्विवेदी-युग' से 'छायावाद-युग' में कवियों की छन्द-चेतना में निश्चित परिवर्त्तन हुए हैं।

'भारतेन्दु-युग' संक्रान्ति-काल था। उस समय प्राचीन और नवीन प्रवृत्तियों का संक्रमण हो रहा था, इसी से प्राचीन परिपाटियों के साथ-साथ, हर क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियों की आभा स्पष्ट परिलक्षित होती है।

'अनुष्टुप' 'वसन्ततिलका', 'शार्दूल-विक्रीड़ित' एवं 'मालिनी' आदि संस्कृत-वृत्तों का प्रयोग तो किया ही है, उन्होंने 'वर्ण-वृत्त', 'पद', 'मात्रिक छन्द' एवं जन-गीतों के छन्दों का भी प्रयोग किया। यही नहीं, संस्कृत में भी 'लावनी' और 'दोहे' लिखे। हिन्दी-छन्दों के अलावा बँगला एवं उर्दू के छन्दों का भी हिन्दी में प्रयोग हुआ है। बँगला का (पयार) छन्द, यद्यपि हिन्दी-लय के बहुत उपयुक्त नहीं है, फिर भी 'भारतेन्दु-ग्रंथावली' के भाग २ में, ८ और ६ वर्णों के विराम से १४ वर्णों का 'पयार' छन्द प्रयुक्त हुआ है। 'भारतेन्दु' जी ने स्वयं बँगला में भी और बँगला-छन्दों में ही कविता की है।

मात्रिक छन्दों में 'शृंगार', 'सरसी', 'सार', 'विष्णुपद' 'ताटंक' और 'लावनी', 'गीता', 'कुण्डली' और 'छप्पय' छन्दों का प्रयोग हुआ है। उन्होंने 'गंगोदक' के आधार पर 'विजया' छन्द भी अपनाया है। 'हंसगति' में, जिसमें ११ और ६ मात्राओं के विराम से २० मात्राओं का प्रयोग होता है, गुरु जोड़कर २२ मात्राओं का नवीन छन्द बनाया। इसी प्रकार 'राधिका', 'दोहा', 'शृंगार' और 'गीता' के मिश्रण से नये-नये मात्रिक छन्द बनाये।

उर्दू के छन्द हिन्दी के मात्रिकों की लय में आ जाते हैं, पर 'वजन' पर चलने से उनमें मात्रा और वर्ण की निश्चित संख्या नहीं होती। इसी से 'भारतेन्दु' जी की कविताओं में भी उर्दू-सी ही 'रवानी' रखी गयी है। 'फायलातुन्, फायलातुन्, फायलुन्' के 'वजन' पर हिन्दी-'पीयूषवर्ष' लिखा गया है। इसी प्रकार 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' भाग २ में आये उर्दू-शब्दों से भरे छन्दों में, 'गीतिका' और 'ताटंक' (३० मात्राएँ) की धुन भी ली गई है।

इस प्रकार 'भारतेन्दु' जी ने छन्द-वैविध्य के साथ-साथ 'रूप' की नवीनता की खोज तो की ही, भावों और छन्दों की एकात्मता पर भी ध्यान दिया।

छायावादी कवि भी अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के परस्पर सम्बन्ध को भली भाँति अनुभव करते और अपने युग की परिवर्तित परिस्थिति एवं उसकी नवीन माँगों के प्रति सचेत थे। भाषा का महत्व बतलाते हुए 'पन्त' जी ने अपनी 'पल्लव' के 'प्रवेश' में उसे 'संसार का नादमय चित्र' और 'ध्वनिमय स्वरूप' कहा है। विश्व-वीणा स्वर में ही अभिव्यक्ति पाती है। "जो अपने सद्यः स्वर में सनातन सत्य के एक विशेष अंग को वाणी देता है, वही नाद उस युग के वातावरण में गूँज उठता, उसकी हृत्तंत्री से नवीन छन्दों-तालों में नवीन रागों-स्वरों में प्रतिध्वनित हो उठता; नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य, नवीन स्पन्दन-कम्पन तथा नवीन साहित्य ले आता और पुराना जीर्ण पतझड़ उस नवजात वसन्त के लिए बीज तथा खाद-स्वरूप बन जाता है। नूतन युग संसार की शब्द-तंत्री में नूतन ठाट जमा देता, उसका विन्यास बदल जाता; नवीन युग की नवीन आकांक्षाओं क्रियाओं, नवीन इच्छाओं, आशाओं के अनुसार उसकी वीणा से नये गीत, नये छन्द, नये राग, नई रागिनियाँ, नई कल्पनाएँ तथा भावनाएँ फूटने लगती हैं" ('पल्लव'-प्रवेश पृ० १६)। 'प्रसाद' जी ने 'छायावाद' की 'छाया' को अनुभूति एवं अभि-व्यक्ति दोनों की ही भंगिमा पर निर्भर कहा है। 'निराला' जी ने अपने 'प्रबन्ध-प्रतिमा' के निबन्धों 'गीतिका' की भूमिका में, भाषा-भाव-सम्बन्ध एवं उसकी विकसित छन्द-संगीत-सम्भावनाओं की ओर स्पष्ट निर्देश किया है। 'पन्त' जी ने 'पल्लव' के प्रवेश में कविता और छन्द के सम्बन्ध को बड़ा घनिष्ठ बतलाया हैं। वैसे तो पश्चिम के कितने ही विचारक, छन्द को कविता का बाह्य अंग कहकर अत्यन्त तिरस्कृत भी कर चुके हैं, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि छन्द का लय, भावों को दीप्त, प्रभाव को एकाग्र एवं विषय को स्मृति के लिए स्थायी बना देता है।

संगीत और काव्य में बड़ा प्रकृति-साम्य है। इसी लिए काव्य में 'शब्दार्थ' एवं संगीत में 'नाद' की प्रधानता रहते हुए भी, परिमार्जित

साहित्य एवं लोक-गीत, दोनों में ही काव्य-तत्व और संगीत बहुत दूर तक साथ-साथ चलते आये हैं। छायावादी काव्य में भी संगीत को काफ़ी महत्व प्राप्त हुआ है; किन्तु यहाँ शास्त्रीय संगीत से अधिक जन-व्यावहारिक संगीत को प्रमुखता मिली है। शब्द-संगीत 'नादार्थ-व्यंजना' के रूप में गृहीत ही हुआ है, पर इन कवियों ने शब्द-संगीत से अधिक भाव और विचारों के संगीत को ग्रहण करना चाहा है। इस स्वच्छन्द-संगीत की छटा छायावाद के 'मुक्तवृत्तों' से लेकर गीतों में, सर्वत्र झलमला रही है। 'प्रसाद' और 'निराला' जी ने संगीत की शास्त्रीयता का भी उपयोग किया है और उसमें कुछ भावानुकूल परिवर्त्तन लाने का प्रयोग भी प्रस्तुत किया है। 'निराला' जी की 'गीतिका' इसका उदाहरण है। उन्होंने इस पुस्तक की भूमिका में यह ध्वनित किया है कि उन्होंने पाश्चात्य-संगीत और उससे प्रेरित-प्रभावित बंग-संगीत से भी लाभ उठाया है। पश्चिमी संगीत की नई-नई राग-रागिनियों, नये स्वर-सामंजस्य के विधानों की भाँति, छायावादी-कवियों ने भी शास्त्रीय प्रणाली से भिन्न, जन-मोहक एवं श्रुति-प्रिय संगीत के आधार पर कविताएँ और गीत रचे। उन्होंने जन-गीतों की लय को भी पकड़ा है। यही कारण है कि छायावादी कविताओं में नयी-नयी लय और नये-नये छन्द भरे पड़े हैं।

छन्द—लय और भाव की एकात्मकता की जैसी परख इस युग में दिखाई पड़ती है, वैसी अन्यत्र बहुत कम। उन्होंने छन्द-लय का अधिक से अधिक लाभ भी उठाया और उसे तोड़कर उन पर अपना अधिकार भी सिद्ध कर दिया। घनाक्षरी दोहों और सवैयों की बाढ़ लेकर आने वाले 'रीतिकाल' के सामने, 'भारतेन्दु-युग', 'छप्पय', 'रोला' और उर्दू के छन्दों की विविधता लेकर खड़ा हुआ, जो मात्रिक थे। उन्होंने लावनी और ख्याल की धुनें भी पकड़ीं। 'द्विवेदी' जी ने संस्कृत के वर्ण-वृत्तों का आदर्श उपस्थित किया और तत्समता के साथ-साथ 'द्रुतविलम्बितं' 'मालिनी' 'बसन्ततिलका' आदि की ओर लोगों की रुचि दौड़ी; फिर भी 'पाठक'

और 'गुप्त' जी आदि ने जन-गीतों को भी मात्रिकीकरण द्वारा हिन्दी-काव्य के उपयुक्त बनाया और अनुवादों में बँगला के छन्दों और तुकान्तहीन वृत्तों की परंपरा चलायी। छायावादी कवियों ने बँगला के 'पयार' और लोक-गीत के 'कजली,' 'आल्हा' आदि छन्दों को भी अपनाया और लय, संगीत तथा नाद से उन्हें सँवार कर नवीन छन्द-परंपरा को विकसित और पुष्ट किया। 'प्रसाद' की 'कामायनी' का प्रथम छन्द 'आल्हा-छन्द' ही है, सहसा कौन कह सकता है—

'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठशिला की शीतल छाँह।
एक पथिक भींगे नयनों से देख रहा था प्रलय प्रवाह।।'
सावन बरसि ग, भादौं गरजि ग पापिनि तीज गईं नकचाइ।
कन्त विदेसी ना घर लौटे, नाहक चुनरी धरेउँ रँगाइ।।

'छायावाद' जिस प्रकार 'द्विवेदी-युग' की अन्य कितनी ही प्रवृत्तियों और रीतियों के प्रति विद्रोह का स्वर लेकर आया, उसी प्रकार छन्दों की दिशा में भी। उन्होंने वर्ण-वृत्तों को त्याग कर 'मात्रिक छन्दों' को अपनाया। 'पन्त' जी ने अपनी 'पल्लव' पुस्तक के 'प्रवेश में संस्कृत के वर्ण-वृत्तों को स्पष्ट रूप से हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध घोषित किया। उनका ऐसा कहना अनुचित नहीं, व्यवहार-सिद्ध भी था। दस-बारह वर्ष पहले ही 'हरिऔध' जी ने इनका प्रयोग अपने 'प्रिय-प्रवास' में पुष्कल रूप से किया था। उसमें भाषा की सुदीर्घ सामासिकता, विभक्तियों का अधिकाधिक विलोपन, हिन्दी की सहायक क्रियाओं का अधिकांशतः परित्याग और भाव-वाचक-संज्ञाओं की अधिकता के साथ हिन्दी में अप्रचलित तथा स्वल्प-प्रचलित शब्दों की प्रयोग-बहुलता, इसके प्रमाण हैं। इसी से उसमें 'सु.' 'चिर' आदि पद-पूरक पदांश तथा व्रजभाषा की विभक्तियों और पूर्वकालिक क्रियाओं के रूपों के प्रयोग भी विवशतः रखे गये हैं। उन्होंने 'प्रवेश' के पृष्ठ २६-२७ पर इस पर विस्तृत रूप से विचार करते हुए वर्ण-वृत्तों को 'नहरें' कहा, जिसमें हिन्दी की धारा 'अपना चंचल नृत्य, अपनी

नैसर्गिक मुखरता, कल-कल छल-छल तथा अपनी क्रीड़ा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती है।' 'पन्त' जी ने सवैया कवित्त की एक स्वरता की भी आलोचना की।

'प्रसाद' जी की प्रारम्भिक कविताओं के छन्द-विधान पर उर्दू-छन्दों और विशेषतः ग़ज़लों की लहर का पर्याप्त प्रभाव दिखलाई पड़ता है। उनके 'कानन-कुसुम' की कविताएँ इसका प्रमाण हैं। हिन्दी के मात्रिक छन्द-प्रवाह में 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' मात्राएँ, अपने निश्चित मात्रा-काल के साथ उच्चरित होती हैं, जब कि उर्दू में लय-प्रवाह मात्र चलता है। वहाँ लय की लहराहट में 'ह्रस्व' का 'दीर्घ' और 'दीर्घ' का 'ह्रस्व' उच्चारण भी होता चलता है। हिन्दी खड़ी बोली की प्रकृति के लिए यह सह्य नहीं। इससे 'प्रसाद' में प्रारम्भ में 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' मात्राओं के उच्चारण-विपर्यय भी दिखलाई पड़ते हैं, पर इस दोष का उत्तरोत्तर परिमार्जन होता गया है। सन् १९११ ई० की 'इन्दु', कला ३, किरण १ में छपी 'प्रभो' रचना में ह्रस्व और दीर्घ मात्राएँ उच्चारण-सौन्दर्य एवं लय-प्रवाह में विपर्यस्त हो गयी हैं, या एकाध वर्ण ही दब गये हैं—'तुम्हारा स्मित हो जिसे देखना वह देख सकता है चन्द्रिका को।' सइ चरण में 'वह' का उच्चारण 'व' की तरह होता है और 'ह' की ध्वनि दब जाती है। इसी प्रकार निम्न चरण में 'ही' (दीर्घ) का उच्चारण-काल 'हि' (ह्रस्व) का ही है—

'तुम्हारे गाने की धुन में नदियाँ विवाद करती ही जा रही हैं।'

'कानन-कुसुम' प्रथम संस्करण की 'भूल' कविता का छन्द 'ग़ज़ल' है—

'उन्हें अवकाश ही इतना कहाँ है मुझसे मिलने का,
किसी से पूछ लेते हैं, यही उपकार करते हैं।'

उक्त छन्द में पहले की अपेक्षा मात्राओं का उच्चारण हिन्दी खड़ी-बोली के अधिक अनुकूल है, फिर भी 'मुझसे' में 'से' का उच्चारण दीर्घ होते हुए भी 'ह्रस्व' जैसा ही है। 'कानन-कुसुम' के अधिकांश छन्द

बाजारों में बिकनेवाली गज़लों, खेमटों एवं लावनी की क़िताबों में आये उर्दू के छन्दों एवं लोक-छन्दों से गृहीत हुए हैं। इस प्रकार भावों एवं अनुभूतियों के क्षेत्र में जहाँ वैयक्तिक तत्व की प्रधानता हुई, वहाँ लोक-संवेदना की दृष्टि से राग, लय, संगीत एवं छन्दों में भी नवीन भूमियों एवं पंथों का संधान किया गया। 'झरना' एवं 'लहर' में नयी-नयी लयों के मिश्रण से 'प्रसाद' जी ने कितनी ही स्फुट कविताएँ लिखीं। धीरे-धीरे ऐसी प्रवृत्ति होती गयी कि अब कविता के लिए पिंगल-शास्त्र एवं 'छन्दः-प्रभाकर' आदि पढ़कर उन्हीं के अनुसार रचना करने की अनिवार्यता नहीं रही, बल्कि उनकी उपेक्षा भी की जाने लगी। कवि अपनी भावानुभूति एवं उसके आन्तरिक लय के साथ भाषा एवं छन्द की संगीतात्मक अभिव्यक्ति को ही मुख्य मानने लगे। सम-विषम तुकान्तों के आधार पर संस्कृत छन्दः-शास्त्र में जो छन्द-भेद स्वीकृत हुए, उनके पालन की ओर दृष्टि नहीं रही।

'उर्दू' में एक छन्द 'रुबाई' कहलाता है। हिन्दी में उसके लिए 'चौपदा' अथवा 'चतुष्पदी' शब्द का प्रयोग होता है। इसमें प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पदों के तुक समान होते हैं और तृतीय पद का तुक इनसे भिन्न अथवा विषम होता है—

यह दुनियाँ अजब सरायफ़ानी देखी।
हरएक चीज़ यहाँ की आनी-जानी देखी॥
जो आके न जाये, वह बुढ़ापा देखा।
जो जाके न आये, वह जवानी देखी॥

'प्रसाद' जी की 'कामायनी' में ही यह विधान प्रयुक्त हुआ है—

'जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मंदाकिनि, कुछ बोलोगी?
नभ में नखत अधिक, सागर में या बुदबुद हैं, गिन दोगी?
प्रतिविम्बित हैं तारा तुम में, सिंधु-मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिविम्ब एक के, इस रहस्य को खोलोगी?'

इस छन्द में आभीर-जाति में प्रचलित 'बिरहा' लोक-छन्द की लय है—

'गोनियाँ क सौहर गाइ भँइसिया चला चरावन जंगल के।
जंगल से एक भालू निकला नदिया पानी पीयन के।।'

छन्द की लय और कामायनी की विरह-विषण्णता का स्वर किस प्रकार एकात्म होकर गम्भीर प्रभाववाला हो गया है!

'प्रसाद' जी के गीत और 'पन्त' जी की कविताओं में भी 'रुबाई' का तुकान्त-क्रम दिखलाई पड़ता है—

'मेरी आँखों की पुतली में
तू बनकर प्राण समा जा रे!
जिससे कन-कन में स्पन्दन हो,
मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो,
वह जीवन-गीत सुना जा रे!' ('प्रसाद')

\+ \+ \+ \+

'तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा स्नान
तुम्हारि वाणी में कल्याणि!
त्रिवेणी की लहरों का गान।' ('पन्त')

इनमें और उर्दू की 'रुबाइयों' में भाव-प्रसार की दृष्टि से यह अन्तर है कि रुबाई में 'कवित्त' की भाँति चौथे चरण पर ही भाव का सारा भार गिरता है, पर इनमें भाव का संचरण समतोल होता है। गीतों में इन कवियों ने चरणों एवं पदों का विन्यास तथा उनका क्रम-स्थापन अपने मन के अनुसार भाव-लय के अनुरोध पर किया है। कभी दूसरे और चौथे चरण का तुकान्त मिलता है, कभी पहले और दूसरे का, और कभी पहले, दूसरे और तीसरे का। इसके बाद तब गीत की टेक आती है। तीनों के उदाहरण-स्वरूप तीन उद्धरण दिये जा रहे हैं—

'सौरभ का फैला केश-जाल,
करतीं समीर-परियाँ विहार;
गीली केशर मद-झूम-झूम
पीते तितली के नवकुमार।
मर्मर का मधु-संगीत छेड़
देते हैं हिल पल्लव अंजान !
चुभते ही तेरा अरुण बान ! (महादेवी)

\+ + + +

'अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये,
तू अब तक सोई है आली
आँखों में भरे बिहाग री !
बीती विभावरी जाग री ! ('प्रसाद')

\+ + + +

'परिमल भर लावे नीरव घन,
गले न मृदु उर आँसू बन-बन,
हो न करुण पी-पी का क्रन्दन,
अलि, जुगुनू के छिन्न हार को पहन न बिहँसे चपल दामिनी।
आ मेरी चिर विरह-यामिनी ! (महादेवी)

साधारणतः महादेवीजी के गीतों के पदों के दूसरे और चौथे चरण में ही तुकान्त आते हैं, पर उन्होंने कभी-कभी पहले-दूसरे तथा तीसरे-चौथे चरणों को समतुकान्त रखा है—

'मुझे न जाना अलि, उसने जाना इन आँखों का पानी;
मैंने देखा उसे नहीं, पद-ध्वनि है उसकी पहचानी।
मेरे जीवन में उसकी स्मृति भी तो विस्मृति बन आती;
उसके निर्जन मन्दिर में काया भी छाया हो जाती।

क्यों यह निर्मम खेल सजनि, उसने मुझसे खेला-सा है ?
मैं मतवाली इधर-उधर प्रिय मेरा अलबेला-सा है !'

कभी-कभी गीतों में भी, दो चरणों में तुकान्त मिलने पर भी भाव-प्रसार की दृष्टि से उनकी मात्राओं में निश्चित क्रम से अन्तर रखा गया है। 'निराला' और 'पन्त' जी ने भी अपनी 'परिमल' के प्रथम-खण्ड तथा 'उच्छ्वास', 'आँसू' एवं 'परिवर्तन' कविताओं में ऐसा किया है, पर उनमें सर्वत्र न तो चरणों के तुकान्तों का क्रम एक-सा है और न मात्रा की निश्चित संख्या के क्रम का ही सर्वत्र एक-सा निर्वाह हुआ है—

'राग-भीनी तू सजनि, निःश्वास भी तेरे रँगीले !
लोचनों में क्या मदिर नव !
देख जिसको नीड़ की सुधि फूट निकली बन मधुर रव !
झूमते चितवन गुलाबी
में चले घर खग हठीले !' —(महादेवी)

इन गीतों में नियमानुवर्तिता यही है कि इनके प्रत्येक पद में, चरणों की मात्रा एवं तुकान्त का क्रम एक-सा है, अन्यथा इनमें लय और चरण-व्यवस्था कवि के अपने विवेक पर निर्भर होती है। कभी-कभी गीतों में पहले दो चरणों में तुक मिलते हैं, तीसरे चरण का तुक भिन्न होता है, और चौथा चरण गीत की टेक से तुक-साम्य रखता है और सभी में मात्राएँ समान होती है—

'जहाँ साँझ-सी जीवन-छाया
ढीले अपनी कोमल काया
नील नयन से ढुलकाती हो
ताराओं की पाँत घनी रे !' ('प्रसाद' 'लहर')

'निराला' जी ने मुक्त रूप से गजलें लिखी हैं। महादेवी जी के कुछ गीतों में 'गजल' की तरह हर 'बन्द' में पहला चरण विषम तुक का होता है और दूसरे चरणों का तुकान्त सदैव एक-सा होता है—

'दिल में किसी के राह किये जा रहा हूँ मैं।
कितना हँसी गुनाह किये जा रहा हूँ मैं॥

× × ×

गुलशन मुझे पसन्द है, गुल ही नहीं अजीज।
काँटों से भी निबाह किये जा रहा हूँ मैं॥
पहले शराब जीस्त थी. अब जीस्त है शराब।
कोई पिला रहा है पिये जा रहा हूँ मैं॥'

—('जिगर')

\+ + +

अलि कैसे उनको पाऊँ!
वे आँसू बनकर मेरे, इस कारण ढुल-ढुल जाते।
इन पलकों के बन्धन में, मैं बाँध-बाँध पछताऊँ।
वे तारक बालाओं की, अपलक चितवन बन आते,
जिसमें उनकी छाया भी मैं छू न सकूँ, अकुलाऊँ।

—(महादेवी-'रश्मि')

'छायावाद' के 'द्वितीय उत्थान' में 'बच्चन' ने केवल 'रुबाइयों' के आधार ही पर 'मधुशाला' नामक पुस्तक लिखी। श्री पं० पद्मकान्त मालवीय इसके भी पूर्व इस दिशा में प्रयास कर चुके थे। 'नरेन्द्र' के छन्दों में यह लचक कुछ अवश्य आगे बढ़ी है। 'नेपाली' में भी गति-प्रवाह की सहजता आगे बढ़ी है। 'छायावाद' के 'तृतीय उत्थान' के प्रारम्भ में 'गजलों' की लय और 'रुबाइयों' की तुकान्त-व्यवस्था का काफी प्रसार दिखाई पड़ता है। 'तृतीय उत्थान' के अग्रदूत श्री शम्भूनाथ सिंह के 'छाया-लोक' के गीतों में यह स्पष्टतः परिलक्षित है। उनकी सुप्रसिद्ध 'समय की शिला' और 'प्राण तुम दूर भी, प्राण, तुम पास भी' कविताएँ उदाहरणार्थ ली जा सकती हैं—

'समयकी शिलापर मधुर चित्र कितने किसीने बनाये, किसीने मिटाये!

किसी ने लिखी आँसुओं से कहानी !
किसी ने पढ़ा किन्तु दो बूँद पानी !!
इसी में गये बीत दिन जिन्दगी के !
गयी घुल जवानी, गई मिट निशानी !!'

+ + +

'तुम गगन की परी !
तुम उषा-सुन्दरी !!
तुम धरा-मानसर—
बीच छवि की तरी !!')

'समय की शिला' की लय गजल-सी, तुकान्त 'रुबाई-से और टेक गीत की है। पहले उद्धरण को निम्न उर्दू-गजल की लय से मिलाया जा सकता है—

'तलातुम में पड़के पकड़ता हूँ मौजें,
समझता हूँ दामाने-साहिल यही हैं।'

'छायालोक' की 'कहीं जिन्दगी का सहारा न मिलता'—कविता का प्रारम्भ भी 'गजल' की तरह दोनों चरणों के समतुकान्त से तथा उसी की लय में हुआ है। केवल बीच में पदों के पहले-दूसरे चरणों को समतुकान्त, तीसरे को भिन्न-तुकान्त तथा चौथे को टेक के दो चरणों के साथ मान्त्यानुप्रास कर दिया गया है।)

यह बात नहीं है कि छायावादी कवि ने 'द्विवेदी-युग' से कुछ लिया ही नहीं; और वह आकाश-पतित क्रान्ति है। प्रारम्भ 'द्विवेदी-युग' की अतुकान्त कविता लिखने की प्रवृत्ति छायावादी कवियों में भी प्रारम्भ में दिखलाई पड़ती है। 'प्रसाद' जी ने 'प्रेम-पथिक' में अतुकान्त कविता का ही प्रयोग किया। 'पन्त' जी ने 'ग्रंथि' को अतुकान्त छन्द में ही लिखा। संस्कृत-साहित्य में अतुकान्तकाव्य की पूर्ण प्रतिष्ठा है। दीर्घ समस्त-पदावली, भाषा की संयोगात्मक प्रकृति एवं विलम्बित वाक्यों के कारण

उसका प्रवाह, इतना अन्तस्संगीत-मय एवं गुरु-गम्भीर हो उठता है कि उसकी अन्त्यानुप्रास-हीनता पर ध्यान ही नहीं जाता। हिन्दी के छायावादी युग में यह प्रयोग भी सफलता के साथ आया। 'प्रेम-पथिक' एवं 'ग्रन्थि' की अतुकान्तता इसलिए हलकी नहीं लगी कि इनमें इन अनुभूति-प्रवण एवं संवेदनशील कवियों के हृदय की वेदना-व्यथा अत्यन्त सघन रूप से अवतरित हुई है, जिसकी गहराई में डूब कर चलने वाली पाठक की ग्राहिका चेतना स्वयं प्रभाव-मंथर हो उठती है। ऐसी मनोदशा में अतुकान्तता के प्रति पाठक प्रबुद्ध ही नहीं हो पाता, उसके ऊपर तो भावों की प्रगाढ़ता छायी रहती है। यदि इनमें चमत्कार की वृत्ति प्रधान होती तो ऐसा न होता—

'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।
चलना होगा उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।'

('प्रेम-पथिक')

भाव-कल्पना की सघनता में निम्न पंक्तियों की अतुकान्तता का बोध ही नहीं होता—

'शैवलिनी, जाओ मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल, आलिंगन करो तुम व्योम का!
चन्द्रिके, चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो, गावो पवन-वीणा बजा,
पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है,
उठ किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी पिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी!

('ग्रन्थि')

'कामायनी' के भीतर शास्त्रीय छन्दों के अतिरिक्त ऐसे भी छन्द आये हैं जो 'प्रसाद' जी की मौलिकता के पूर्ण परिचायक हैं। 'कामायनी' के

सभी छन्द उसके गुरु-गम्भीर वातावरण के अनुकूल ही प्रयुक्त हुए हैं। तार्टंक छन्द की प्रमुखता है। इसके अन्त में एक गुरु वर्ण होता है। इसी को 'लावनी' की लय में भी पढ़ सकते है। 'आल्हा' अथवा 'वीर छन्द' की लय भी लगभग यही है, थोड़ा-सा अन्तर पड़ जाता है। 'विरहा' का भी इससे साम्य है—

ताटंक—'स्वर्ण-शालियों की कलमें थीं
दूर-दूर तक फैल रहीं।'
आल्हा—'हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह।'
लावनी—'एक तत्व की ही माया थी
कहो उसे जड़ या चेतन!'
विरहा—'पानी पीके भालू लौटा
खड़ा भया वहि डाँड़े पर।
पोंछ सिरोर किरोध किया है,
मारा थप्पड़ सौंहर पर॥'

जब कि 'ताटंक' के अन्त में कम से कम एक गुरु होता है, 'आल्हा' के हर चरण के अन्त में ऽ। होना आवश्यक है (बाभन होइके जउ हर जोतइ, विधवा होइके पान चबाय)। 'लावनी' में लघु और गुरु के अन्त में किसी निश्चित क्रम से होने की अनिवार्यता नहीं। 'विरहा' के अन्त में भी लघु और गुरु दोनों से गायन-स्वर के बल पर काम चला लेते हैं।

'कामायनी' में शास्त्रीय छन्दों में भी ताटंक, ककुभ, पादाकुलक शृंगार, रूपमाला, रोला, सार और इनके मिश्रित रूप प्रयुक्त हुए हैं। 'इड़ा' और 'आनन्द' आदि सर्गों को छन्द-रचना में 'प्रसाद' जी ने अपनी मौलिकता भी दिखला दी है। 'इड़ा' सर्ग में गीत का भी प्रयोग हुआ है। 'हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार'—पंक्ति वाला नाटक-गीत 'मराल' छन्द में है जो ३२ मात्राओं का होता है। छायावादी

गीत शास्त्रीय दृष्टि से विषम-मात्रिक छन्द में अन्तर्भुक्त होंगे। इनमें प्रारम्भ से लेकर अन्त तक प्रत्येक चरण में मात्राएँ समान नहीं होतीं। पदों की भाँति इनका टेक वाला पद छोटा भी होता है और बड़ा भी। इनका संकोच-प्रसार भावाधीन होता है—

अ—'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे!
जब सावन-घन सघन बरसते इन नयनों की छाया भर थे!'

\+ + + ('लहर' से—'प्रसाद')

'अलि, कैसे उनको पाऊँ!
वे आँसू बनकर मेरे, इस कारण ढुल-ढुल जाते,
इन पलकों के बन्धन में मैं बाँध-बाँध पछताऊँ।'

\+ + + —('रश्मि'—महादेवी)

'(प्रिय) यामिनी जागी!
अलस पंकज-दृग, अरुण मुख, तरुण अनुरागी!'

\+ + + —('निराला')

'नव हे, नव हे
नव-नव सुषमा से मंडित हो
चिर पुराण भव हे
नव हे!' —('पन्त')

\+ + +

'देव, मैं अब भी हूँ अज्ञात!
... ...
आओ, चुम्बन-सी छोटी है यह जीवन की रात!'

\+ + + —(डा० वर्मा)

'आज मुझसे बोल बादल!
तम-भरा तू तम-भरा मैं
.............................' —('बच्चन')

ऊपर के गीत-उद्धरणों की टेक परवर्ती चरणों से छोटी है। नीचे के उद्धरणों की टेक परवर्ती चरणों से बड़ी है—

'ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे!
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अंबर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे!'

\+ + + —'प्रसाद'

'तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या!
चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर-संगम
...................................'—(महादेवी)

\+ + +

'बन्धन कोई बाँधे हजार पर रुक न सकी यह हृदय-धार!
उद्गम है छोटा-सा ही मन
..........................।' —('नरेन्द्र')

राष्ट्रीयता के भावावेग में प्रयाण अथवा अभियान-गीत (मार्चिंग-सांग) भी लिखे गये है। इनमें उमंग एवं ओज से भरे सिपाहियों अथवा स्वयंसेवकों की मनोदशा एवं उनकी गति की लय का बड़ा ही सुन्दर सामंजस्य हुआ है। ऐसी कविताओं में नराच, पंचचामर अथवा नागराज नामक वर्णिक वृत्त की गति पायी जाती है। 'प्रसाद' जी का निम्न प्रयाण-गीत इसका सुन्दर उदाहरण है—

'हिमाद्रि-तुंग-शृंग से प्रबुद्ध-शुद्ध भारती।
स्वयं-प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती॥

अमर्त्य आर्य-पुत्र हो दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है बढ़े चलो, बढ़े चलो॥'

इस छन्द के प्रत्येक चरण में जगण, रगण, जगण, रगण, जगण और एक गुरु होता है। एक लघु, एक गुरु के क्रम से १६ वर्ण होते हैं। 'एकान्त संगीत' में 'बच्चन' जी ने भी ऐसी एक कविता रखी है, पर उसमें गण-क्रम का पूर्ण निर्वाह नहीं हुआ है, वरन् मात्रा की ही गणना तक ध्यान रखा गया है—

'अग्नि पथ! अग्नि पथ! अग्नि पथ!
वृक्ष हों भले खड़े,
हों घने, हों बड़े,
एक पत्र-छाँह भी माँग मत, माँग मत, माँग मत!'

प्रथम पंक्ति में ही 'प' के स्थान पर गुरु वर्ण होने चाहिएँ थे। इस छन्द के साथ कठिनाई यह है कि इसमें लघु-गुरु वर्णों का एक सुदीर्घ क्रम चलता है। खड़ी बोली छन्द–शास्त्र के अनुसार 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' मात्राओं का यथातथ उच्चारण करने के कारण नवीन युवक-कवि इसमें प्रायः असफल रहे हैं और उन्होंने उर्दू के प्रवाह पर ही संतोष किया है।

छायावादी कवि भाव अथवा अनुभूति को सदैव सर्वोच्च स्थान देते आये हैं। उनकी कल्पना का दिगन्त विस्तार-प्रेम भी इसी भावानुभूति की प्रशान्ति के निमित्त ही आया है। उसने इस भाव-प्राधान्य के लिए छन्दों के साथ भी प्रयोग किये। भाव के प्रसार-संकोच और उच्चावचता के आग्रह पर ही उन्होंने 'स्वच्छन्द छन्द' और 'मुक्त वृत्त' के प्रयोग किये। 'प्रसाद' जी ने 'लहर' के अन्त में 'प्रलय की छाया' और 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' जैसी कविताएँ लिखीं। 'निराला' जी ने 'परिमल' के 'प्रथम खंड' में छन्दोबद्ध, 'द्वितीय-खण्ड' में 'स्वच्छन्द छन्द' और 'तृतीय खण्ड' में मुक्त वृत्त की रचनाएँ लिखीं। 'पन्त' जी ने भी अपनी 'आँसू,' 'उच्छ्वास' एवं 'परिवर्तन' जैसी कविताओं में छन्द के बंधन से मुक्ति लेने का प्रयास

किया। अब तक वेदों से लेकर 'द्विवेदी-युग' तक कविता सदैव छन्द-नियम से परिबद्ध होती थी। छन्द के लिए नियम-बद्ध और बन्धन-युक्त लय आवश्यक मानी गई है। छन्द के घेरे में कवि के भाव-विचार ही नहीं, वांछित शब्द भी काट-छाँट में आ जाते हैं। विराम, निश्चित मात्रा-संख्या और नपे-तुले प्रवाह के आग्रह से भरती के शब्द भी रखने पड़ते हैं। भावावेशी छायावादी कवियों ने छन्दों के इस कठोर बंधन के विरुद्ध भी विद्रोह किया। उन्होंने बाहरी बंधन के स्थान पर भाव की आन्तरिक लय को पकड़ा और भाव तथा भाषा के अन्तरीण सामंजस्य को अपना लक्ष्य बनाया। यह छन्द-मुक्ति दो रूपों में दिखलाई पड़ती है। कहीं-कहीं भाव-प्रसार के आग्रह पर चरण छोटे-बड़े तो अवश्य होते हैं, पर उनमें सतुकान्तता का ध्यान रखा जाता है और कहीं-कहीं उसे भी त्याग दिया जाता है। प्रथम को 'स्वच्छन्द छन्द' और द्वितीय को 'मुक्त वृत्त' कह सकते हैं। 'निराला' की 'जागो प्रिय एक बार' कविता स्वच्छन्द-छन्द है, क्योंकि उसमें 'वार', 'द्वार', 'उभार' आदि शब्दों के तुक भी आकर संगीत की वृद्धि करते चलते हैं। 'पन्त' की 'उच्छ्वास' और 'आँसू' कविताएँ भी इसी कोटि की हैं। 'प्रसाद' जी के 'लहर' संग्रह की अन्तिम ऐतिहासिक कविताएँ 'मुक्त वृत्त' में गिनी जानी चाहिएँ, क्योंकि उसमें तुकों का आग्रह नहीं है। 'निराला' जी ने मनुष्य की मुक्ति की भाँति, कविता की भी मुक्ति मानी और 'अनामिका' में उससे बन्धन-मय छन्दों की छोटी राह छोड़कर अध-विकच हृदय-कमल में आने का अनुरोध किया। 'पन्त' जी ने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में पृ० ३८ पर हिन्दी में छन्दों की कठोरता के पालन-मोह की तुलना सुन्दरता-वृद्धि के लिए चीन की स्त्रियों द्वारा तंग जूते पहनने अथवा कमर पतली रखने के लिए चुस्त पेटी पहनने की क्रिया से की और इसे 'लक्ष्य-भ्रष्ट' एवं 'अस्वस्थ' बतलाया। उन्होंने अपनी कविताओं में चल-पंक्तियों का भी प्रयोग किया जिसमें भाव अथवा विचार एक चरण में और एक वाक्य में न समाप्त होकर, बाद के चरण

में भी चलते रहते हैं और फिर जहाँ एक भाव-विचार समाप्त हुआ अथवा एक वाक्य पूर्ण हुआ, दूसरा ठीक वहीं से प्रारम्भ हो जाता है। 'प्रसाद' जी के 'प्रेम-पथिक' में ऐसा ही हुआ है। छन्दों की मुक्ति का अर्थ लय-मुक्ति से नहीं है। इन कवियों ने भाव-लय के अनुसार छन्द चुने और छन्दों को भाव के बंधन के रूप में न स्वीकार कर भाव-सहायक के रूप में ग्रहण किया। शास्त्रोक्त छन्दों में भी परिवर्त्तन-परिवर्धन किया और एक-स्वरता को मिटाया। कुछ 'मुक्त-छन्दों' में 'कवित्त' की लय का ग्रहण भी हुआ है, जिनमें कुछ वर्णों के जोड़ने-घटाने से वैसा ही प्रवाह मिल जाता है। कहीं-कहीं विभाषीय छन्दों की लय भी ग्रहण की गई है। कुछ स्थलों पर एक दम गद्य का ही लय ग्रहण हुआ है; पर कलात्मक सौन्दर्य के साथ ही भाव-सौन्दर्य की वृद्धि भी अपने सुन्दरतम रूप में वहीं प्रस्फुटित हुई है, जहाँ प्रवाह और अनुप्रास भी यथा स्थान आते गये हैं। 'जुही की कली' और 'जागो फिर एक बार' जैसी कविताओं में 'स्वच्छन्द-छन्द' की जो छटा निखरी है, हिन्दी में अन्यत्र वैसी नहीं दिखलाई पड़ी। आज भी 'निराला' जी इस दिशा में बेजोड़ हैं। सच पूछा जाय तो स्वच्छन्द-छन्द का विकास अभी इन रचनाओं से आगे बढ़ भी नहीं पाया है। जो गुम्फित पदावली और भावानुकूल लय-योजना यहाँ मिलती है, उसे आज भी चुनौती नहीं मिल सकी। भाषा और भाव के सामंजस्य की अपूर्व शक्ति 'जागो फिर एक बार' कविता में देखी जा सकती है, जहाँ कोमल और ओजोमय भावों के साथ भाषा का कलेवर बदलता चलता है। सचमुच, हिन्दी में 'निराला' जी की भाषा-संगुम्फन-क्षमता अद्वितीय है—

"जागो फिर एक बार।
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें।
अरुण-पंख, तरुण किरण
खड़ी खोलती हैं द्वार।"

\+ \+ \+

'समर में अमर कर प्राण
गान गाये महासिन्धु से
सिन्धु-नद-तीर बासी।—
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरंग चमू-संग;
सवा-सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा
गोविन्द सिंह निज नाम कहाऊँगा।
किसने सुनाया यह
वीर-जन-मोहन अति
दुर्जय संग्राम राग........।' ('परिमल से')

'पंचवटी-प्रसंग', 'महाराज जयसिंह को शिवाजी का पत्र' आदि रचनाएँ भी इस दिशा के श्रेष्ठ स्मृति-चिह्न हैं। इस छन्द में 'निराला' जी ने प्रगतिवादी रचनाएँ भी लिखी हैं। 'भिक्षुक' पर लिखी गयी, 'वह आता—' से प्रारम्भ होनेवाली रचना भी अपने ढंग की अनूठी है। क्रान्ति को संबोधित कर लिखी गई 'एक बार बस और नाच तू श्यामा' और 'बादल राग' जैसी रचनाएँ भाव और छन्द के अनुपम सामंजस्य की सूचिका हैं। 'बादल-राग' में छन्द की लय से बादल का गर्जन, जल की झरझर-गति और तड़ित् का त्वरित कम्पन—सभी कुछ स्वरमाण हो उठा है—

'झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर!
झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में,
सरित्-तड़ित्-गति-चकित पवन में
मन में विजन-गहन-कानन में
आनन-आनन में, रव घोर कठोर—

+ + + +

'धँसता दलदल
हँसता है नद खल् खल्
बहता, कहता कुलकुल कलकल कलकल ।'

'निराला' जी के छन्दों की नाद-योजना अपूर्व है। 'प्रसाद' जी की 'प्रलय की छाया' नामक मुक्त-वृत्त में लिखी कविता भी अपनी कल्पना-कमनीयता और शब्द-योजना में अत्यन्त ऊँची है—

'दूरागत वंशी-रव-
गूँजता था धीवरों की छोटी-छोटी नावों से।
मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में
रंध्र खोजती थीं रजनी की नीली किरणें-
उसे उसकाने को-उसे हँसाने को।' —('लहर')

श्री 'मानव' जी ने अपनी 'निराधार' पुस्तक में ६ मुक्त-वृत्त की कविताएँ लिखी हैं। 'भाभी' कविता में गद्य की लय है और 'चन्दा' में तो अन्त में व्यथा के भार को व्यक्त करने के लिए एक-एक शब्द के चरण रखे गये हैं—

'मेरी आँखों से बरस पड़े
टप!
टप!
आँसू।'

'मीरा' का प्रारम्भ भी कथाओं-सा एकदम गद्य के वातावरण में होता है। 'महामाया' का वातावरण अपेक्षाकृत अधिक भावनात्मक होने से मधुर है। 'मानव' जी के मुक्तवृत्तों में दैनिक जीवन का यथार्थ और कविता से अधिक सुपरिचित वातावरण मिलता है, पर इनमें कल्पना की सूक्ष्म उड़ान और पदों की प्रगल्भ-योजना नहीं मिलेगी। लगता है, जैसे मुक्त-वृत्त हमारे जीवन के पास आता जा रहा हो, गद्य को भी अपनाने के लिए।

श्रीधर्मवीर भारती और नरेशकुमार मेहता आदि ने भी इधर प्रयोग किये हैं, पर 'भारती' जी के छन्द में एक लय-प्रवाह और संगीत, कल्पनाओं की झाँकी से सदैव मुस्कराता हुआ मिलेगा, जब कि 'पिछली अपनी छायावादी एवं रहस्यवादी कविताओं को कविता न माननेवाले' श्रीमेहता जी की रचनाओं में विचार के विराम से ही चरणों का निर्माण होता है, अतः उसमें लय की दृष्टि नहीं होती। 'प्रयोग'-वादियों के अध्वर्यु श्री 'अज्ञेय' जी ने भी 'मुक्त-वृत्त' में रचनाएँ की हैं। इनमें गुम्फित पद-शय्या तो नहीं है, क्योंकि वातावरण साधारण एवं दैनन्दिन जीवन का है; पर इनमें केवल लय ही है जो भाव-विचारों के साथ घटती-बढ़ती जाती है। इनमें 'छन्दत्व' का एकदम लोप है, इसी से तुक और सानुप्रासता की प्रवृत्ति का पूर्ण बहिष्कार है। ये रचनाएँ 'इत्यलम्' और 'हरी घास पर क्षण भर' के भीतर देखी जा सकती हैं। आज के व्यक्ति-जीवन की नीरसता, विषण्णता, चिन्ता-मग्नता एवं मानसिक उलझनों का लय इन रचनाओं के छन्द में गूँज उठा है

बँगला के 'पयार' आदि छन्दों के अतिरिक्त, इधर बाद में आकर, अंगरेज़ी के छन्द भी अपनाए गए हैं। यों तो चतुर्दश-पदियाँ 'द्विवेदी-युग' के उत्तरकाल से ही दिखलाई पड़ने लगती हैं और स्वयं 'प्रसाद' जी ने ही प्रारम्भ में लिखी हैं, पर बाद में जब 'प्रयोग' और छन्द-वैविध्य का आकर्षण प्रधान होने लगा, तो अंगरेजी और उर्दू के छन्दों का प्रयोग बढ़ने लगा। उर्दू की 'रुबाई' पहले पहले हिन्दी में 'चतुष्पदी' के नाम से बहुत आई। 'बच्चन' जी ने अपनी 'मधुशाला' और 'हरिऔध' जी ने 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' लिखे। कई वर्ष पूर्व श्री 'गुलाब' ने 'सानेट' लिखे थे। इधर गत वर्ष श्री किशोरीलाल जी गुप्त ने 'श्यामा' नाम से एक चतुर्दशपदियों का ही संग्रह निकलवाया है। श्री त्रिलोचन 'शास्त्री' ने भी गत दो वर्षों में बड़ी सुन्दर चतुर्दशपदियाँ लिखी हैं। 'गुप्त' जी की चतुर्दशपदियों में प्रकृति-

चित्रण आदि की बाह्यार्थता प्रमुख है और 'शास्त्री' जी में अन्तरानुभूतियों की शय्या। 'छायावाद' के 'तृतीय उत्थान' में छन्दों के विविध प्रयोग हुए हैं। इन युवक कवियों ने अपने छन्द-विधान में चलचित्र-जगत् के गानों और लोक-गीतों से बड़ी प्रेरणा ली है। नवीन कवियों में श्री शम्भूनाथ सिंह में छन्दों की लय निकालने की अद्भुत प्रतिभा दिखलाई पड़ती है। 'छायावाद' के 'द्वितीय उत्थान' में श्री 'बच्चन' ने छन्दों की एकरसता दूर करने में बड़ा प्रयास किया, जिसके परिणाम-स्वरूप नये कवियों का लक्ष्य पिंगल-शास्त्र न रहकर भावोपयुक्त 'लय' हो गयी। 'चली पिया के देश उमर के सोलह फूलों वाली' जैसे छन्दों में रस की खोज करने वाले, 'रसवन्ती' के प्रणेता श्री 'दिनकर' जी ने भी 'द्वितीय उत्थान' में पर्याप्त छंद-वैविध्य प्रस्तुत किया। 'आज न सोने दूँगी बालम, मेरे अधिक निदारे बालम' की टेक पर गीत लिखने वाले श्री नरेन्द्र शर्मा ने भी भावों के अनुरोध पर नये छंदों को गढ़ने का प्रयत्न किया है। तीन-तीन चरणों के छोटे-छोटे गीतों की रचना में श्री 'बच्चन' जी 'एकान्त संगीत' और 'निशा-निमंत्रण' में काफी सफल हुए हैं। 'तृतीय उत्थान' में श्री शम्भूनाथ सिंह के अतिरिक्त सर्वश्री के० ना० मिश्र 'प्रभात', 'कोकिल', 'रंग', 'भारती', 'विश्व', जानकी वल्लभ शास्त्री, 'करुणेश' (प्रतापगढ़) विजयदेव नारायण शाही, रामचन्द्र सिंह 'रमेश', महेंद्र, गिरधर रामदयाल एवं रमानाथ अवस्थी ने नवीन स्वरों की खोज की है। 'भारती' की भाषा ही नहीं, छन्द-लय पर भी उर्दू की मधुर फुहार है। रमानाथ के स्वरों में चलचित्रों की प्रेरणा परिष्कृत हुई है। नवोदित कवियों में सर्वश्री रूपनारायण त्रिपाठी 'प्रकाश', हरी मोहन, रवीन्द्र 'भ्रमर', 'किशोर' (बिहार), नर्मदेश्वर, वीरेन्द्र मिश्र, रामदरश मिश्र, 'राकेश' (मथुरा) 'नीरज', सुधाकर पाण्डेय, केदारनाथ सिंह 'सेवक' (बिहार), श्री हरि, 'परदेशी' (प्रयाग), ब्रजविलास, प्रमोदकुमार (काशी), सर्वेश्वर (प्रयाग), 'अशांत' (पटना), 'सरोजेश' (गाजीपुर), 'भुवनेश' (जौनपुर), 'दिवाकर', आदित्य वर्मा,

'कमलेश' गौड़, कैलाश वाजपेयी (लखनऊ), 'मुग्ध' जनार्दनराय 'विमन', श्रवण कुमार, विद्याधर मिश्र (गोरखपुर), इन्द्रभाल शुक्ल 'दिव्य' आदि गीतों के नये स्वरकार हैं। श्री रू० ना० त्रिपाठी 'प्रकाश' ('धरती के स्वर'- 'माटी की मुसकान' में), रामदरश मिश्र और केदारनाथ सिंह आदि ने लोक-गीतों की गूँज और वातावरण से हिन्दी-गीतों को सजाने का अच्छा प्रयास किया है।)

उर्दू में 'क़ता' तो चलते ही थे, इधर 'प्रयोग' की प्रेरणा से 'मुक्तक' लिखने में नव कवि प्रयास-शील हुए हैं। किसी घटना, दृश्य अथवा एक अनुभूति पर अधिक से अधिक चार चरणों का एक या दो छन्द लिखने की प्रवृत्ति भी परिलक्षित हो रही है। गीत-रचना और उसका अधिकाधिक परिष्कार-संस्कार ही इस युग की विशेष उल्लेखनीय घटना है। इस युग में प्रगीतों का बहुत ही प्रचलन हुआ। युग-जीवन एवं चिन्तन की विशृंखलता के कारण जमकर महाकाव्य तो अधिक नहीं लिखे गये, पर हृदय की रागिनियों को गुँजाने के लिए 'गीत'–'प्रगीत' बहुत लिखे गये। वैसे 'मुक्तक', 'मुक्तक-प्रबंध', 'प्रगीत-मुक्तक', 'गीति-प्रबंध', 'प्रलम्ब मुक्तक' और गीति-नाट्यों की भी रचनाएँ की गईं, पर प्रगीतों की प्रवृत्ति ही प्रधान रही। छायावादी युग में अन्य धारा के कवियों ने तो प्रबंध काव्य लिखे और 'प्रिय प्रवास', 'साकेत', 'पथिक', 'स्वप्न', 'मिलन', 'सिद्धार्थ' 'नूरजहाँ', 'विक्रमादित्य', 'हल्दीघाटी', 'जौहर', 'नल-नरेश' (पुरोहित प्रताप नारायण) 'कुणाल', 'कुरुक्षेत्र', 'आर्यावर्त्त', 'अंगराज' 'रश्मि-रथी' जैसे प्रबंध-काव्य इसी युग के बीच आये, पर छायावादियों में केवल 'प्रसाद' एवं 'निराला' को ही इस दिशा में सफलता मिली। 'प्रसाद' के 'प्रेम-पथिक' और 'महाराणा का महत्व' प्रबंध ही है और 'कामायनी' महा-काव्य है। 'पन्त' जी का प्रयास भी 'ग्रंथि' में प्रबंधात्मक ही है। 'निराला' जी ने 'तुलसीदास' के अतिरिक्त 'राम की शक्ति-पूजा' और 'सरोज स्मृति' जैसी प्रबंध-कविताएँ भी लिखीं। डा० रामकुमार वर्मा

('एकलव्य'), 'गिरीश' जी ('तारक-वध') और श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के प्रबंध अभी सामने नहीं आये। पर प्रबंध-रचना इस युग की मूल प्रवृत्ति नहीं है। आत्म-व्यंजना की प्रेरणा इस युग के कवियों में प्रमुख रही, अतः जहाँ कहीं उन्होंने प्रबंध का सहारा भी लिया वहाँ गीतात्मकता और व्यक्तिगत अनुभूतियों की प्रलम्ब शय्या प्रधान हो उठी है और कथा स्वानुभूतियों की 'व्यक्ति-निष्ठता' की धारा में तली में पड़ गई। स्वयं 'गुप्त' जी भी 'साकेत', 'यशोधरा' एवं 'द्वापर' में प्रगीतात्मकता से प्रभावित हो गये हैं। गांधीवादी कवि श्री सोहनलाल जी द्विवेदी भी, 'कुणाल' और 'वासवदत्ता' में आत्म-व्यंजना से आच्छादित हो उठे हैं।

'प्रसाद' जी की 'कामायनी' भी भारतीय साहित्य-शास्त्र की अनुगामिनी नहीं, उसकी कथा प्रच्छन्न और कवि की अनुभूतियों और रुचियों की सहगामिनी है। जीवन-समग्रता की सूक्ष्म व्याख्या महान् सांस्कृतिक एवं दार्शनिक प्रयास, जातीय जीवन की मूल-गत अभिव्यक्ति-दृष्टि, वृहत्तर युग-संदेश और महा चरित्रों की रहस्य-अवतारणा की दृष्टि से 'कामायनी' अवश्य एक महाकाव्य है। उसका बहिरंग भले ही शास्त्रानुमोदित न हो और उसमें कवि की स्वरुचि प्रधान हो उठी हो, पर उद्देश्य की महत्ता एवं दृष्टि की विशालता के विचार से वह विश्व का एक श्रेष्ठ महाकाव्य है। 'कामायनी' का विषय क्षेत्र बड़ा व्यापक है। उसमें मानव-विकास के साथ-साथ मानवीय सभ्यता के विकास का भी इतिहास अंकित है। मनोवैज्ञानिकता तो अभूतपूर्व है। मानव-मन की विविध मनोवृत्तियों का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। इसका समरसता पर आधृत 'आनन्दवाद' प्रसाद का महान् सन्देश है। 'कामायनी' का कथा-तत्व अवश्य बड़ा सूक्ष्म और साधारण पाठक की पकड़ से ऊपर है, पर उसका अन्तरंग अत्यन्त श्रेष्ठ है। आचार्य 'शुक्ल' जी ने उसकी जिन दार्शनिक असंगतियों का उल्लेख किया है, वे इस कारण प्रतिभासित होती हैं कि 'शुक्ल' जी ने उसे दर्शन का सैद्धांतिक निरूपण मान लिया है।

'कामायनी' की कथा इतिहास का सहारा तो लेती है, किन्तु वह न तो मात्र ऐतिहासिक कथा-काव्य है और न दर्शन-निरूपण ही। 'कामायनी', की शैली प्रतीकात्मक है। जो 'कामायनी' के प्रतीकात्मक उद्देश्य को भूलकर, उसे दर्शन-ग्रंथ के रूप में ग्रहण करना चाहेगा, उसे बहुत-सी गुत्थियों की भ्रान्ति होगी। 'कामायनी' को प्रतीक काव्य मानकर ही जब उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझने का प्रयास किया जायगा, तभी उसका वास्तविक रहस्य हृदयंगम होगा। प्रतीक में सहारा लिया जाता है—उसका सूक्ष्म आलोक ग्रहण किया जाता है, स्थूलता पर चिपकने से उसका मर्म-ग्रहण नहीं किया जा सकता।

'प्रगीति-मुक्तक' आत्म-व्यंजना-प्रधान होते हैं। इनमें स्फुट मुक्तकों की भाँति निर्वैयक्तिकता ढूँढ़ना ठीक नहीं। यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो वह छायावादी गीत-काव्य दो रूपों में बाँटा जा सकता है—एक रूप वह है जिसमें भाव-प्रधानता होने पर भी गेयता होती है और उनमें एक टेक होती है जो हर पद के अन्त में एक समतुकान्त चरण के साथ दुहराई जाती है अर्थात् वह 'अन्तरा' युक्त होता है। दूसरे प्रकार में अन्तरा या टेक का विधान नहीं होता। प्रथम को 'गीत' और दूसरे को 'प्रगीत-मुक्तक' कहा जाता है। 'प्रसाद', महादेवी, 'बच्चन', डा० रामकुमार वर्मा, शम्भूनाथ सिंह आदि प्रमुख गीतकार हैं। 'पन्त' जी प्रमुख रूप से प्रगीत-मुक्तक के लेखक हैं। गीत की अपेक्षा, प्रगीत-मुक्तक में संगीत और वैयक्तिकता कम होती है। 'आँसू' एक प्रलम्ब मुक्तक ही है। 'प्रगीतों' में बाह्य विषय की आत्म-व्यंजक अभिव्यक्ति होती है और गीत में आत्मानुभूतियों की। 'पन्त' की 'परिवर्तन', 'नौका विहार', 'बादल' आदि रचनाएँ सुंदर प्रगीत-मुक्तक हैं। 'महादेवी' जी मात्र गीत-रचयिता ही हैं। गीतों में आत्म-व्यंजना, आनुभूतिक सत्यता-नव्यता, भावों की तीव्रता, गम्भीरता एवं एकता, रस-सिक्तता और निरायास अभिव्यक्ति के साथ गेयता ही उत्कृष्ट गीत के प्रमुख तत्व हैं। गीतों को

भी कई उपभेदों में विभाजित किया गया है, जिनमें 'संबोध-गीति', 'शोक-गीति', 'वीर-गीति', 'प्रतीक-गीति', 'विद्रूपगीति' आदि मुख्य कहे जा सकते हैं। 'संबोध-गीति' अंगरेजी के 'ओड' का हिंदी-रूप है, जिसमें किसी को सम्बोधित करके उक्तियाँ आती हैं। 'शोक-गीति' में करुणा और शोक की प्रधानता होती है। वीर-गीति में वीर-पूजा की भावना प्रधान होती है। 'प्रसाद' का 'महाराणा का महत्व' और 'निराला' का 'तुलसीदास', इसी कोटि में लिये जा सकते हैं। 'प्रतीक-गीति' में प्रतीकों के सहारे आत्म-व्यंजना की जाती है। 'विद्रूप-गीति' में व्यंग्य और हास्य प्रधान होता है। 'निराला' की 'गर्म पकौड़ी' इसी कोटि की है।

'प्रसाद' जी का 'आँसू'—छंद बहुत दिनों तक आकर्षण-केंद्र बना रहा। बहुत से परवर्ती कवियों ने उसी में अपना प्राथमिक अभ्यास किया। आज भी वह 'मुग्ध' के 'प्रलाप' और 'प्रणय' तथा 'भुवनेश' के 'रोदन' में चलता चल रहा है। इसी प्रकार 'निराला' जी का स्वच्छंद-छंद भी आज तक लिखा जा रहा है। प्रगीत-मुक्तकों में कुछ छोटे होते हैं और कुछ लंबे। छोटे प्रगीतों में पन्त की अधिकांश कविताएँ हैं और लम्बे प्रगीतों में 'प्रसाद' जी की 'अशोक की चिन्ता' और 'दिनकर' का 'द्वन्द्व-गीत' गिना जा सकती हैं।

इस युग में परंपरागत छंदों का प्रयोग एकदम लुप्त नहीं हो गया। श्री ठाकुर गोपालशरण सिंह जी ने घनाक्षरियों का जो सहज सौंदर्य, खड़ी बोली के कण्ठों निकाला, उसका सर्वथा विलोप नहीं हुआ। कानपुर के 'सनेही', 'हितैषी' आदि की छाया में वह भी पनपता रहा।' सर्वश्री 'अश्रु' 'मिलिन्द', 'निशंक' (मिलिंद) रसराज नागर, शिशुपाल सिंह 'शिशु' आदि के बीच से अभिव्यक्ति पाती हुई वह आज भी जीवित है। 'झोपड़ी' और 'सेवरी' के गायक 'दिवंगत 'अश्रु' ने झोपड़ी के आसपास ही रुककर कहा, 'मोहन के मुख से उगली हुई, पावन माटी यहीं कहीं

होगी !' रसराजनागर के हाव-भावों की शोखी और भाषा का चरण-विन्यास तनिक देखिए—

'जा, हट जा, बड़ा आया धनुर्धर, तीर वियोग के मारनेवाला।
मैं प्रिय की प्रिय मेरा रहा, फिर कौन तू पी-पी पुकारनेवाला !!'

'शिशु' जी अपनी भावुकता में विस्मित हैं—

'कौन-सा ममीरा मीरा आँख में लगाये,
जो कि आँख मूँद कर 'घनश्याम' देख लेती थी।'

छायावाद-युग छन्दों के बंधन के विरुद्ध जितना ही विद्रोही रहा है, छन्द और भाव-लय का उतना ही समर्थक । इस प्रकार छायावाद का छन्द-विद्रोह निश्छन्द नहीं सछन्द है। वह कृत्रिमता, नीरसता एवं एकस्वरता का विरोधी है, छंद के मर्म 'लय' का विरोधी नहीं। इसी से अन्य युगों में भाव और छन्द की ऐसी समंजसता इस मात्रा में किंचित दुर्लभ है।

छायावाद और भाषा-संस्कार

(सामाजिक परिस्थिति और युग-चेतना में परिवर्तन के साथ-साथ, काव्य 'वस्तु', काव्य के 'रूप' और अभिव्यक्ति-पद्धति में भी परिवर्तन होता है। इसीलिए छायावादी कवियों को 'द्विवेदी-युग' से प्राप्त भाषा की विरासत में भी अनुकूल परिवर्तन-परिवर्धन करना पड़ा। 'द्विवेदी-युग' की प्रवृत्ति तर्क-प्रधान और स्थूल-वस्तु-मुखी थी, अतः उस युग की भाषा भी विश्लेषणात्मक, विचार-रुक्ष और सादी है। उनके सामने अपने लक्ष्य को देखते हुए विशेष कठिनाई भी नहीं आई। आर्य-समाजी बौद्धिकता के सहारे उन्हें जीवन-जगत् की जिन अपेक्षाकृत बाह्य और स्थूल उपदेशात्मक समस्याओं का अनावरण करना था, उसके लिए उनकी अभिधा-प्रधान इतिवृत्तात्मक भाषा पर्याप्त थी; पर जब 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' की चेतना तीव्रतर हो उठी और समाज के परिवेश में स्थित व्यक्ति बाह्य परिस्थिति के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं और मानसिक कड़ियों के उलझाव के प्रति अधिक सजग हो उठा, तो उनकी अभिव्यक्ति के लिए उसे एक अधिक नमनीय, सूक्ष्म-सांकेतिक, चित्रात्मक, और रंग-मयी भाषा की आवश्यकता पड़ी। 'द्विवेदी-युग' में संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति प्रबल हो ही उठी थी, छायावादी कवियों ने भी उसका तिरस्कार नहीं किया; हाँ, उसमें उसने चयन द्वारा ऋण-धन अवश्य किया। अत्यन्त कठोर, लम्बे समास वाले पद और पुनरुत्थान की आवेश-बहिया में चले आये अकाव्यात्मक शब्दों को उसने अवश्य छोड़ दिया और काव्यात्मक, कोमल-मसृण, भाव-व्यंजक शब्दों को ढूँढ़कर अपनी कृतियों में स्थान दिया। छायावाद के प्रारम्भिक कवियों में अधिकांश संस्कृत-साहित्य के भी अध्येता थे। 'प्रसाद' जी के निबंध स्वयं इसके प्रमाण हैं। 'निराला' जी ने भी संस्कृत-साहित्य का अच्छा स्वाध्याय किया है। 'पंत' जी ने भी अपने व्यक्तिगत संस्मरण-सम्बंधी साहित्यिक लेखों में 'रघुवंश', 'मेघदूत' आदि के अध्ययन और संस्कृत की कोमल-कान्त

पदावलियों के प्रति अपने आकर्षण का संकेत किया है। महादेवी जी ने तो 'वेद' की ऋचाओं और 'सूक्तों' का भी अनुवाद किया है। इस प्रकार छायावादी कवियों ने काव्य-भाषा की रुक्षता और गद्यात्मकता में नवीन भाव-प्रभाव की स्फूर्ति जगायी है। 'पन्त' और 'निराला' ने अपने 'पल्लव' के 'प्रवेश', 'गीतिका' की भूमिका और 'प्रबन्ध-प्रतिमा' के निबन्धों में भाषा की प्रकृति, भाषा-भाव-सम्बन्ध, शब्द-भाव-संगीत तथा भाषा-सम्बन्धी अपनी नवीन समस्याओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'पन्त' जी ने भाषा को भावानुरूप मोड़ देने के लिए उनका मनोवैज्ञानिक विवेचन तथा उनके पर्यायों के साहचर्य-जन्य परस्पर भेद-प्रभेद पर भी विचार किया है। 'लहर' और 'वायु' के पर्यायवाची शब्दों द्वारा उन्होंने अपने मन्तव्य को स्पष्ट किया है। अपनी 'प्रबंध-प्रतिमा' के पृ० २७० पर भाषा, और जातीय जीवन के साथ उसके सम्बंध को स्पष्ट करते हुए 'निराला' जी ने कहा है कि ब्रज भाषा में भाषा-जन्य जातीय जीवन था और इसलिए जब ब्रज भाषा के बाद खड़ी बोली का उत्थान हुआ, तो उसमें भी ब्रज भाषा के कुछ जीवन चिह्न का होना आवश्यक है। यहाँ उनका मतलब संस्कृत के तत्सम शब्द-रूपों के तद्भव-रूपों को ग्रहण करने से है। छायावादी कवियों ने 'निराला' जी के इस मत का उपयोग तो नहीं किया, पर उन्होंने तत्सम शब्द-रूपों को ग्रहण करते समय उन्हीं को स्वीकार किया जो माधुर्य, संगीत और उद्दिष्ट भाव-व्यंजना के अनुकूल पड़े। इसी से कहीं-कहीं 'बाण' की जगह 'बान', 'कण' की जगह 'कन' और 'किरण' की जगह 'किरन' के प्रयोग भी मिलते हैं, पर उन्होंने अधिकांशतः संस्कृत की शब्द-तत्समता का ही अनुसरण किया है। शास्त्रीय परंपरा में उन्होंने रीति-वृत्तियों का पालन नहीं किया है। 'कोमल भावों' के स्थल पर भी संयुक्त वर्ण और 'परुष' अक्षरों का प्रयोग कर दिया है। स्वयं 'निराला' जी ने 'पंत' जी के वर्ण-प्रयोग पर टिप्पणी की है। उन्होंने 'रीति' और 'वृत्ति' के अलग-अलग निर्वाह के स्थान पर एक ही कविता या पद में भावानुकूल 'कोमल' और 'परुष',

दोनों ही वर्णों का प्रयोग कर दिया है। 'पंत' की 'परिवर्त्तन' कविता और 'निराला' की 'अनामिका' की कविताओं, प्रगीत-मुक्तकों एवं मुक्त-छंदों में भली भाँति देखा जा सकता है। शब्दों द्वारा नाद-सृष्टि की प्रवृत्ति प्रारम्भ में बहुत दिखलाई पड़ती है। 'पंत' की 'परिवर्तन' कविता में 'वासुकि', 'हाथी' और 'मेघ' के रूपकों के स्थल पर नाद-व्यंजना का चरम-रूप दिखलाई पड़ता है। 'निराला' जी की 'जागो फिर एक बार', 'जुही की कली', 'राम की शक्ति पूजा' में नाद-सृष्टि की अनुपम छटा प्रदर्शित हुई है। 'प्रसाद' जी की 'लहर' की अन्तिम लम्बी कविताओं में भी यह नाद-प्रसृति अत्यंत मनोरम एवं मसृण पद-शय्या के साथ उपस्थित हुई है—

'नन्दन की शत-शत दिव्य कुन्तला
अप्सराएँ मानों वे सुगंध की पुतलियाँ
आ आकर चूम रहीं अरुण अधर मेरा.
जिसमें स्वयं ही मुसकान खिली पड़ती।
नूपुरों की झनकार घुली-मिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से।
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्त-व्यापी संध्या-संगीत को
कितनी मादकता थी ?
लेने लगी झपकी मैं
सुख रजनी की विश्रम्भ-कथा सुनती··· ·····' ('लहर')

'प्रसाद' जी की अभिव्यक्ति-चेतना की मौलिकता का परिचय उनकी व्रजभाषा की आरम्भिक रचनाओं से ही मिल जाता है। उन्होंने 'आँसू' पर जो कवित्त लिखे हैं, उनकी कल्पना-कोमलता, लाक्षणिक भंगिमा और मूर्तिमत्ता में एक ताजगी है, इन रचनाओं में किसी दृश्य-विशेष को अपने ढंग से कहने का प्रयास होता है। उपमा-उत्प्रेक्षाओं में एक नवीन विच्छित्ति और 'अप्रस्तुत'-विधान में निजी निरीक्षण का पुट मिलता है।

"आवै इठलात जलजात कैसों विन्दु कैधों,
कैधों खुली सीपी माँहि मुक्ता दरस है।
कढ़ी कंज-कोष तें कलोलिन के सीकर तें
प्रात-हिमकन तें न सीतल परस है॥
देखे दुख ऊनो, उपगत अति आनँद सौं
जान्यो नहिं जाय यहि कौन सौं हरस है।
तातो-तातो कढ़ि रूखे मन को हरित करै,
एरे मेरे आँसू ये पियूष तें सरस हैं॥"

'प्रसाद' की भाषा में उपचार-वक्रता (स्थूल साम्य से छोड़कर सूक्ष्म साम्य-विधान) का तत्व प्रारम्भ से ही पाया जाता है। निम्न पंक्तियों में कामना को नूपुर कहा गया है। भगवत्प्रार्थना में सांसारिक सुखों की कामना किस प्रकार बाधक बनती है और मन प्रार्थना से उच्चटकर कामना के स्वर्ण-जालों में उलझ जाता है, इसकी अभिव्यक्ति कितनी मार्मिकता के साथ 'कामना' को 'नूपुर' कहकर की गई है। कामना और नूपुर में रूपाकारादि कोई स्थूल साम्य नहीं, पर मधुर झंकार और कामना के आकर्षण का साम्य कितना सूक्ष्म और अनुभूति-मय है—

'जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
कर संकलित विचार।
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झनकार।' —('झरना')

'प्रसाद' जी ने अपने लेख 'यथार्थवाद और छायावाद' में स्वयं भाषा-सम्बन्धी इस समस्या की ओर संकेत किया है कि "आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था।" इस प्रकार आभ्यन्तर भावों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने नवीन शब्दों की भंगिमा का

प्रयोग किया। इस प्रकार छायावादी कवियों की दृष्टि वस्तु के बाह्य रूपाकार की अपेक्षा अपनी अनुभूति में आनेवाली सूक्ष्म व्यंजनाओं की ओर रही। इसके लिए उन लोगों ने वक्रताओं और 'लक्षणा'-'व्यंजना' पर आश्रित सूक्ष्म अभिव्यंजनाओं को मूलाधार बनाया। इससे एक ओर तो भाषा में चित्रात्मकता आई और दूसरी ओर सूक्ष्म अनुभूतियों की व्यंजना हुई। (चित्रात्मकता का आधार पंचज्ञानेन्द्रियों और तन्मात्राएँ हैं। कहीं नाद-व्यंजक शब्दों द्वारा वस्तु-दृश्य का स्वर-चित्र निर्मित करते हैं, कहीं 'उपचार-वक्रता' पर आधृत सूक्ष्म-साम्य-मूलक और प्रभाव-साम्याश्रित 'अप्रस्तुतों' द्वारा सूक्ष्म गुण-प्रभावों की तद्वत् अनुभूति कराने के लिए चाक्षुष, गंध-मूलक, स्पर्श-मूलक और स्वाद-मूलक चित्रों की सृष्टि करते दिखलाई पड़ते हैं। 'प्रसाद' जी ने इस आंतरिकता को बाह्य उपाधि से हटकर आंतर हेतु की ओर प्रेरित होना कहा। इसी कारण संस्कार न होने से, पहले पहल इन शब्दों की भंगिमा-व्यंजना को समझने में साधारण पाठकों को ही नहीं, पुराने संस्कारों के विद्वानों-आलोचकों को भी कठिनाइयाँ हुईं। हमारे पिछले साहित्य में अभिधेय और व्यंजक-शब्दों की ही प्रधानता रही। लाक्षणिकता का उतना अधिक उपयोग नहीं किया गया था। लक्षणाएँ एक ही प्रकार से प्रयुक्त होते-होते रूढ़ि-सी बन गई थीं। 'घनानंद' और 'ठाकुर' की लाक्षणिक अभिव्यक्तियाँ प्रयोग वैचित्र्य के रूप में ही गृहीत होकर जैसे वहीं रुक गईं—

'कवि 'ठाकुर' दोउन के उर तें उमड़्यो रँग ह्वै दोउ ठौंव पै री।
सखि कारी घटा बरसै बरसाने पै गोरी घटा नँदगाँव पै री॥'

(अपनी-अपनी अटाओं पर खड़े परस्पर देखते हुए कृष्ण और राधिका अनोखा रंग बरसा रहे हैं।) देखनेवाली सखी कह रही है कि देखो, बरसाने पर कृष्ण-छटा की काली घटा और नंदग्राम पर राधिका की गोरी छटा की घटा अनुराग की वर्षा कर रही है, दोनों ही भींग रहे हैं! लक्षणा के सहारे कितनी सुंदर भावाभिव्यक्ति हुई है और कितनी सचित्रता के

साथ !! किंतु ऐसी लाक्षणिक अभिव्यक्तियाँ छायावादी युग के पूर्व के साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति नहीं। सच कहा जाय, तो हमारे यहाँ सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में साहित्य-शास्त्र के विवेचन-उदाहरण की बात छोड़ दीजिए, सर्जनात्मक साहित्य में लक्षणाओं के सौंदर्य का बहुत ही कम प्रयोग हुआ है। छायावादी युग में इनका बड़ा ही सुंदर और प्रचुर मात्रा में उपयोग हुआ है। इसी से इस युग की भाषा सबसे अधिक लाक्षणिक है—

'ओ मेरे प्रेम विहँसते, जागो, मेरे मधुबन में'—('आँसू')

\+ + + +

'वह हँसी और यह आँसू, घुलने दे—मिल जाने दे;
बरसात नई होने दे, कलियों को खिल जाने दे।'—('वही')

यही नहीं मुँह ढककर पड़ी (गुप्त) पीड़ाएँ सुमन-सी खिल पड़ीं—

'हैं पड़ी हुई मुँह ढक कर मन की जितनी पीड़ाएँ,
वे हँसने लगीं सुमन-सी करती कोमल क्रीड़ाएँ।'—('वही')

'पन्त' जी की भाषा में लाक्षणिक वैचित्र्य सबसे अधिक मात्रा में पाया जाता है। उनके यहाँ 'विचारों में बच्चों की साँस' होती है और अधरों में 'उषा होती है।' 'वेदना के सुरीले हाथ' होते हैं! 'आँखों से उमड़कर चुपचाप कविता वही' होती है। 'निराला' 'गीतिका' में 'कल्पना के कानन की रानी' से 'मानस की कुसुमित वाणी' कहकर 'मृदुपद' आने की मनुहार करते हैं। महादेवीजी के पद भी 'अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्ण-वेला बाँध देने' का उत्साह रखते हैं। उनके प्राणों से पीड़ा सुरभित चन्दन-सी लिपटी रहती है। आँखों के आँसू उजले होते हैं और सबके सपनों में सत्य पलता है—

'दुखव्रती निर्माण-उन्मद
यह अमरता नापते पद
बाँध देंगे अङ्क-संसृति से तिमिर में स्वर्ण-बेला'

\+ + +

'प्रिय जिसने दुख पाला हो
जिन प्राणों से लिपटी हो पीड़ा सुरभित चन्दन-सी
तूफानों की छाया हो जिसको 'प्रिय' आलिंगन-सी
बर दो, मेरा यह आँसू
उसके उर की माला हो।'

\+ \+ \+ \+

'सब आँखों के आँसू उजले, सबके सपनों में सत्य पला।'

श्री सुभद्राकुमारी चौहान राष्ट्रीयता की उमंग में पाप से असहयोग करने का आदेश देती हैं—

'विजयिनी माँ के वीर-सुपुत्र, पाप से असहयोग लो ठान!'

अभिधावादी 'बच्चन' जी भी 'इस पार-उस पार' में कैसी लाक्षणिकता से काम ले रहे हैं—

'दृग देख जहाँ तक पाता है, तम का सागर लहराता है!
फिर भी उस पार खड़ा कोई हम सबको खींच बुलाता है!!
मैं जाऊँगा, तुम आओगे, कल परसों सब संगी-साथी,
दुनियाँ रोती-धोती रहती, जिसको जाना है, जाता है!
मेरा तो जी डगमग होता, लख तट पर के हिलकोरों को!
एकाकी जब मैं पहुँचूँगा, मझधार न जाने क्या होगा!'

छायावादी कवि अन्तः-प्रेरित और कल्पना-प्रवण हैं। उनके काव्य के अन्तरंग एव बहिरंग दोनों पर ही कल्पना का बड़ा प्रसार है। वे कल्पना के सहारे आंतरिक अनुभूतियों, संवेदनों, मानस-प्रत्यक्षों एवं भावनाओं का सन्तुलन, समन्वय, सामंजस्य द्वारा नव-विधान तो करते ही हैं भावों के सानुकूल छन्द, लय एवं शब्द-चयन में भी वे कल्पना से पर्याप्त रूप में प्रेरित हैं। स्वप्न एवं वैयक्तिक अनुभूतियों को प्रश्रय देते हुए भी उनकी कविता में सामाजिक अर्थों एवं साहचर्यों का ध्यान रखा गया है। इसीसे इन कवियों की भाषा में असम्बद्ध एवं असामाजिक अनुबन्धों (अशोशिएशन्स) की

शरण नहीं ली गई है। उनकी भाषा में अलंकार प्रतीकादि नवीन भले ही हों, पर वे सामाजिक अनुबंध एवं पारंपरिक चेतना के अनुकूल होने के कारण असामाजिक और रुचि-विघातक नहीं। उन्होंने विषय-वस्तु के नवीन क्षेत्रों की खोज की और उनके नवीन और अछूते पहलुओं को प्रकाशित किया, किन्तु उन्होंने विषय-वस्तु के बारे में ऐसी व्याख्याएँ या उद्भावनाएँ नहीं कीं, जो समाज की मान्य सांस्कृतिक रुचि के सर्वथा प्रतिकूल हों। इसलिए छायावादी कवियों ने जब संस्कृत के नवीन और स्वल्प-प्रयुक्त शब्दों को खोजा-चुना तो उसी सौंदर्य-चेतना को मूल मानकर जो अब तक उनकी दृष्टि में अपेक्षाकृत स्थूल, कायिक और वस्तुवादी भले ही रही हो, पर विजातीय नहीं रही। इसी से हमें 'प्रसाद' में कालिदासीय उज्ज्वल शृङ्गार-दृष्टि और भवभूति-सी अनुभूति-सान्द्रता भी मिल जाती है, 'निराला' में भारवि-सा अर्थ-गौरव और 'पन्त' में जयदेव-सा भाषा-मार्दव। इन कवियों की मर्मस्पर्शी कल्पना-दृष्टि ने वस्तुओं के अन्तर को छूकर, उनसे प्रेरित मानस-प्रत्यक्षों के अन्तः-संगीत की लय में ही, उनके शब्द-चित्रांकन का प्रयास किया है। इन कवियों के शब्दों में रूप, गुण एवं ध्वनि को सचित्र कर देने की प्रवृत्ति ने ही, इन्हें 'अप्रस्तुत'-विधान, रूप-योजना चित्र-सृष्टि एवं विच्छित्ति-प्रकाश की ओर प्रवहमान किया है। 'प्रसाद' के 'श्रद्धा'-रूप-वर्णन में आकार एवं गुणों की सचित्रता छायावादी भाषा-शैली का उच्च-विंदु है! 'अप्रस्तुतों' का चयन और गुणों की व्यंजना उनकी कल्पना के दिग्विजय का प्रतीक है—

'नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग॥'

\+ \+ \+ \+

'उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी-सी भींगी भर मोद।
मद-भरी जैसे उठे सलज्ज,
भोर की तारक-द्युति की गोद ॥'

उपमानों की अभिनवता और सौंदर्य की सूक्ष्म चेतना के उदाहरण-स्वरूप निम्न-पंक्तियाँ पढ़ी जा सकती हैं—

'माधवी निशा की अलसाई,
अलकों में लुकते तारा-सी;
क्या हो सूने मरु अञ्चल में
अन्तः-सलिला की धारा-सी।
+ + + +
उठती है किरनों के ऊपर
कोमल किसलय की छाजन-सी,
स्वर का मधु निस्वर रन्ध्रों में
जैसे कुछ दूर बजे बंसी।'

'निराला' जी ने वीणा-वादिनि से नव-स्वर और नव-छंद के साथ नवीन लय की भी माँग की थी, न केवल अपने लिए वरन् नवीन कविता के कंठ मात्र के लिए—

'नव गति, नव लय, ताल छन्द नव,
नवल कंठ नव जलद मन्द्र रव
नव नभ के नव-बिहग-वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे'

'पंत' और महादेवी ने खड़ी बोली के काव्य-कलेवर को व्यंजना की कांति से समुज्ज्वल किया है। 'नौका-विहार' कविता में कविवर 'पंत' द्वारा प्रस्तुत 'तन्वंगी, ग्रीष्म-विरल गंगा का शब्द-चित्र अपनी रूपकता के लिये दर्शनीय है—

'शान्त, स्निग्ध ज्योत्स्ना उज्ज्वल।
अपलक अनन्त, नीरव भूतल।
सैकत शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रान्त, क्लान्त, निश्चल।'

काँपती-थरथराती नौका का स्पन्दन भी निम्न शब्दों में अनुभाव्य है—
'मृदु मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर, लघु तरणि हंसिनी-सी सुंदर,
तिर रही खोल पालों के पर'

कविवर 'निराला' की 'बादल राग' और 'राम की शक्ति-पूजा' जैसी कविताएँ नाद-व्यंजना की अनुपम निधि हैं—

'झूम झूम मृदु गरज गरज घनघोर।
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर।
झर-झर-झर निर्झर गिरि सर में,
घर मरु तरु मर्मर, सागर में,
सरित्, तड़ित गति चकित पवन में,
आनन आनन में रव घोर कठोर,
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।' ('परिमल' से)

(राम की शक्ति-पूजा' में हनूमान-प्रेरित वायु का प्रलय-चित्र 'दृश्य' और 'श्राव्य' दोनों ही है—

'शत घूर्णावर्त, तरंग-भंग उठते पहाड़,
जल राशि-राशि जल पर चढ़ता, खाता पछाड़।
तोड़ता बंध प्रति सन्ध धरा, हो स्फीत-वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रति पल समर्थ बढ़ता समक्ष।')

(प्रशांत घनी-काली रजनी में बिजली की चमक सहसा रात की निद्रा में चौंक उठने से कितना साम्य रखती है। बिजली की चमक को स्वर्ण-कंकण कहना कितना चित्र-विधायक एवं व्यंजना-पूर्ण है)

'चौंकी निद्रित
रजनी अलसित,
श्यामल पुलकित कम्पित कर में दमक उठे विद्युत् के कंकण,
लाये कौन सँदेश-नये घन !'—('महादेवी')

नवीन और कोमल-मसृण प्रतीकों तथा अप्रस्तुतों से महादेवीजी की कविता-मंजूषा 'छवि-गृह-दीप-शिखा' की भाँति जगमगा उठी है। उनके शब्दों पर उनकी अनुभूति का पानी और भी छटा लाता है। पीड़ा को भी इतनी सुंदर एवं मधुर बना देने की शक्ति मीरा के बाद महादेवी जी में ही दिखलाई पड़ी। अंतर यही है कि मीरा में अपनी लगन का उन्माद है अतः भाषा के झीने आवरण में वह स्पष्ट पछाड़ खाती दिखलाई पड़ती है, किंतु महादेवी में वह संयम से मार्जित है अतः भाषा का कलात्मक पर उसे बाँधे चलता है। दोनों की उक्तियों और भाव-प्रकाशन में दोनों के युग-परिवेश का प्रभाव स्पष्ट है। समाज में स्त्री के प्रति परिवर्तित धारणा भी इसके लिए उत्तरदायी होगा। इसी से महादेवी जी की वाणी में अधिक संयम, दुराव तथा सजगता है, क्योंकि मीरा अपने मोहन के दर-दर की भिखारिन हैं और महादेवी अपने प्रियतम की एकस्थ पुजारिनी। भाषा में महादेवीजी की वर्ण-योजना नितांत रमणीय और आकर्षक होती है 'नील', 'पाटल', 'रजत' और 'स्वर्ण' उनकी कल्पना-दृष्टि के अभिप्रेय हैं।

'पन्त' ने स्वर और व्यंजन-वर्णों का विवेचन करते हुए कहा कि स्वर ही काव्य-संगीत के मूल तन्तु हैं। उन्हीं पर भावना का स्वरूप निर्भर करता है। नाद-व्यंजना को छोड़कर जिसमें व्यंजनों का प्राधान्य होता है, स्वर ही भावनाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। अपनी 'बादल' कविता के उद्धरण से उन्होंने भावनाभिव्यक्ति में स्वरों के योग को स्पष्ट करते हुए कहा कि 'इन्द्र धनु सा आशा का छोर' में 'सा', 'आ', 'शा', 'का' में 'आ' का स्वर आशा का फैलाव व्यक्त करता है और 'दल-बल जुत घुस वातुल चोर' में लघु व्यंजन-वर्ण चोर के घुस आने और उड़ा ले जाने का

व्यापार व्यंजित होता है। इस प्रकार 'पन्त' जी ने शब्द-संगीत के साथ वर्ण-संगीत की भी परख की। छायावादी कवियों ने 'विशेषो गुणात्मा' और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के साम्प्रदायिक अर्थ में 'रीति' को कभी भी ग्रहण नहीं किया, फिर भी भावानुसार वर्ण-योजना की छटा मिल ही जाती है। 'गीतिका' में 'निराला' ने नाद-सौंदर्य का सजग प्रयत्न किया है। आभरणों की झंकृति कितनी श्राव्य है—

'क्रण-क्रण कर कंकण, प्रिय
किण-किण रव किंकिणी,
रणन-रणन नूपुर उर-लाज,
लौट रंकिणी;
और मुखर पायल स्वर करे बार-बार !'

'मेरे गीत और कला' नामक निबंध में श्री 'निराला' जी ने 'श, ण, व, ल' को श्रुति-कटु घोषित किया है और 'पन्त' जी पर भी इसका आरोप किया है। तत्सम संस्कृत-शब्दों के प्रयोग-बाहुल्य के कारण 'रीति'-'वृत्ति'-'गुण'-पद्धति का शास्त्रानुकूल पालन इस युग का कोई भी कवि नहीं करता, फिर भी उनमें एक स्वच्छन्द संगीत है जो पुराचीनता और रूढ़ि का विरोधी है।

शब्द-प्रयोग में जहाँ इन कवियों ने शब्दों की ध्वनि और उनके भाव-परिवेश का अनुशीलन-परिशीलन किया है, वहाँ कभी-कभी शब्द-प्रदर्शन की वृत्ति से भी बह गये हैं। 'निराला' जी ने नारी के सामान्य 'सुंदरी'-अर्थ में 'तन्वी' का प्रयोग कर दिया है ('गीतिका' में)। 'पन्त' जी ने 'सूत्र-धार' की जगह 'सूत्राधार' शब्द प्रयुक्त किया है। 'हरा' की जगह 'हरियाला', 'लहर' से 'लहरीला, 'किरण' से 'किरणीला' और 'अग्नि' से 'अग्नीला' जैसे प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं। 'पन्त' जी की स्वच्छन्दता का बाद के कवियों ने अनुचित लाभ भी उठाया है। इससे जहाँ नये-नये शब्द और नवीन अभिव्यक्ति-भंगिमा के द्वार खुले, वहाँ भाषा का प्रतिमान

भी बिगड़ा और नवीन युवक कवियों में लिंग-वचन के साधारण दोष साहस के साथ सामने आने लगे। पर आगे चलकर यह प्रवृत्ति परिमार्जित भी हुई और श्रीशम्भूनाथ सिंह, 'भारती' आदि में ये भूलें बहुत सुधर गयीं। इन कवियों ने हिन्दी के नियम पर संज्ञाएँ और विशेषण बनाने की प्रवृत्ति को संश्रय देते हुए संस्कृत के प्रत्ययों से असिद्ध शब्द-रचना की प्रवृत्ति को निरुत्साहित किया। नये कवियों में गिरधर गोपाल ने उर्दू और संस्कृत के शब्दों से ऐसे लचीले विशेषण अधिक बनाये हैं। उनकी 'अग्निमा' की कविताओं में यह लोच प्रायः मिल जायगा। इसी प्रकार छायावादी काव्य में कुछ ऐसे भी विशेषण बहुत प्रयुक्त हुए हैं, जिन्होंने पहले तो नवीनता के नाते आकर्षण और ताज़गी का संदेश अवश्य दिया पर बाद में अति-प्रयोग एवं निरुद्देश्यता के कारण अर्थ-हीन और पद-पूरक मात्र बन गये। चिर, मधुर, रजत, स्वर्ण, नव, रे मन्दिर, अज्ञान, तार, वीन, झंकार, अनन्त, असीम, आकुल आदि ऐसे ही शब्द हैं। नादात्मक दृष्टि से इन कवियों को शब्द-चयन में अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। पर जहाँ 'तम' के साथ 'तुमुल' (पन्त) और 'तमस्तूर्य' (निराला) जैसे प्रयोग होने लगे, वहाँ 'शब्दार्थ'-मर्यादा की अवश्य ही उपेक्षा हुई है। पर जहाँ इन कवियों ने संस्थित होकर अर्थ और संगीत का एकात्म दर्शन किया है, वहाँ एक 'सुप्रयुक्त' शब्द 'काम-धुक्' बन गया है। 'बादल' कविता में 'कुमुद-कला' को 'दमयन्ती-सा' कहना कितना व्यंजक है! इसी प्रकार 'सालस' की लय में 'पन्त' जी का 'लालस' शब्द बड़ा ही उपयुक्त बन गया है। 'लालसा-भरे' के स्थान पर 'लालस' का प्रयोग अधिक कला-मय एवं काव्योपयुक्त है। संज्ञाओं के साथ विशेषण दे देना इस युग की सामान्य प्रवृत्ति है, एक वाक्य की बात को एक शब्द में कस देने की कला भी। चकित पुकार, करुणार्द्र कथा, हिम अधर, आलोक-मधुर शोभा, शोभन रूप, मधुर मरोर, सजग पीर, अलस हास, तरल गान, दीवानी चोट, शिथिल समीर, कनक प्रभात, स्वर्ण विहान आदि युग्म इस युग के काव्य में

वरितः विकीर्ण मिलेंगे। कभी-कभी तो सारी बात विशेषणों में ही कह दी जाती है—

"प्रिय गया है लौट रात!
सजल धवल अलस चरण
मूक मदिर मधुर करुण
चाँदनी है अश्रु-स्नात!" —महादेवी

+ + +

'रात-सी नीरव व्यथा, तम-सी अगम मेरी कहानी।'

'प्रसाद' और महादेवी के विशेषण अनुभूति-मय, 'निराला' के चिन्तनमय और 'पंत' के वैचित्र्य एवं विरोध-प्रेरित होते हैं। नवीन कवियों में श्री शम्भूनाथ की कविताओं में विशेषण अधिक नहीं प्रयुक्त होते; जो होते हैं वे अधिकांशतः क्रियाधारित होते हैं—यथा, 'बाहें वरदानी'। श्री 'भारती' जी के विशेषण अधिकांशत! रंग-रूप पर आधृत होते हैं। विजयदेव नारायण शाही के विशेषण वर्ण से अधिक सम्बंधित हैं, क्योंकि उनमें चाक्षुष एवं श्राव्य तत्व प्रधान है। चाक्षुषता 'भारती' जी में भी प्रमुख है। सर्वश्री शम्भूनाथ सिंह, 'विश्व' एवं गिरधरगोपाल में चक्षु एवं श्रवण की अपेक्षा स्वाद, गंध एवं स्पर्श तत्वों की प्रधानता है। इनकी इन रुचियों का प्रभाव उनके विशेषण-प्रयोगों पर भी पड़ा है। मेरी समझ से विशेषणों का अधिक प्रयोग उन्हीं कवियों की भाषा में मिलेगा, जो दृश्य की प्रभाव-प्रतिक्रिया में भी अपना चिन्तन सजग रखते हैं। जो अनुभूतियों में जितना ही घुल जाते हैं, उतना ही विशेषणों के स्थान पर वे संज्ञाओं और विशेषकर भाव-वाचक संज्ञाओं का प्रयोग कर जाते हैं। 'ललाई' की चेतना हमें पहले होती है और 'वस्तु के लाल' होने की चेतना बाद को, क्योंकि रंग की चेतना के पश्चात् वस्तु की चेतना होती है और तब उस वस्तु को रंग के साथ सम्बद्ध कर हम उसे 'लाल' कहते हैं। यही क्रम कविता में अभिव्यक्ति पर भी लागू होता है। अनुभूति एवं संवेग से

आच्छन्न क्षणों में हम संज्ञाओं में सीधे कह जाना अधिक सहज पाते हैं। विशेषणों में अपनी बात कहने के लिए कुछ तटस्थ चिन्तन का अवकाश चाहिए। छायावादी कवियों में 'पंत' जी अपेक्षाकृत अधिक बाह्य-चेता हैं, अतः उनमें विशेषणों का बाहुल्य है। मीरा की पीड़ा एकदम वैयक्तिक और अन्तर्मुखी है, अतः उसमें विशेषणों का प्रयोग बहुत ही न्यून मिलेगा। महादेवी अपनी पीड़ा के अन्तर्लोक में ही सीमित न रह बाह्य सृष्टि में भी उसका छोर ढूँढ़ती हैं, अतः उनमें मीरा से कहीं अधिक विशेषणों का प्रयोग है। यों भी उनकी अनुभूति चिन्तन-पुष्ट होती है।

ये कवि जहाँ एक ओर भाषा के क्षेत्र में संस्कृत की तत्समता का आलिंगन करते हैं, वहाँ दूसरी ओर ग्राम-बोलियों एवं स्थानीय प्रयोगों की ओर भी उतरे हैं। 'लुकना' (छिपना), मटकाना, आस पूजना, ओद (आर्द्र), हौले-हौले, मावस, रैन, चहुँओर, रार, हुलास, ढिग आदि शब्द इसके प्रमाण हैं।

तत्समता में 'निराला' जी सबसे आगे हैं। संस्कृत के साथ-साथ अरबी-फ़ारसी के तत्सम शब्दों को भी उन्होंने अपनाया है। 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसी दास' में उनकी भाषा का क्लिष्टतम रूप सामने आता है संस्कृत के छन्दों-सा सुदीर्घ समस्त पद साधारण पाठकों का छक्का छुड़ा देते हैं—

'विच्छुरित वह्नि राजीव-नयन-हत-लक्ष्यबाण,
लोहित-लोचन-रावण-मद-मोचन महीयान।'

'अस्तमित' के साथ 'शीतलच्छाय' विशेषण संस्कृत-श्लोक का शुद्ध टुकड़ा मालूम पड़ता है। 'निराला' जी की बाद की कविताओं में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का धड़ल्ले-से प्रयोग हुआ है, जो अधिकांशतः व्यंग्य-विद्रूप से प्रेरित हैं—

"चूँकि यहाँ दाना है
इसी लिए दीन है दीवाना है।

लोग हैं, महफ़िल है,
नग़मे हैं, साज़ है, दिलदार है और दिल है
शम्मा है, परवाना है,
चूँ कि यहाँ दाना है।" —('अणिमा')

छायावाद के 'द्वितीय चरण' से ही उदू का प्रयोग कुछ आने लगता है और 'निराला' जी ने ही प्रतिक्रिया में दूसरा छोर भी छू लिया। 'बच्चन' जी ने भाषा के क्षेत्र में छायावादी काव्य को जनता के निकट लाने में एक ऐतिहासिक काम किया है। श्री भगवतीचरण वर्मा ने भी भाषा-सारल्य और सुबोधता का ध्यान रखा है। जवानी, अरमान, ख़ामोशी, बेहोशी, हैरान, शैतान, दर्द, इन्सान, चिराग़, ज़मीन, आसमाँ, जहान, ज़बान, दिल, दिमाग़ जैसे नित्यप्रति के व्यवहार में आने वाले उदू के शब्दों को तो 'बच्चन' जी ने ही प्रचलन दे दिया था। 'तृतीय चरण' में आकर प्रतिक्रिया की वृत्ति स्वस्थ होने लगी है और अब संस्कृत के विरोध या नवीनता के लिए नहीं भावानुरोध और स्वाभाविकता के नाते बोल-चाल के शब्दों का सुन्दर प्रयोग होने लगा है। मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी आने लगी हैं। श्रीशम्भूनाथ सिंह ने भी अरमान, जवानी, निशानी, बेसुधी, शमादान आदि के साथ कसमस, माथे पर, शाम, साँझ, गुज़र जाना—आदि प्रयोग किये हैं। श्री 'भारती' तो उदू के संज्ञा-विशेषणों के और उनसे हिन्दी के ढंग पर नये शब्द गढ़ने में बड़े ही सफल शिल्पी हैं। फिरोज़ी ओठ, शबनमी निगाहें, मासूम नज़र, बच्चों की ज़िद-जैसे प्रयोग उनकी भाषा-शैली की विशेषता हैं। उदू की मीठी चाशनी की मधुर पुट से भाषा में एक निराला बाँकपन, अछूती भंगिमा और क्वारी उक्तियों की हसीन मासूमियत लाने में 'भारती' आज के कवियों में अपना सानी नहीं रखते। विशेषतः जब उनका कुमार कवि किसी भोले, 'कच्ची किरनों से कोमल' और 'पान-फूल-से मधुर बदन' वाले मासूम से अपनी कल्पना की रंगीन कुंजों में कुछ छेड़-छाड़ करने और आँख-मिचौनी खेलने लगता

है, तो उनकी भाषा की चुहल देखने लायक-होती है। 'अपनी होली की रात' कविता में 'प्रसाद' जी ने धुली हुई चाँदनी की स्निग्धता में तितली के पंखों के विछलने की अनुभूति की थी—

'चाँदनी धुली हुई है आज
विछलते हैं तितली के पंख।
सम्हलकर, मिलकर बजते साज
मधुर उठती है तान असंख्य ॥'—('झरना')

'कविता की शाहजादी' को जो 'अपार्थिव कल्पनाओं, टेढ़े-मेढ़े शब्द-बालों, अस्पष्ट रूपकों और उलझे हुए जीवन-दर्शन की शिलाओं से बँधी उदास जल-परी की तरह कैद' थी, छुड़ाने के लिए 'आदम के सन्तानों के बीच से उटी' 'भारती' की वाणी गा उठती है—

'इन फीरोजी ओठों पर बरबाद मेरी जिन्दगी !
गुलाबी पाँखुरी पर एक हलकी सुरमई आभा
कि ज्यों करवट बदल लेती कभी बरसात की दुपहर !
इन फीरोजी ओठों पर।

—('दूसरा सप्तक', पृ० १८४, 'गुनाह का गीत')

ग्राम-बोलियों का 'र' प्रायः खड़ी बोली में 'ल' बन गया है, यथा-बार (बाल), सुनहरी (सुनहली), रुपहरी (रुपहली) आदि। इधर फिर ग्राम-बोलियों की सहज लय में फिर 'सुनहली' और 'दोपहरी' की जगह 'सुनहरी' और 'दुपहरी' का प्रयोग प्रियतर लगने लगा है—

'ज्योति दिन की खो गई है,
रात दिन भर रो गई है,
नील नभ के श्वेत गिरि के शीश पर रेखा सुनहरी !
मुग्ध सावन की दुपहरी !!'

—('प्रवाह', अगस्त १९५२, पृ० १—'शान्ति' एम० ए०)

भावों की पुरवाई में झुरझुराती श्री 'शाही' जी की भावुकता-सनी

भाषा की खुमारी भी कितनी ताजी है—

'लहरा रहा है मुझ पर किस जिन्दगी का आँचल;
जो उठ रहे दृगों में छवि के हजार बादल!!
कुछ इस तरह डुबा दो कि न फिर मिटे खुमारी!
चलता चलूँ जहाँ तक बजती रहे ये पायल!!'

(श्री विजयदेव नारायण शाही—'धूप का सागर')

तनिक हिन्दी के नये गजल-नवीस श्री नर्मदेश्वर उपाध्याय का शिकवा भी सुनिए—

'सूने घर में दिया जलाकर तुमने बुरा किया!'

भाषा की दृष्टि से अगर छायावादी काव्य-शैली पर विचार करें तो वह तीन प्रमुख रूपों में सामने प्रस्तुत होती है—(१) अप्रस्तुत—प्रधान एवं व्यंजनात्मक (२) परिसाधित एवं विलम्बित (३) सरल-सहज व्यंजनात्मक अप्रस्तुत-प्रधान शैली में प्रतीकात्मक प्रयोग, लाक्षणिक वक्रता, चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता आदि का पूर्ण उपयोग होता है। 'प्रसाद' जी ने अपने निबंध 'यथार्थवाद और छायावाद' में जिसे 'अभिव्यक्ति की भंगिमा' कहते हुए 'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्य-मय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता' में अन्तर्भूत किया है, वह अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली कान्तिमयी अभिव्यक्ति-छाया यही संकेतार्थ ही है। छायावाद की इसी विशिष्टता के कारण इसे छाया की भाँति अस्पष्ट और टेढ़े नाक पकड़ने की पद्धति कहकर अवमानित किया गया। सच्ची बात तो यह है कि जीवन की आन्तरिकता और अनुभूतियों की गूढ़ मार्मिकता को उसके अभिराम अवगुण्ठन में ही झलकाने की प्रवृत्ति समस्त छायावादी कवियों की सामान्य विशेषता है। इसी के परिणाम स्वरूप नवीन और मौलिक अप्रस्तुतों का सुन्दर संचयन हुआ और भाषा में एक विचित्र तड़प के साथ साथ सूक्ष्मानुभूतियों को अभिव्यंजित करने के ललित मार्ग का द्वार उन्मुक्त हो गया। कालानुक्रम

से प्राप्त प्रतीकों के अतिरिक्त नवीन प्रतीकों का विधान किया गया रूप और गुण-साम्य के आगे प्रभाव-साम्य को प्राधान्य मिला। इन कवियों के आगे ऐसे स्थलों पर वस्तु विधान प्रधान न होकर उसकी मानसिक प्रतिक्रिया ही प्रधान होती है, इसी से वस्तु के रूपाकार और गुण की चेतना न जगाकर उन्होंने उनके द्वारा जगाई अनुभूति के पुनरानयन को ही अपना लक्ष्य बनाया। इसके लिए 'प्रसाद' जी के शब्दों में कुन्तक के 'अतिक्रान्त प्रसिद्ध व्यवहार-सरणि' के अवलम्बन से उन्हें कोई झिझक न हुई। 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' के श्रद्धा-रूप-वर्णन के स्थल पर नवीन और प्रभाव-साम्य-मूलक अप्रस्तुतों की छटा कितनी मनोमोहक है—

'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया, उन्मुक्त।
मधु-पवन-क्रीडित ज्यों शिशु साल,
सुशोभित हों सौरभ संयुक्त'

\+ + +

'उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी से भींगी भर मोद।
मद-भरी जैसे उठे सलज्ज,
भोर की तारक-द्युति की गोद ॥'

जहाँ अप्रस्तुत पूर्व-परिचित एवं परंपरागत भी है, वहाँ इन कवियों ने विशेषण-वक्रता एवं अभिनव शब्द-सान्निध्य के द्वारा उसे नवीन अनुभूतियों से उज्ज्वल बना दिया है। 'मनु' ने श्रद्धा को देखकर पूछा—

"कौन हो तुम वसन्त के दूत,
विरस पतझड़ में अति सुकुमार।
घन तिमिर में चपला की रेख,
तपन में शीतल मन्द बयार॥

नखत की आशा-किरण समान,
हृदय के कोमल कपि की कान्त-
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस-हलचल शान्त ।।"

यहाँ वसन्त, चपला, नखत आदि परंपरागत उपमान ही हैं, पर 'दूत, रेख, आशा-किरण' आदि शब्दों के साहचर्य द्वारा उनके बासीपन को दूर कर उनके प्रभाव में एक ताजगी ला दी गई है। इन कवियों ने विशेषणों एवं अन्य संज्ञा-शब्दों के द्वारा पुराने अप्रस्तुतों के चारों ओर एक नवीन व्यंजना का परिवेश खड़ा कर दिया है। उषा और प्रात के अप्रस्तुत चाहे उतने नवीन न हों, पर 'व्यथा के तिमिर-वन' और कुसुम-विकसित' जैसे पद-प्रयोगों से अनुभूति का एक नव्य वातावरण उपस्थित हो जाता है—

'चिर-विषाद-विलीन मन की, इस व्यथा के तिमिर वन की
मैं उषा-सी ज्योति-रेखा, कुसुम-विकसित प्रात रे मन!'
('कामायनी')

महादेवी जी के इस विराट चित्र में 'अप्रस्तुतों' का चयन-कौशल देखिए—

'अवनि अम्बर की रुपहली सीप में,
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता— (—'रश्मि')

'सूक्ष्म' के लिए 'स्थूल' और 'स्थूल' के लिए 'सूक्ष्म' अप्रस्तुतों का विधान 'धर्म' के लिए 'धर्मी' और 'धर्मी' के लिए 'धर्म', 'अंग' के लिए 'अंगी' और 'अंगी' के लिए 'अंग', 'आधेय' के लिए 'आधार' और 'आधार' के लिए 'आधेय' आदि के लाक्षणिक प्रयोग इसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। रहस्यवादी काव्य-धारा में यह सांकेतिकता बहुत बढ़ जाती है और मात्र प्रतीक ही सामने होते हैं, जो रूपकातिशयोक्ति के रूप में पुरानी परिपाटी के लोगों को घबरा देते हैं—

'बाँधा था शशि को किसने
इन काली जंजीरों से।
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से !!" —('आँसू')

(परिसाधित एवं विलम्बित शैली में एक ही भाव-विचार को कई-कई पंक्तियों में शृंखलावत् फैलाते चलते हैं और जहाँ एक भाव-विचार समाप्त हुआ जंजीर की कड़ी की भाँति दूसरा प्रारम्भ हो जाता है। 'प्रसाद' जी के 'लहर'-संग्रह की अन्तिम प्रबंध-कविताएँ, 'निराला' जी के मुक्त-वृत्त, 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज-स्मृति' आदि कविताएँ, 'पन्त' जी की 'परिवर्तन' और 'स्वर्ण-धूलि' तथा 'स्वर्ण-किरण' की लम्बी नवीन रहस्यवादी रचनाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। 'कामायनी' में मनोभावों के विवृत वर्णनों में 'प्रसाद' जी ने भी इसका उपयोग किया है। श्री सोहन-लाल जी द्विवेदी की 'वासवदत्ता' और 'किसान'-जैसी कविताएँ भी इसी कोटि में आवेंगी। यह शैली अत्यन्त सुकोमल और सजग रीति से सजी पदावलियों से जटित और अलंकृत होती है। छायावादी कविताओं का भाषा-वैभव इन्हीं पद-वल्लरियों में देखा जाता है। ऐसे स्थलों पर विशेषण-युग्मों की छटा दर्शनीय होती है। भाषा अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत-प्रधान, समास-युक्त, सुदीर्घ पदावलियों वाली हो जाती है। इस शैली में 'निराला' जी की दो प्रकार की रचनाएँ आती हैं। एक तो 'जागो फिर एक', 'जुही की कली' और 'शेफाली'-जैसी रचनाएँ हैं, जिसमें मधुर एवं कोमल-कान्त पदावलियों की स्निग्ध-मसृण पद-शैय्या बड़ी ही मोहक होती है। नाद एवं संगीत की अपूर्व छटा दिखाई पड़ती है। दूसरे प्रकार की वे क्लिष्ट, अति तत्सम-प्रधान एवं संयुक्ताक्षर-बहुल रचनाएँ हैं 'जो कौन तम के पार रे कहे' और 'राम की शक्ति पूजा' में जाकर अपनी चूड़ा का स्पर्श करने लगी हैं—

"आज का तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर, वेग-प्रखर,
शत शेल सम्वरणशील, नील नभ-गर्ज्जित-स्वर

प्रतिपल परिवर्तित-व्यूह-भेद-कौशल-समूह—
राक्षस-विरुद्ध प्रत्यूह, क्रुद्ध कपि विषम हूह ॥"
—('राम की शक्ति-पूजा')

× × ×

"कौन तम के पार (रे कह)
अखिल-पल के स्रोत; जल जग
गगन घन-धन-धार (रे कह)
गंध-व्याकुल कूल उर-सर,
लहर-कच भर कमल-मुख पर,
हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर सर
गूँज बारंबार ! (रे कह)

सरल-सहज शैली अत्यन्त सरल एवं अभिधा-प्रधान होती है। इसमें न तो भाषा-वैभव का मोह होता है और न तत्समता की प्रतिक्रिया। इसमें बोलचाल के प्रभावक अर्थ-परिवेश वाले उर्दू के शब्द भी ग्रहण किये जाते हैं। लोकोक्ति और मुहावरों का भी चुटीला प्रयोग होता है। छायावाद के परवर्ती कवियों ने ऐसी भाषा को अपनाया है। यह भाषा जनता के अधिक निकट होती है। सर्वश्री 'बच्चन' और 'नेपाली' इस शैली के लोकप्रिय कवि हैं। 'नये पत्ते' और 'बेला' में आकर 'निराला' जी ने भी इसी को अपनाया। उनकी आज की कविताओं में यही शैली प्रौढ़ रूप में आ रही है। 'बाँधो न नाव इस ठाँव वन्धु, पूछेगा सारा गाँव वन्धु'-जैसी रचनाएँ अपनी सादगी के लिए भी अधिक प्रभाव-पूर्ण और चुटीली बन गई हैं। जहाँ-जहाँ 'निराला' ने व्यंग्य का सहारा लिया है, इसी शैली की श्री बिखरी हुई है।

छायावादी युग की भाषा साधारणतः जन-भाषा से दूर एक शिष्ट-साहित्यिक भाषा रही है। उसके कवियों में जन-मोहन-कला की अपेक्षा कलाकार की चेतना अधिक प्रबुद्ध है। वे पाठकों के पास उतरने के स्थान

पर पाठकों से ही अपने पास आने की आशा करते हैं। इसी से छाया-युग की भाषा-भंगिमा और अभिव्यक्ति-साधना का वास्तविक रस सब नहीं ले पाते, उसके लिए संस्कार, सुरुचि एवं कला-चेतना जिस पाठक में जितनी ही अधिक जागरूक होगी, वह उतना ही प्रसन्न हो सकेगा। संस्कृत पदावलियों के पुनरुद्धार के कारण पाठकों का संस्कृत के तत्सम शब्दों का भांडार भी विकसित और सम्पन्न होना चाहिए। यही नहीं जो अंगरेजी भाषा और उसकी अभिव्यंजनाओं (लाक्षणिकता) से विशेष परिचित नहीं हैं, उन्हें भी कितने ही स्थलों पर मर्म-ग्रहण में कठिनाई होगी। अंगरेजी के कितने ही मुहावरे, पद, उक्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ अविकल रूप में अनूदित कर दी गई हैं—स्वर्ण-विहान, स्वर्ण-युग, जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ होना, जीवन के कंचन पृष्ठ पलटना, रजत रात, स्वप्निल मुसकान, स्वर्ण केश, जीवन-प्रभात, जीवन-संध्या, मेरे प्यार, ओ सौन्दर्य, प्रकाश डालना, जीवन में चौदह वसन्त देखना आदि प्रयोग इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। इसी प्रकार 'पीड़ा रूपी आग' न कहकर 'पीड़ा की आग' कहने की 'व्यस्त-रूपक' शैली भी अंगरेजी से ही प्रेरित है। हिन्दी के इस युग में आयी लाक्षणिकता ने अंगरेजी भाषा की इस विशिष्ट प्रवृत्ति से पर्याप्त बल लिया है। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति के उपकरणों अथवा निष्प्राण पदार्थों और सूक्ष्म भावों को चेतन-रूप प्रदान कर देने वाली 'मानवीकरण' अलंकार की पद्धति, 'धर्म' या 'अंग' पर लगे विशेषणों को 'धर्मी' या 'अंगी' पर लगाकर अर्थ देने वाली 'विशेषण-विपर्यय'—अलंकार की शैली और नाद-विशेष की सृष्टि करने वाली विशिष्ट पदावली के प्रयोग से ही अर्थ की व्यंजना करानेवाली 'नादार्थ-व्यंजना'—अलंकार की अभिव्यक्ति—रीति, अंगरेजी के 'परसनी-फिकेशन', 'ट्रांस्फर्ड एपीथेन्ट' एवं 'ऑनोमोटो पोइया' से ही प्रेरित हुई हैं।

छायावादी काव्य-धारा की भाषा में लिंग-वचन-लोकोक्ति-सम्बन्धी उच्छृंखलताएँ, नवीनता के मोह में असिद्ध शब्दों की रचना, 'क्लिष्टता',

'अपुष्टत्व' एवं 'दूरान्वय-विषयक दोष भी आ गये हैं। 'निराला' और 'पन्त' तक में विभक्तियों तक के दोष दिखलाई पड़ जाते हैं, पर इन सबके बावजूद भी 'छायावाद' हिन्दी-खड़ी बोली के विकास-इतिहास का एक गौरवमय अध्याय है, जिसमें खड़ी बोली की कुमारिका को यौवन की प्रौढ़ता और जीवन की विविधता के उपयुक्त हाव-भाव की सूक्ष्म सांकेतिकता प्राप्त करने का स्वर्ण-अवसर प्राप्त हुआ। उसके हृदय (भावाभिव्यक्ति) और बुद्धि (चिन्तन-शीलता) दोनों का अभूत-पूर्व विकास हुआ। आन्तरिक अनुभूतियों के निरूपण, सूक्ष्म सौन्दर्य-संकेतों की मर्माभिव्यक्ति और जीवन के अन्तराल में चलनेवाले गम्भीर घात-प्रति-घात के चित्रण की जो शक्ति इस धारा से प्राप्त हुई, वह पूर्व-युगों में अप्राप्त थी। 'प्रसाद' जी की सूक्ष्म सांकेतिक भंगिमा, 'निराला' जी की अभिधेयात्मक परिसाधना, 'पन्त' जी का लाक्षणिक वैचित्र्य, महादेवी जी की प्रतीकात्मक चित्रवत्ता, 'बच्चन' जी की तीव्र सीधी एवं तल स्पर्शी वाच्यार्थता, नरेन्द्र शर्मा की ऐन्द्रियता, नेपाली की सहज रसार्द्रता, शम्भूनाथ सिंह की परिस्थितियों पर आघृत संवेदन-शीलता और 'भारती' जी की कल्पना की सूक्ष्म एवं मार्मिक उपलब्धियाँ किसी भी युग की भाषा के लिए अभिव्यंजना-शक्ति का जीवन्त उदाहरण होंगी।

छायावादी काव्य की कला एवं रचना-प्रक्रिया

कला काव्य का बाह्य पक्ष और भाव उसका अन्तर्पक्ष कहा गया है। 'अभिव्यक्ति' अथवा 'शब्द-रूप में भाषा का समुचित रूप' पाकर ही भाव साहित्य के क्षेत्र में आते हैं। इसीलिए गौण स्थान देने और साधन-रूप में ग्रहीत होने पर भी काव्य का कला-पक्ष उससे अनिर्भिन्न एवं अनिवार्य है। भाषा-शास्त्रियों का तो कहना है कि बिना भाषा के मानसिक रूप के विचारों की सत्ता ही नहीं बन पाती। अभिव्यञ्जना-वादी क्रोचे ने तो 'अभिव्यक्ति' को ही कला एवं सफल अभिव्यक्ति को ही 'अभिव्यक्ति' माना है। वह 'अभिव्यक्ति' के साथ 'सफल' विशेषण भी जोड़ने को उद्यत नहीं। उसने कला-कृति को 'अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति' माना है और यहाँ उसने जाने-अनजाने कवि-व्यापार एवं कौशल-क्षमता के लिए भी स्थान बना दिया है। विषय की मानसिक अभिव्यक्ति अथवा सहजानुभूति जब भाषा का रूप प्राप्त कर बाहर प्रकट होती है, तभी काव्य-कला का जन्म होता है। आत्माभिव्यक्ति मानव की सहज प्रवृत्ति है। वह अपनी अनुभूतियों को दूसरों तक पहुँचाना चाहता है, पर विषय-बोध अथवा अर्थ मात्र कवि का लक्ष्य नहीं, वरन् भाव एवं आत्मानुभूति की पाठक में तदनुकूल-तदाकार परिणति उसका ध्येय है। इसके लिए उसे भाषा-रूप की प्रभावक चारुता एवं 'श्रेय' को 'प्रेय' बना देने के प्रयत्न का भी सहारा लेना पड़ता है, किन्तु इसका अर्थ कदापि ऐसा नहीं कि यह परिसाधन एवं रूप-शृङ्गार ही इतना प्रधान हो जाय कि भावों की प्रेषणीयता ही दब जाय और पाठक अथवा श्रोता भाव-प्रभाव की अभीष्ट प्रेरणा एवं चेतना से दूर रहकर बाहरी सज्जा में ही फँसा रह जाय। कला काव्य का साधन है और अनिवार्य साधन है, पर साध्य नहीं। अतः कला की उपयोगिता वहीं तक है, जहाँ तक वह अभीष्ट भावों की अभिव्यक्ति एवं पाठकों में तदनुकूल

प्रभाव-सृष्टि में सहायक हो। अभिव्यक्ति की यह शैली मानव-मानव में विशिष्ट है, जिस प्रकार एक व्यक्ति सर्वांश में दूसरे की ठेठ प्रतिकृति नहीं होता, उसी प्रकार किन्हीं दो कवियों के सोचने-समझने एवं अभिव्यक्त करने का ढङ्ग भी सर्वथा एक ही नहीं हो सकता। भाषा 'अव्यक्त' को 'व्यक्त' 'अनन्त' को 'सान्त' एवं दुर्बोध्य अबोध्य को बोध्य एवं अनुभाव्य बनाने के मानवी प्रयास का प्रतिफल है। भाषा-निर्माण एक सामाजिक प्रक्रिया भी है, अतएव इसकी सत्ता के साथ जन-जन-सम्बद्ध सामाजिकता का भी अटूट सम्बन्ध है। भाषा को सामाजिक प्रक्रिया स्वीकार करने का यह कदापि अर्थ नहीं है कि उसमें व्यक्ति-'विशिष्टता' को कोई स्थान ही नहीं है। मनुष्य अपने वातावरण एवं परिस्थितियों से अविच्छिन्न रहता है। उसके यावत् ज्ञान-प्रसार एवं अनुभूति-कोष पर इनका प्रभाव पड़ता है। यही बात भाषा ज्ञान के सम्बन्ध में भी है। एक शब्द के एक सामान्य अर्थ को तो समाज के सभी व्यक्तियों को मानना ही पड़ता है, पर उस शब्द के 'साहचर्य्य' (Association), एवं उसके द्वारा द्योतित पदार्थ अथवा वस्तु के विषय में किन्हीं भी दो व्यक्तियों के बोध और अनुभव-चित्र की प्रत्येक रेखा (उसकी प्रत्येक गति-भङ्गिमा) एकदम एक ही नहीं हो सकती। इसलिए भाषा 'अरूप' को 'रूप' एवं 'सूक्ष्म' को 'आकार' देने का प्रयत्न मात्र है और इस प्रयत्न में जिस अंश तक जो कवि सफल होता है, उसकी कला उतनी ही अधिक महनीय है। प्रत्येक कलाकार इसी अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न करता है। उपरि-कथित भाषा एवं अभिव्यक्ति-सम्बन्धी सूत्र को ध्यान में रखने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सबके प्रयत्न अपने-अपने ढङ्ग के होते हैं, भाषा एवं भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में किसी भी विधि-विधान की अटल जड़ता अपना शासन नहीं चला सकती। इसी से प्रत्येक समाज एवं प्रत्येक युग अपने जीवन-बोध एवं भाव-चेतना के अनुसार अभिव्यक्ति की निजी प्रणालियों

का निर्माण करता है। ऐसी अवस्था में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना की उपयोगिता एवं ध्वनि-अलङ्कार तथा रीति-विषयक उपसमय (Convetion) अपेक्षाकृत अधिक स्थायी मूल्य वाले मार्ग-मात्रा ही माने जायँगे, इससे अधिक उनका महत्व नहीं।

साधारणतया विचार-विनिमय एवं बोध-सौन्दर्य के लिए हम 'भाव' एवं 'अभिव्यक्ति' अथवा 'विषय-वस्तु' तथा 'शैली' का अलग-अलग विवेचन कर लेते हैं, किन्तु वास्तव में काव्य की समष्टि-गत अनुभूति ('सौन्दर्य' अथवा 'आनन्द' या 'प्रभाव' जो भी कहें) में इनकी अलग-अलग सत्ता का कोई आभास नहीं होता। ये तत्व अतिरेक अथवा सीमान्त की ओर प्रवृत्त होने पर ही अपने भिन्न अस्तित्व का आभास देने लगते हैं, व्यवहारतः कला-कृति के सौन्दर्य अथवा आनन्द की सृष्टि सामूहिक ही होती है, उसमें भाव एवं कला के द्वारा उत्पन्न अलग-अलग सौन्दर्य की भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ नहीं होतीं। इसी से वही काव्य और कला श्रेष्ठ और उसी अंश तक श्रेष्ठ, होते हैं, जिनमें जितने ही अधिक अंशों में इस अन्तरंग एवं बहिरंग का समन्वय-सामंजस्य सम्पन्न हो पाता है। अतिरेक एवं एकांगिता के कारण जहाँ यह सामंजस्य-सन्तुलन भंग हुआ, वहीं 'सौन्दर्य' एवं 'आनन्द' अथवा 'प्रभाव' पर ग्रहण लग जाता है।

छायावादी काव्य का एक सामाजिक पृष्ठाधार है। वह अपने समय एवं परिस्थितियों का एक जीवन-मुखी प्रतिक्रिया से प्रेरित है, केवल मौलिकता एवं विशिष्टता के लोभमें प्रचालित-प्रचारित कोई फैशन नहीं। अतएव जहाँ भाव-बोध एवं नवीन सामाजिक चेतना के द्वारा उसने विषय-परिधि का विस्तार किया, वहाँ अपने नवीन अनुभूति-स्तरों को अभिव्यक्त करने की प्रणाली एवं रूप-योजना के क्षेत्र में भी उसने प्रचलित मार्ग से भिन्न, एक नवीन अभिव्यंजना-शैली को अपनाया। नये सामाजिक संघर्ष की नवीन समस्याएँ एवं नवीन रूपों दोनों ने प्रच-

लित-पद-शैली के अनुगन्ताओं को बड़ी विषम स्थिति में ला खड़ा किया। हृदय की गहन से गहन अनुभूतियों के इतने व्यापक रूप-चित्रों एवं प्रशस्त व्यञ्जना के झिल-मिल आलोक से उनका अभ्यास नहीं था। 'अद्वैतवाद' की रहस्यमयता एवं औपनिषदिक कल्पना विराटता को सगुण-साकार रूप-सीमा देकर, हमारी परवर्त्ती दार्शनिक चिन्ता-धारा ने भक्ति की जो सहज शीतल अश्वत्थ-छाया प्राप्त की, उसमें वह इस प्रकार रमी कि उसकी अन्तश्चेतना में 'असीम' की जगह 'ससीम' और 'अरूप अथवा विराट् रूप' के स्थान पर, 'रूप' की अपेक्षाकृत रमणीय स्थूलता प्रधान बन बैठी। कबीर की 'असीम भाव-साधना' को वह ऐतिहासिक श्रद्धा भी न दे सकी और मीरा की भावुकता पर शीश-चालन करते हुए भी वह उसे आत्मसात् न कर सकी। 'रीति-कालीन' कवियों के स्थूल एवं सीमित रूप चित्रों एवं विचारकों की चिन्तन चेतना पर एक और कड़ी डाल दी। 'भारतेन्दु' जी ने उन लघु रूप-चित्रों में भावों की नवीन ऊष्मा के रँग भरने का प्रयत्न किया, 'द्विवेदी युग' ने उसे रीति-कालीन विलास-पंक से शुद्ध करने के इतिवृत्तात्मक प्रयत्न में रुक्ष आदर्श-वाद एवं नीतिमत्ता के मंत्र-घोष से इतना स्वराभिषिक्त किया कि उसका सहज रंग भी घुल कर तूल श्वेत हो उठा। जब छायावाद ने उसे अपक्षाकृत अधिक प्रशस्त बनाकर, उस पर फिर से भाव-रंजना की तूलिका चलाई, तो पुराने संस्कारों के अभ्यस्त नेत्रों को उसमें 'रीति काल' की प्रच्छन्न पुनरावृत्ति दिखलाई पड़ने लगी और चारों ओर से लेखनी-लौहास्त्र झनझना उठे। मेरी समझ में, 'विषय-वस्तु' से अधिक छायावाद की अभिव्यक्ति शैली की नवीनता से लोग अधिक चकराये। अतः छायावादी अभिव्यक्ति-प्रणाली की कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों की विवेचना आवश्यक है, यद्यपि 'छायावाद का शास्त्रीय परीक्षण' नामक अध्याय में भी इसके कुछ पहलुओं पर प्रकाश-पात करने का प्रयत्न किया गया है।

छायावाद के प्रारंभकर्त्ता एवं प्रकाश-स्तम्भ श्री बा० जयशंकर प्रसाद ने अपने 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक निबन्ध में 'छायावाद' के विभेदक लक्षण का निर्देश करते हुए कहा कि 'बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूति-मयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीति-कालीन परम्परा से जिसमें बाह्य वर्णन की प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था।' ('काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' पृ० सं० ८६)। यह सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास अथवा आन्तरिक स्पर्श क्या है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि छायावादी कवि अन्तर्वादी अथवा चेतनावादी हैं, स्थूल रूप में वस्तुवादी नहीं। 'वस्तु' का चाहे जितना भी महत्व हो वह साधन-रूप में ही है साध्य तो है 'भोक्ता' अथवा 'द्रष्टा' में प्रतिफलित उसका प्रभाव! यही प्रभाव हममें प्रवृत्ति-निवृत्ति अथवा आकर्षण-विकर्षण की सृष्टि करता है और यही आकर्षण-विकर्षण साहित्य और काव्य का मूल है। यह ठीक है कि वस्तु के बिना भावोद्बोध या कल्पनोद्रेक हो ही नहीं सकता, पर उसका सम्पर्क प्राप्त हो जाने पर अपना भाव-प्रभाव ही वह मूल है जो हमारा भागधेय बनता है। छायावादी कवियों ने इसी मूल को अपनाया है। द्रष्टा अथवा भोक्ता की परिस्थितियाँ एवं सीमाएँ भी इस भाव एवं कल्पना के उद्रेक को प्रभावित करती हैं, किन्तु अन्त में भाव अथवा कल्पना में ही अन्तर्भुक्त होकर, यों कहिये, उनका भी भाव-कल्पना में रूपान्तरण हो जाता है। यही आन्तरिकता, वस्तु का अन्तर्निहित सौन्दर्य या द्रष्टा अथवा कवि के उद्रिक्त भाव-कल्पना में वस्तु का प्रति-

फलित प्रभाव, छायावादी काव्य-धारा की रीढ़ है। यद्यपि ऊपर कही गयी वस्तुनिष्ठ एवं आत्मनिष्ठ अभिव्यक्ति का विभेदीकरण आपेक्षिक (रिलेटिव) ही है, क्योंकि काव्यकला में आई हुई अभिव्यक्ति अन्ततः कवि या रचयिता के भाव एवं कल्पना के ही रूप में आती है, चाहे वस्तु-निष्ठ वर्णन हो या आत्मनिष्ठ अभिव्यक्ति। आत्मनिष्ठता का इस प्रकरण में यही अर्थ है कि वस्तु की अपनी भौतिक रूपरेखा या रंग-रूप गौण हो जाता है और उस वस्तु के विषय में उठी कवि की हृद्गत भाव-कल्पना प्रधान। 'प्रसाद' जी की 'झरना' कृति में छायावाद की विभेदक प्रवृत्तियाँ एवं विशिष्टताएँ सर्वप्रथम पाठकों के सामने सजगरूप में आईं। सं० १९६६ में प्रकाशित 'झरना' के चतुर्थ संस्करण के २१ वें पृष्ठ पर प्रकाशित 'दीप' शीर्षक कविता के विश्लेषण द्वारा यह बात और भी स्पष्ट रूप में समझी जा सकती है—

'गिरि संकट में जीवन-सोता मन मारे चुप रहता था,
कलकल नाद नहीं था उसमें मन की बात न कहता था,
इसे जाह्नवी-सा आदर दे किसने भेंट चढ़ाया है,
आञ्चल में सस्नेह बचा कर छोटा दीप जलाया है।
जला करेगा वक्षस्थल पर बहा करेगा लहरी में,
नाचेंगी अनुरक्त वीचियां रंजित प्रभा सुनहरी में।
तटतरु की छाया फिर उसका पैर चूमने जावेगी,
सुप्त खगों की नीरव स्मृति क्या उसको गान सुनावेगी,
किसी माधुरी स्मित-सा होकर यह संकेत बताने को,
जला करेगा दीप, चलेगा यह सोता बह जाने को।

कविता का शीर्षक 'दीप' है, अतः द्विवेदी युगीन वस्तुवादी इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति के अनुसार इसमें दीपक की वस्तुवत्ता उसके निर्वाण, लव, प्रकाश एवं उससे प्राप्त शिक्षा, आदि का वर्णन प्रमुख होगा, पर इसमें कवि की प्रवृत्ति 'दीप' की बाह्य रूप रेखा एवं उसके उपयोगिता-

परक पक्ष की ओर नहीं है। दीप को देखकर कवि की कल्पना एवं पूर्व-संचित संस्कारों (इम्प्रेशन्स) में भावात्मक स्पन्दन हुआ और जैसे, दीपक की ओर से आँख मूँद एवं उसकी भौतिक प्रत्यक्षता से अपनी चेतना को मोड़ कर कवि अपने भीतर ही सोचने लगा है कि आगे दीप किस प्रकार बढ़ता जायगा और आगे क्या-क्या रमणीय दृश्य सम्भव होंगे—दीप की सुनहली रंजित प्रभा में अनुरक्त जल-वीचियाँ अब नृत्य करेंगी, फूलों के वृक्षों की छाया उसका पद-चुम्बन करेंगी। सुप्त पक्षियों की नीरव स्मृति उसे गान सुनायेगी। इस अभिव्यक्ति में कवि की चेतना-वस्तु के प्रति सजग नहीं है, वरन् वह आत्मनिष्ठ हो अपने ही भीतर अपनी कल्पना के सहारे अपनी निजी अनुभूतियों की चल-चित्र शृंखला का प्रसार करने लगता है।

'झरना' कविता-संग्रह की सर्वप्रथम रचना 'झरना' ही परीक्षणीय है। झरने ने कवि की सुप्त अनुभूतियों को ही उद्वेलित कर झरने-सा बहा दिया और वर्षा से उसका भरना और 'शैल का झरना' ही नहीं, कल्पनातीत काल की घटना उसके अन्तर्जगत् में उपस्थित हो जाती है। और अतीत के पटल पर एक क्षण में ही कल्पना एवं स्मृति के विद्युत्प्रकाश में, किसी के अपांग की धारा दिखलाई पड़ जाती है। जो हृदय के दृग-जल की भाँति फूट चलती है—

> 'प्रथम वर्षा से इसका भरना,
> स्मरण हो रहा शैल का कटना,
> कल्पनातीत काल की घटना,
> कर गई प्लावित तन-मन सारा,
> एक दिन तब अपांग की धारा—
> हृदय से झरना
> बह चला जैसे दृग-जल ढरना।

प्रणय-वन्या ने किया पसारा।
कर गई प्लावित तन-मन सारा।'

'प्रथम-प्रभात' कविता में कवि प्रभात की भौतिक शोभा एवं अपने से इतर शेष संसार के उल्लास के प्रति उतना प्रबुद्ध नहीं, वह तो अपनी आँख खुलने, अपने मनोवेग मधुकर के गूँजने तथा आनन्द में अपने प्राण-पपीहा के बोलने के प्रति अधिक सजग है। उसके सामने बाह्य सृष्टि में छाया प्रभात प्रधान नहीं, वरन् अपनी अन्तः-प्रकृति में बिखरे तज्जनित भाव-कल्पना-निष्ठ प्रभात की शोभा में ऊमचूम हो रहा है। यह प्रवृत्ति उनकी स्पष्टतः वस्तु-परक शीर्षकों वाली कविताओं में सर्वत्र दर्शनीय हैं। 'वसन्त की प्रतीक्षा', 'वसन्त', 'किरण', 'विषाद', 'बालू की वेला', 'अर्चना', 'पी! कहाँ!', 'होली की रात' आदि सभी कविताओं में कवि की अपनी भावना कल्पना-प्रधान है। 'वस्तु-विषय' तो आधार अथवा 'उद्दीपन'-मात्र।

'निराला' की 'सन्ध्या-सुन्दरी' परी-सी धीरे-धीरे उतर रही है। इस कविता में सन्ध्या की वस्तुवत्ता के वे सामान्य पक्ष नहीं चित्रित किये गये हैं, जिन्हें जन-साधारण की आँखें नित्य देखती हैं। यह सन्ध्या प्रकृति के आँगन की साधारण सन्ध्या नहीं, वरन् कवि 'निराला' की कल्पना एवं भावना से संवलित वह संध्या है जिसे कवि की अनुभूति की लेखनी ने अपनी कल्पना के रंगों से रँगकर 'परी' बना दिया है—

'हँसता है तो केवल तारा
गुँथा हुआ उन घुघराले काले बालों से,
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की-सी लता, किन्तु कोमलता की वह कली,
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।'

महादेवी जी की 'साँझ' कवियित्री की निजी भावना की ही साँझ है—

'नव इन्द्र-धनुष-सा चीर महावर अंजन ले,
अलि-गुञ्जित मीलित पंकज-नूपुर, रुन झुन ले।
फिर मनाने आयी साँझ मैं मानी नहीं!'

—('नीरजा')

कवियित्री की भावना-कल्पना में प्रतिफलित आकाश, बादल, रात एवं तारे आदि का समन्वित चित्र कितना आत्मनिष्ठ है—

'थकी पलकें सपनों पर डाल
व्यथा में सोता हो आकाश!
छलकता जाता हो चुपचाप
बादलों के उर से अवसाद,
वेदना की वीणा पर देव
शून्य गाता हो नीरव राग
मिलाकर निःश्वासों के तार,
गूँथती हो जब तारे रात
उन्हीं तारक-फूलों में देव
गूँथना मेरे छोटे प्राण-
हठीले मेरे छोटे प्राण!'

—('रश्मि')

इसी को यों भी कह सकते हैं कि इन रचनाओं में कवि बाह्य एवं स्थूल सौन्दर्य पर न जाकर, वस्तुओं के भीतरी सौन्दर्य को पाठकों के सामने बिखेर देता है। वस्तु-पक्ष से जो आन्तरिक सौन्दर्य कहा जाता है, वही कवि-पक्ष से उसकी आत्म-निष्ठ कल्पना एवं अनुभूति की अभिव्यक्ति कही जायगी। दोनों में भेद केवल प्रस्थान-बिन्दु का है

जहाँ से विवेचक विश्लेषण आरम्भ करता है। बोधव्य दोनों ही कथनों का एक ही है।

'पन्त' की 'छाया', 'स्वप्न', 'खद्योत', 'शुक्र', 'अप्सरा'—आदि रचनाओं में यही व्यक्तिगत कल्पना-भावना क्लिष्ट विकल्पना ('फैन्सी') की सीमा तक पहुँच गई है और रस एवं संवेदना का स्रोत भी सूखने लग जाता है। छायावादी काव्य-धारा गीति-तत्व-प्रधान है, अतः आन्तरिक भावोद्रेक एवं सौन्दर्यमयी कल्पना का उसमें प्राधान्य है। संगीतात्मकता, आत्मनिष्ठ अनुभूति का कला-कल्पना-पूर्ण चित्रण, रागात्मक अनुभूति की एकत्वपूर्ण अन्विति, आदि तत्वों का इसमें सम्यक् स्फुरण है। छायावादी कविताओं के विषय में दूसरी विचारणीय बात छायावादी कवियों की काव्य-रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण है, यद्यपि मनोविज्ञान एवं 'मानस-विश्लेषण-शास्त्र' एक स्वतंत्र विज्ञान ही बन गया है और जीवन के व्यापक क्षेत्र में उसकी उपयोगिता भी उपेक्षणीय नहीं, किन्तु यहाँ उसकी शास्त्रीयता से हमारा मतलब नहीं, हमें केवल कुछ स्थूल बातों पर ही विचार करना है।

छायावादी काव्य में 'स्वानुभूति' या कवि की 'निजी अनुभूति' की ही प्रधानता है, इसे ही व्यक्ति-निष्ठता की संज्ञा से भी प्रकट किया जाता है। 'स्व' शब्द कवि के निजी वैयक्तिक राग-द्वेष का बोधक है। किसी 'वस्तु' या 'घटना-व्यापार' इत्यादि को देखकर व्यक्ति के मन में जो प्रवृत्ति-निवृत्ति-परक आन्तरिक क्षोभ पैदा होता है, वह अपने समस्त शारीरिक एवं मानसिक विकारों या अभिव्यक्तियों-सहित उस व्यक्ति की 'स्वानुभूति' में अन्तर्भुक्त है, किन्तु ये ही स्वानुभूतियाँ काव्य का मूलाधार होती हुई भी, अपने प्राकृत रूप (क्रूड फार्म) में काव्य नहीं कहला सकतीं। व्यक्ति की वैयक्तिक अनुभूति का कारण, सृष्टि का नाम-रूपात्मक व्यापक प्रसार है, किन्तु पाठक या श्रोता की रसानुभूति अथवा आनन्द-प्राप्ति का कारण काव्य में अभिव्यक्त सामग्री

है, जिसका अपने प्राकृत, भौतिक अथवा व्यष्टि-परक 'तद्वत् मानसिक रूप' में आना न अनिवार्य ही है और न सर्वांश में सम्भव ही। व्यक्ति की अनुभूति के अन्यों की अनुभूति बनने अथवा कवि की अनुभूति के पाठक या श्रोता की अनुभूति बनने के लिए अभिव्यक्ति का सहारा लेना पड़ता है। अनुभूति स्वयं क्षणिक अथवा अल्पकालिक होती है। रसावेश की सामर्थ्य प्राप्त करने या पाठकों को आनन्द-दायी बनने के लिए उसे स्थायित्व प्राप्त करना होता है। सम्यक् अभिव्यक्ति अपने समस्त निर्मायक तत्वों अथवा उपादानों के साथ उसे स्थायित्व प्रदान करती है। स्वयं व्यक्ति के अन्तर में होने वाली अनुभूति की भी कई अवस्थाएँ होती हैं। विम्ब-ग्रहण एवं 'अर्थ-बोध' की विवेचना के साथ साहित्य-विचारकों ने काव्य में 'विम्ब-बोध' को प्रधानता दी है। जब कल्पना के सहारे किसी वर्णित विषय का मात्र ज्ञान ही नहीं, वरन् अन्तर में उसकी सचित्र अवस्थिति का भी बोध होने लगता है, तब वह विषय हमारी वृत्तियों का अनुरंजन करने लगता है। इस विम्बात्मक अथवा चित्रात्मक अनुभूति को कला-विवेचन में 'सहजानुभूति' कहा गया है। यह 'सहजानुभूति' 'स्वानुभूति' की प्राथमिक काव्योपयोगी स्थिति है और सफल कवि या कलाकार के मानस में यह जितनी ही स्पष्ट एवं प्रभविष्णु होगी, उसकी काव्याभिव्यक्ति भी उतनी ही प्रभावक एवं मार्मिक। विषय की इस सहजानुभूति में विचार का कठोर शासन नहीं होता, पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि विचारों का प्रत्येक दशा में पूर्ण बहिष्कार ही होता है। उसमें विचार की अपनी स्वतंत्र एवं निरपेक्ष स्थिति नहीं होती। वह उसी में विलीन रहता है। उसका प्रथम लक्ष्य भी भावानुभूति करना एवं किसी के प्रति संवेदना ही पैदा करना होता है, स्वतंत्र रूप से शिक्षा देना नहीं। इस सहजानुभूति का विषय चर्म-चक्षुओं के सामने साक्षात्-प्रसूत रूप व्यापार भी हो सकता है और कभी का देखा-सुना मानस में संचित प्रभाव-संस्कार भी। सहजानुभूतियाँ न केवल पाठक, वरन् कवि

के हृदय में भी सौन्दर्य-भावना के वातायन खोल देती हैं। कवि या कलाकार के मानस में विषयानुभूति की प्रथम स्थिति सहजानुभूति है। दूसरी स्थिति में, मन और शरीर पर उसके विकार लक्षित होने लगते हैं और तीसरी स्थिति आने पर उस अनुभूति का सामाजिक पक्ष प्रबुद्ध होने लगता है और विचारों की सत्ता अधिक परिस्फुट होने लगती है। अनुभूतियों का यह स्थिति-क्रम गीत प्रधान छायावादी काव्यधारा में पर्याप्त रूप में देखा जा सकता है।

कवि की अन्तर्वृत्तियों को जगाने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सदैव उसके सामने स्थूल 'विभाव' ही हों। अज्ञेय आन्तरिक कारणों से मानव-मनोविज्ञान की रहस्यमयता में, उसकी पहले की संचित अनुभूतियाँ जग पड़ती हैं। प्रत्येक दशा में वह स्पष्ट रूप से कारण भी नहीं जान पाता। कभी-कभी स्मृति आते ही समस्त पूर्व दृष्ट दृश्य कल्पना में साकार हो उठते हैं और फिर उस दृश्य के अनुकूल अन्तर्वृत्ति भी द्रवीभूत हो उठती है। छायावादी कविता में स्मृति द्वारा कल्पना में आनीत ये ही पूर्वानुभूतियाँ सबसे अधिक अभिव्यक्त हुई हैं। इसी को वर्डस्वर्थ ने 'इमोशन रिकालेक्टेड इन ट्रैंक्विलिटी' अर्थात् 'उद्वेग-प्रशान्ति की दशा में पुनरानीत भाव' और उनका 'पुनश्चिन्तन' कहा है। गृह के एकान्त कोण, किसी एकाकी स्थान अथवा निशा की तमो-छाया में बैठे कवि के मन में उमड़ने वाली यही अनुचिन्तित भाव-प्रभाव परंपरा, छायावादी स्फुट कविता एवं गीतों में अधिकांशतः अनुबद्ध हुई है। उनके सामने स्मृतियों एवं संचित अनुभूतियों का जाल बिखरा होता है जिनके बीच उसकी व्यक्तिगत आशाभिलाषा एवं निजी सुख-स्वप्न उभरे होते हैं। भावुक एवं कल्पनाशील मानस में यह क्रिया अपेक्षाकृत अधिक बलवती होती है। 'प्रसाद' जी की पूर्वानुभूतियों के अनुचिन्तन में यह भाव-प्रवेग अन्य कवियों की अपेक्षा तीव्रतर होता है। यही कारण है कि उनके गीति-काव्य एवं 'कामायनी' में भावों का

ऐसा सघन वातावरण उपस्थित हो जाता है। सरोवर के मूल से उठने वाले फौवारे की भाँति 'प्रसाद' के अनुचिन्तन में जाग्रत भाव-उत्स सारी कविता को आच्छादित किये रहता है। 'निराला' की कविताओं में दार्शनिकता के कारण विचारों का प्रभाव प्रधान हो जाता है, किन्तु प्रसाद जी के काव्य में जहाँ कहीं परिस्थिति-वश ऐसा हुआ भी है, वहाँ विचार ही इतना संगीतमय एवं भाव प्रभावित हो गया है कि उसकी रुक्षता ही धुल जाती है—

"चातक की चकित पुकारें, श्यामा-ध्वनि परम रसीली,
मेरी करुणार्द्र कथा की टुकड़ी आँसू से गीली।
अवकाश भला है किसको सुनने को करुण कथाएँ,
बेसुध जो अपने सुख से, जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ!
खाली न सुनहली सन्ध्या मानिक-मदिरा से जिनकी,
वे कब सुनने वाले हैं दुख की घड़ियाँ भी दिन की।
अलियों से आँख बचाकर जब कमल संकुचित होते,
धुँधली सन्ध्या प्रत्याशा, हम एक एक को रोते।"

—('आँसू')

उपर्युक्त पंक्तियों में योजित साम्य-वैषम्य-विधान के बीच से, अनुभूतियों का एक कुहर-मय वातावरण-सा उठता हुआ दिखाई पड़ता है। निम्न पंक्तियों में विचारों का संगीत भी सुना जा सकता है—

"मुक्ति जल की वह शीतल बाढ़, जगत् की ज्वाला करती शान्त,
तिमिर का हरने को दुख-भार, तेज-अमिताभ अलौकिक कान्त।
देव-कर से पीड़ित विक्षुब्ध प्राणियों से कह उठा पुकार—
तोड़ सकते हो तुम भव-बंध तुम्हें है यह पूरा अधिकार।
अरी बरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!"

—('लहर')

'निराला' की बौद्धिकता दार्शनिकता की ओज-भरी वाणी में भावों के बहुत ऊपर उठ जाती है और साधारण पाठक तो संगीत के ही सघन आवरण में उलझा रह जाता है—

"परिवर्तित समय का
वह रूप - रसास्वाद
घोर उन्माद — ग्रस्त
इन्द्रियों का बारम्बार बहिरागमन,
स्खलन, पतन, उत्थान-एक
अस्तित्व जीवन का................
महामोह,
प्रतिपद पराजित भी अप्रतिहत बढ़ता रहा,
पहुँचा मैं लक्ष्य पर.....................।"

महादेवी जी की अनुभूतियाँ सदैव चिन्तन के एक व्यापक आधार पर चित्रित हुई हैं। कुछ आलोचकों को इसी से, ऐसा लगता है कि उनमें दार्शनिक आवेश प्रधान हो उठता है, पर वस्तु-स्थिति तो यह है कि जो जितने ही व्यापक बौद्धिक क्षितिजपर खड़ा होता है, उसकी अनुभूतियाँ भी उतनी ही व्यापक एवं सीमातिक्रान्त होती हैं। औदात्य की ओर दृष्टि होने से यह सीमातिक्रान्त व्यापकता सभी महान् कवियों में दिखाई पड़ती है। 'रघुवंश' महाकाव्य के अज और इन्दुमती की मंडप-प्रदक्षिणा के अवसर पर सप्तम सर्ग के चौबीसवें श्लोक में महाकवि कालिदास ने उस दम्पति की उपमा ध्रुव के चारो ओर परिक्रमा करते रात दिन से दी है—

"प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तान्मिथुनं चकासे।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानन्मोन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम्॥"

कुछ सीमित एवं अपेक्षाकृत छोटा चित्र देने से कान्तता भले बढ़

जाती, पर अपेक्षित महत्ता न आती, जब सीमित वस्तु, औदात्य के विशेष क्षणों में इतनी व्यापक चित्र-पटी पर आलोकित हो उठती है तो जीवन की असीम अनुभूतियों का चित्रण यदि सीमा को डुबो उठे, तो आश्चर्य क्या ?

'दुख अतिथि का धो चरण-तल,
विश्व रस-मय कर रहा जल !
यह नहीं क्रन्दन हठीले,
सजल पावस मास रे कह !'

—(महादेवी)

जब अनुभूति अपनी प्रशान्त अवस्था में होती है, तब कभी-कभी उसे जगाने के प्रयत्न में कवि उस विषय को भी यत्किञ्चित् चित्रित करने लगता है, जिससे वह अनुभूति पहले-पहल जाग्रत हुई रहती है। अधिकांशतः ऐसी चित्रांकन की स्थिति में अनुभूति में तीव्रता अधिक नहीं होती। अनुभूति के तीव्र आवेग में कवि को विषय-वस्तु को चित्रित करने का अवकाश ही नहीं होता। जहाँ कवि अपनी मान्यता-विशेष या आदर्श-विशेष से प्रेरित होकर लिखता है, वहाँ विचारों की क्रिया के भी परिचालित होते रहने से, अनुभूति अधिक तीव्रता नहीं प्राप्त कर पाती। यहाँ मैं पाठक के मानस की नहीं; रचनाकार कवि के मानस की बात कह रहा हूँ। कवि की प्रेरक वस्तु पाठक के लिए 'विभाव' बनकर भावों के उद्बोधन में सहायता अवश्य पहुँचाती है, पर कवि के सामने जब उस प्रेरक वस्तु का रूप प्रधान होता है, तब वह अपनी अनुभूतियों की तीव्रता की व्यंजना अपनी रचना में नहीं कर पाता। 'युगान्त', 'युग-वाणी' एवं 'ग्राम्या' में वर्णित विषयों के प्रति कवि 'पन्त' की अनुभूति विचार एवं बुद्धि-प्रधान है। इसी से उसमें वस्तु-वत्ता का वर्णन ही प्रमुख है। ग्रामों के सामान्य दुःख-कथन एवं

गांधी जी के प्रति कही गई कविताओं में जो मार्मिकता है, वह भी बहुत-कुछ तुलना-मूलक अतएव विचार-प्रसूत है। इसी से उनकी सहानुभूति भाव-प्रसूत नहीं, विचार-प्रेरित है—

"आता मौन प्रभात अकेला सन्ध्या भरी उदासी,
यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया-सी।

× × ×

यह रवि-शशि का लोक जहाँ हँसते समूह में उडुगण,
जहाँ चहकते विहँग बदलते क्षण-क्षण विद्युत् प्रभ घन।

× × ×

ये रहते हैं यहाँ और नीला नभ ओढ़े धरती,
सूरज का चौड़ा प्रकाश, ज्योत्स्ना चुपचाप बिचरती!
प्रकृति-धाम यह तृण-तृण, कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे, चिर-विषण्ण जीवन्मृत!"

—('ग्राम्या'—'ग्राम-चित्र')

'पन्त' कल्पना-प्रधान कवि हैं और कल्पना बहिर्मुखी होती है, अतः 'पन्त' के काव्य में बाह्य सृष्टि एवं उसकी प्रेरणा से उद्वेलित कल्पना ही प्रमुख है, महादेवी अनुभूति एवं चिन्तन-प्रधान हैं, अतएव वे अधिक अन्तर्मुखी हैं और उन्हीं की व्यंजना उनके काव्य में प्रधान हैं। 'प्रसाद' यदि विभाव-चित्रण करते हैं, तो रूप-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी प्रधान होती है, किन्तु जब वे अपनी आन्तरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करने लगते हैं तो उस समय बाह्य आधार या प्रकृति के प्रेरक-उपकरण तिरोहित हो जाते हैं और अपनी अनुभूतियों की सहजानुभूति कराने के लिए प्रभाव-साम्य के आधार पर कवि प्रकृति के उप-

करणों का सहारा लेने लगता है। 'विभाव' के रूप में भाव-प्रेरणा देने वाले एवं उद्‌बुद्ध भावों की व्यंजना में साधन-सामग्री-रूप में गृहीत प्रकृति के उपकरणों की स्थिति में, अन्तर होता है। अनुभूति की सघनता में तो चित्र भी डूब जाते हैं—

'इस करुणा-कलित हृदय में
क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकर - स्वरों में
वेदना असीम गरजती।'

× × ×

'इस विकल वेदना को ले
किसने सुखको ललकारा।
वह एक अबोध अकिञ्चन
बेसुध चैतन्य हमारा॥'

('आँसू')

छायावादी गीति-कविताओं में जहाँ विषय एवं द्रष्टा, भाव और कल्पना एकात्म हो उठते हैं, विचित्र प्रभाव-सृष्टि सम्पन्न हो उठी है। शब्द, अर्थ एवं अभिव्यक्ति का यह मधुर संगीतात्मक मिलन अनपम हो उठा है—

"काली आँखों का अन्धकार
जब हो जाता है वार पार,
मद पिये अचेतन कलाकार,
उन्मीलित करता क्षितिज पार—
वह चित्र रङ्ग का ले बहार
जिसमें है केवल प्यार-प्यार !

केवल स्थिति-मय चाँदनी रात,
तारा किरनों से पुलक गात,
मधपों-मुकुलों में चले घात
आता है चुपके मलय वात,
सपनों के बादल का दुलार !
तब दे जाता है बूँद चार !!

तब लहरों सा उठकर अधीर,
तू मधुर व्यथा-सा शून्य चीर,
सूखे किशलय-सा भरा पीर,
गिर जा पतझर का पा समीर-
पहने छाती पर तरल हार !
पागल पुकार फिर प्यार-प्यार !

('लहर')

छायावादी अभिव्यक्ति-प्रणाली में प्रकृति के उपकरणों एवं घटना-व्यापारों का बहुत आश्रय लिया गया है। प्रकृति उनकी लाक्षणिक मूर्तिमत्ता का मुख्य उपकरण है। छायावादी कवियों ने परंपरा-प्राप्त अप्रस्तुतों एवं उपमानों पर सन्तोष न कर प्रभाव-साम्य के आधार पर कितने ही नये अप्रस्तुतों की खोज की। इस खोज में उनकी प्रकृति के प्रति सजगता परिलक्षित होती है। उन्होंने पुराने उपमानों का जीर्णोद्धार किया है और कितनों को ही नवीन रूपसुषमा की आभा से अभिषिक्त कर नये प्रभाव की शक्ति प्रदान की। संस्कृत साहित्य से भी हीरक, सिरीष, मरकत, माणिक्य, मालती, मल्लिका, चषक आदि 'अप्रस्तुत' ग्रहण किये गये हैं। जीवन-जगत् के प्रत्येक कोण पर अपनी तर्क-बुद्धि की प्रखर किरणें डालने वाली आधुनिक युग की वैज्ञानिक-चिन्ता ने मानव-मनोविज्ञान के अन्वेषण-परीक्षण से यह सिद्ध किया है कि अधिक

चमकीले एवं चटकीले रंगों के प्रति आकर्षक बाल-स्पृहा की कोटि है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी बौद्धिक कुहासा एवं मटियाली-भरी दृष्टि का प्रतिबिम्ब देखने वाले आज के युग ने ही कविता के विनाश का भी फतवा दे डाला है। ऐसे समय में बुद्धि के अतिरेक से उद्दत कुछ चूड़स्थ विचारक छायावादी चित्रों के चटकीले रंगों पर किस प्रकार अधर कुंचन करेंगे, मैं नहीं कह सकता, पर जीवन-जगत् की बहुविध रंगीनी को भी स्वीकार करने वाले पाठक तो इसका आनन्द लेते ही रहेंगे। कौन जाने वस्त्रों एवं वेश-भूषा के क्षेत्र में फिर रङ्गीनी की ओर प्रतिवर्तित होने वाली आज की युग-दृष्टि काव्य-क्षेत्र में भी इस ओर झुके। ऊषा, संध्या, रश्मि, तारक, ज्योत्स्ना, प्रकाश, दीप, पुष्प, कुंकुम, कंचन रजत, मरकत, नीलम, माणिक्य, आकाश की नीलिमा, इन्द्र-धनुष की सप्तवर्णिमा, राका की धवलता, हीरक की जगमगाहट, समुद्र की उर्मिलता, निर्झर का कल-कल, पत्रों का मर्मर, श्यामा का संगीत, कोयल का पंचम, पपीहे की तान, वंशी की ध्वनि, नुपुर का क्वणन, अपनी विशेष रस-रङ्गिमा के साथ अभिव्यक्ति में सहायक तो हुए ही हैं, सिन्धु का गाम्भीर्य, त्रियामा का निशीथयौवन, गगन का विस्तार, हिमाद्रि की विशालता, मेघ की गर्जना, विद्युत् का तर्जन, क्षितिज का अस्पृश्य-अछोर विस्तार भी अपने उचित गौरव एवं कलात्मक मूल्य के साथ प्रतिष्ठित भावों के प्रसार-विस्तार, घनीभवन, गम्भीरयण में पूर्ण सहायक हुए हैं। नये प्रकार की भावानुभूति या असामान्य मनोमुद्रा में उदित उद्रेक के लिए नवीन या ताजे प्रतीकों-अप्रस्तुतों की आवश्यकता स्वाभाविक है, विशेषकर जब प्रचलित विचारानुभूति से विभेद दिखाना होता है, तब तो यह आवश्यकता और भी अधिक बलवती हो जाती है। रीतिकाल से चली आती हुई, नायक-नायिकाओं अथवा राधा कृष्ण के विभाव माध्यम से व्यक्त होने वाली भावधारा एवं द्विवेदी-कालीन परिपाटीबद्ध आदर्शवादी वचारावली से छायावादी भाव-वस्तु निश्चय ही दूसरी कोटि के हैं; अत-

एव उसने रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि परम्परा-मान्य अलंकारों की 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' ढंग की कोष्ठक-पूर्ति को छोड़ कर भावानुभूति की यथा-रुचि उन्मुक्त अभिव्यंजना को महत्व दिया। रूपक, उपमा, प्रतीप, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के रूप छायावादी काव्य में अवश्य पाये जाते हैं, पर उनके शास्त्रीय निर्वाह की ओर छायावादी कवियों का ध्यान नहीं रहता। इसे अलंकारवादी उनकी अशास्त्रज्ञता या असमर्थता सिद्ध कर सकते हैं, पर अनुभूति की चित्रात्मक व्यंजना करने वाले छायावादी कवि चित्र की सामूहिक प्रभाव-सृष्टि के प्रति सजग रहते हैं, उसके रंगों के शास्त्रीय अनुक्रम की ओर नहीं। छायावादी कविता में अनुभूतियों की अनुभूति करानी होती है, अतएव जब कवि अनुभूति की प्रेरणा देने वाले विभाव-वस्तु को छोड़ केवल अपनी अनुभूति का संप्रेषण करना चाहता है, तो वह उन्हीं अनुभूतियों को उद्‌बुद्ध करने वाले चित्र का विधान करने लगता है। इस चित्र के लिए मात्र अनुभूति ही उत्पादन नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभूति तो सूक्ष्म अथच अरूप होती है और कवि को चित्रात्मक रूपाधार देना होता है। ऐसी दशा में वह अपनी कल्पना के सहारे ऐसे उपकरण प्रस्तुत करता है, जो समष्टि-रूप में पाठक के अन्तर में वैसी ही अनुभूति या वैसी ही प्रभाव-सृष्टि कर सकें। इस चित्र-संकलन में कल्पना का आश्रय अवश्य ही अनिवार्य होता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि कल्पना ही साध्य होती है। कल्पना यदि भावाभिव्यक्ति अथवा अनुभूति प्रेषण के उपयुक्त समर्थ सामग्री न प्रस्तुत कर सकी, तो वह कल्पना विकल्पना-मात्र बन कर रह जायगी। 'विभाव' से विलग भावानुभूति कराने के मार्ग की यही सबसे बड़ी अग्नि-परीक्षा है। जिस कवि की मधुमती कल्पना यह परीक्षा उत्तीर्ण हो जायगी, उसी की वाणी भाव-प्रेषक, अनुभूति-उद्‌-बोधक एवं पाठक-प्रभावक होगी। 'स्याही के धब्बे' में ब्रह्म की अनंतता की धारणा कराने वाली कल्पना दूर की सूझ भले ही कही जाय, हृदय

स्पर्शी नहीं होगी। बुद्धि-तत्व मनन या चिन्तन जो भी कहा जाय, छायावादी कला के इसी स्थल पर महत्वपूर्ण हो उठती है। 'प्रसाद' की निम्न पंक्तियों में अनुभूति-वाहक कल्पना का कौशल दर्शनीय है।

कोमल कुसुमों की मधुर रात!
वह लाज भरी कलियाँ अनन्त,
परिमल-घूँघट ढँक रहा दन्त।
कँप-कँप चुप-चुप कर रही बात,
कितने लघु-लघु कुड्मल अधीर।
गिरते बन शिशिर सुगंध नीर।
हो रहा विश्व सुख पुलक गात!

('लहर', पृ० २४)

यौवन-काल की सुकुमार अनुभूतियों के सामञ्जस्य में लायी गयी कुसुमों की रात, लाज भरी कलियाँ, परिमल के अवगुंठन से ढँके दाँत, 'कँप-कँप, चुप-चुप'—जैसे चित्रपूर्ण-पद शिशिर-सुगन्ध-नीर एवं सुख-पुलक गात आदि उपकरण सारी मनःस्थिति एवं सम्पूर्ण वातावरण चित्रित कर देते हैं। नीचे लिखी पंक्तियों में कल्पना द्वारा चयन कर लायी गयी सामग्री कितनी अनुभूति व्यंजक है—

"वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे!
जब सावन-घन सघन बरसते—
इन आँखों की छाया भर थे!
प्राण पपीहे के स्वर वाली
बरस रही थी जब हरियाली,
इस जल-कन मालती मुकुल से
जो मदमाते गंध विधुर थे!

('लहर' पृ० २६)

महादेवी जी ने अपने मूक-मिलन के स्वप्न को किस प्रकार कल्पना के सहारे पाठकों के सामने सत्य करने का प्रयत्न किया है।

"कैसे कहती हो सपना है
अलि उस मूक मिलन की बात!
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू, उनके हास!"

('नीहार')

जहाँ अनुभूतियों के चित्र देने के बजाय कवियों ने विभाव या वर्ण्य वस्तु का प्रत्यक्ष आधार लेकर कविता रचना की है वहाँ भी कल्पना ने वातावरण चित्रण एवं समान अनुभूति उत्पन्न करने में पर्याप्त सहायता पहुँचायी है। ऐसे स्थलों पर ही यह सिद्ध हो जाता है कि सचमुच कल्पना-भाव-वाहिका एवं नियन्त्रित कल्पना सिद्ध कवि की कितनी बड़ी शक्ति है। 'प्रसाद' की 'बीती विभावरी जागरी' शेरसिंह का 'शस्त्र-समर्पण' एवं 'प्रलय की छाया', महाकवि 'निराला' की 'जुही की कली' 'राम की शक्ति-पूजा' एवं 'जागो फिर एक बार', कविवर 'पन्त' की 'नौका-विहार', 'बादल' एवं 'परिवर्तन' तथा 'महादेवी' जी की 'वसन्त-रजनी' आदि रचनाएँ भाव-प्रेरित एवं वातावरण-विधायक कल्पना के आदर्श-स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं।

छायावादी कविताओं में 'रस' अथवा 'आनन्द' को पूर्ण महत्व मिला है, पर शास्त्रीय कोष्ठकों की पूर्ति के रूप में नहीं। इस कोष्टक पूर्ति के अभाव में उसे शास्त्रीय शब्दों में 'रस व्यञ्जना' ही कहा जायगा, जहाँ 'आलम्बन', 'उद्दीपन', 'अनुभाव', 'संचारी', या 'स्थायी भाव' में से सभी का कथन एवं स्पष्ट निर्देश आवश्यक नहीं होता, केवल एक या कुछ को ही लेकर रसव्यञ्जना की जाती पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, छायावादी कवि अनुभूति आत्माभिव्यक्ति भावप्रकाशन अथवा आत्म-निष्ठ अभिव्यञ्जन को महत्त्व देता हुआ भी शास्त्रीयता के आग्रह को नहीं

मानता। साहित्य प्रथम बनता है और शास्त्र बाद को। साहित्य या काव्य तो 'प्रसाद' जी के शब्दों में 'आत्मा की मूल संकल्पात्मक अनुभूति' है। वह 'आत्मा की मनन-शक्ति' की वह असाधारण अवस्था है, 'जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है' (काव्य और कला तथा अन्य निबंध'—पृष्ठ ११) वे अलंकार, वक्रोक्ति, रीति आदि मतों को विवेकज मानते हुए आनन्द-प्रधान 'रस' को ही काव्य की मुख्य धारा मानते हैं। 'रस' में ही उन्होंने काव्य का वास्तविक प्रभाव एवं सौन्दर्य स्वीकार किया है। इस एक आनन्द या रस को मूल रूप में ग्रहण कर चलने के कारण प्रसाद जी का काव्य सर्वत्र मार्मिक है। रस को शास्त्रीय विवेचना प्रदान करने वाले आचार्यों के विवेचन का कवि के लिए इतना ही महत्व है कि वह काव्य की आत्मा रस का मार्ग एवं महत्व समझे। यह कोष्ठक पूर्ति एवं अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्पष्ट कथन सर्वत्र अक्षरशः पालन किया जाय, कवि के लिए यह अनिवार्य नहीं। 'कोष्ठक पूर्ति के रूप में रस' की मान्यता का ही यह परिणाम है कि इसका परवर्ती विकास स्थूलता की जड़ सीमाओं में ही उलझ गया और आत्मानुभूति अथवा मानवीय हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म सौन्दर्यानन्द पद्धति के प्रकाशन की दिशा अधिकांशतः सुनी ही रह गई। कितने ही रस ऐसे हैं जिनकी व्यंजना में आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव एवं संचारियों द्वारा ही प्रभाव सृष्टि एवं लक्ष्य पूर्ति हो जाती है। 'लज्जा' 'काम' आदि कामायनी-सर्गों में यह स्पष्टतः देखा जा सकता है कि बिना सभी अंगों की खाना-पूरी के ही, रस उद्रिक्त हो गये हैं। 'श्रद्धा' एवं 'मनु' के मिलन के अवसर पर 'कामायनी' में आये अनुभावों के निम्नस्थ सुन्दर संगुम्फन में क्या कम रमणीयता है—

'मधुर क्रीड़ा-मिश्र चिन्ता साथ ले उल्लास।
हृदय का आनन्द-कूजन लगा करने हास॥

गिर रही पलकें झुकी थी नासिका की नोक।
भ्रूलता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक॥'

भावानुभूति की मधुर व्यंजना में छायावादी काव्य की अभिव्यक्ति प्रणाली-चित्रात्मकता—बड़ी सहायक हुई है। व्यंजना की मार्मिकता तो अपने मधुर आलोक से मुग्ध करती ही चलती है पर लाक्षणिक मूर्तिमत्ता अपने चाक्षुष-चित्र-विधान द्वारा शेष आधारों की रिक्तपूर्ति कर देता है और उन चित्रों के सहारे ही पाठक सब कुछ समझ कर उसकी रमणीयता में डूब जाता है। हृदय के आनन्द-कूजन का रास करने लगना—अपने लाक्षणिकता से सूक्ष्म अनुभूति की सरूपता दे देता है और बाद को पलकों का गिरना, नासिका की नोक का झुकना एवं भ्रू लता का बेरोक कान तक चढ़ जाना, आदि अनुभवों के नियोजन, सारा दृश्य पाठक की कल्पना में साकार कर देते हैं। इसी प्रकार पन्त जी की 'ग्रंथि' के आरम्भ में आया नायिका का आलम्बन-चित्रण भी अपनी शास्त्रीय विकलता में भी अविकल है। छायावादी कविताओं में आये प्रकृति के भावाक्षिप्त वर्णन अधिकांश 'उद्दीपन'-वर्णन के सुन्दर उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कवि अपने हृदयस्थ भाव से अनुरंजित दृष्टि को जब प्रकृति एवं प्रकृति-व्यापारों पर डालता है, तो सारी प्रकृति उसे अपने ही मानों के उद्दीपक-रूप में अथवा उसी भाव से रंजित दिखाई पड़ती है। प्रकृति के रमणीय उद्दीपक-चित्र जितने अधिक छायावादी काल में मिलेंगे उतने अधिक और उतने सुन्दर दूसरे युग में स्यात् बहुत कम मिलेंगे। प्रकृति के शुद्ध चित्रण की दृष्टि से चाहे इन्हें जैसा कहा जाय, और चाहे ये 'प्रकृति-सम्वेदना के हेत्वाभास' कहे जायँ या कुछ और, पर जिन भावों के मधुर संकेत के लिए ये चित्र आकलित किये गये हैं वे अपने में अद्वितीय हैं। 'कामायनी' के 'वासना' सर्ग में आया निम्न वर्णन दर्शनीय है—

'मधु बरसती विधु-किरण है काँपती सुकुमार।
पवन में है पुलक मंथर चल रहा मध-सार ॥
तुम समीप अधीर इतने आज क्यों है प्राण।
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण।'

श्री भगवतीचरण वर्मा का वियोग अवस्था का यह वर्णन कितना मार्मिक एवं विषादमय है।

"देखो वियोग की शिशिर रात।
दिन का रक्तांचल छोड़ चली ॥
ज्योत्स्ना की वह ठंडी उसास।
आँसू का हिमजल छोड़ चली ॥"

('प्रेम-संगीत')

प्रकृति के तटस्थ वर्णन की जो भी उपयोगिता हो और मानव भाव-परिष्कार में उसका जैसा भी योग हो किन्तु मानव का अधिकांश प्रकृति वर्णन उसके आन्तरिक भावों से सर्वथा विरहित रह भी नहीं सकता। प्रकृति मानव की प्रत्येक क्षण की, जाने अनजाने, सहचरी है। वह मनुष्य-जीवन में इस प्रकार घुलमिल गई है कि प्रकृति के स्थूल-सूक्ष्म उपकरण मानव की आत्माभिव्यक्ति के माध्यम बन गये हैं। मानव-भावानुभूतियाँ जब व्यक्ति के निजी सुख-दुःख की क्षुद्र सीमा को पार कर प्रकृति के विशाल विस्तार पर फैल जाती हैं, तो पाठक या श्रोता के लिए वे भाव अथवा अनुभूतियाँ अधिक संवेदनीय एवं प्रभविष्णु हो जाती हैं। आलोचक के शब्दों में ऐसे मानव भावाश्रित वर्णन 'मानव-सापेक्ष्य' कहे जाते हैं। आचार्य पं० रामचंद्र जी शुक्ल ने प्रकृति के शुद्ध वर्णन के साथ इसकी तुलना करते हुए इसे प्रकारान्तर से निम्न-कोटि का कहा है। उन्होंने हिन्दी में प्रकृति के शुद्ध एवं यथातथ्य चित्रण के अभाव पर दुःख प्रकट किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि घनाक्ष-

रियों में लिखे गये उनके शुद्ध प्रकृति-चित्रण अपने ढंग के अनूठे हैं और उनका अपना निजी प्रभाव एवं विशिष्ट आनन्द है, किन्तु जहाँ तक भावों एवं अनुभूतियों के संप्रेषण एवं अनुभावन का प्रश्न है, प्रकृति के मानव-सापेक्ष्य वर्णन बड़े ही उपयोगी एवं प्रभावशाली माध्यम हैं। छायावादी अभिव्यक्ति-प्रणाली की चित्रात्मकता में प्रकृति के उपकरणों का बड़ा हाथ है। मेरे कहने का मतलब यहाँ केवल आपेक्षिक अथवा तुलनात्मक ही है, क्योंकि दार्शनिक दृष्टि से देखें तो भी और साधारण दृष्टि से विचार करें तब भी बाह्य अभिव्यक्ति तो प्रकृति के सहारे होती ही है। छायावादी रूप-विधान की चाक्षुषता का सारा श्रेय प्रकृति के आश्रय को ही है। चित्रात्मकता का यह गुण आलंकारिक दृष्टि से 'मानवीकरण' या 'चेतनारोप' के नाम से अभिहित हुआ है। ध्वनि या स्वर द्वारा अर्थ को झंकृत करने का शैली-विधान भी बहुत कुछ 'मानवी करण' से ही सम्बद्ध है। उसमें भी कितने ही अंशों में जड़ या निर्जीव वस्तुओं पर सजीव प्राणियों की प्रवृत्तियों एवं क्रियाओं का आरोप किया जाता है। निराला की बादल के प्रति कही गई प्रसिद्ध कविता में 'नादार्थव्यंजना' अथवा ध्वन्यर्थ व्यंजना की सृष्टि बहुत कुछ बादल के 'मानवीकरण' द्वारा ही सिद्ध हुई है। 'विशेषण विपर्यय' की शैली-प्रवृत्ति भी 'मानवीकरण' से सम्बद्ध है, क्योंकि निर्जीव 'विशेष्यों' के साथ सजीवता से सम्बद्ध क्रियाओं का आरोप कराने वाले 'विशेषण' ऐसे स्थलों पर प्रयुक्त होते हैं। 'इस विकल वेदना को ले किसने सुख को ललकारा'-('आँसू') में 'विकलता' की दशा 'सजीव' अथवा 'सप्राण' वस्तु का धर्म है, और उसका आरोप 'विकल' विशेषण द्वारा 'वेदना' पर किया गया है, जो स्वयं एक मानसिक अनुभूति अथवा दशा है। इसी प्रकार विरोध एवं वैषम्य पर आधृत जितनी भी अभिव्यक्ति रीतियाँ हैं और जो पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा छायावादी काव्य में अधिक तीव्रता एवं अवधारणा के साथ अपनाई गई है वे भी चाहे बंगला-प्रभाव

हो अथवा अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी पुनर्जागरण का प्रभाव, मानवीकरण की प्रवृत्ति के भीतर ही आ जाती हैं। आगे इन प्रवृत्तियों की कुछ विस्तार के साथ व्याख्या-परीक्षा होगी। यहाँ तो इतना ही संकेत करना लक्ष्य है कि छायावादी अभिव्यक्ति-शैली की कुछ नवीन लगने वाली प्रवृत्तियाँ अधिकतर 'मानवीकरण' से सम्बद्ध हैं, और 'मानवीकरण' की प्रवृत्ति स्वयं 'चित्रात्मकता' से प्रेरित है, जिसका लक्ष्य एक ओर यदि सूक्ष्म व्यंजना से कथन की मार्मिकता बढ़ा देना है तो दूसरी ओर पाठक की 'ग्राहक-कल्पना' को एक चाक्षुष एवं श्राव्य आधार प्रदान कर संवेदना के मार्ग को प्रशस्त करना है। इस 'मानवीकरण' अथवा 'अचेतन पर चेतन के आरोप' की प्रवृत्ति बीज रूप से सभी युगों एवं समस्त सभ्य भाषाओं में वर्तमान है जो निरन्तर एवं दैनन्दिन प्रयोग की बहुलता से कहीं 'रूढ़ि' हो गयी है और कहीं अलंकार विशेष में परिगणित हो गई है।

हमारे यहाँ 'अलंकारवादियों' ने उक्ति-वैचित्र्य पर विशेष ध्यान दिया, रसवादियों ने 'विभाव' एवं 'अनुभाव' के भीतर चाक्षुष प्रत्यक्षता की महत्ता स्वीकार करते हुए भी विषय अथवा वर्ण्य के स्थूल रूप तक घिरे रह गये (वे भाव-निरपेक्ष थे, ऐसा मैं नहीं कहता। यहाँ मैं केवल अभिव्यक्ति के बाह्य रूप का विश्लेषण कर रहा हूँ, उसके प्रभाव का नहीं) 'रीति'-वादी भाषा सौन्दर्य में ही उलझे रहे। 'ध्वनि'-वादियों ने अर्थ-विस्तृति की मार्मिकता को काव्य में प्रतिष्ठित किया। 'वक्रोक्ति'-वादियों ने भी कवि-व्यापार को प्रधानता देते हुए प्रमुखतः कथन-सौन्दर्य के ही द्वारों का ही संकेत किया। 'औचित्य'-वादी ने सामाजिक मान्यता एवं समाज के सामूहिक संस्कारों की अपेक्षा को महत्व दिया, पर भाव एवं अनुभूतियों को समान प्रभाव डालने वाले चित्रों द्वारा अभिव्यक्त करने की शैली मुख्य रूप से छायावादी-युग में ही अपनाई गई। मेरे कहने का यह तात्पर्य्य नहीं कि यह प्रवृत्ति

मूलतः नवीन एवं अकिंचिद्दृष्टपूर्व अविष्कार है। मेरा मतलब केवल प्रामुख्य एवं अवधारण से है। यही चित्रात्मकता अलंकारों में किंचित् परिवर्तित रूप से उत्प्रेक्षा में आई है, एक तो 'उत्+प्र+ईक्षा'' होने से दूरारूढ़ सूझ को इतना महत्व मिलने लगा कि प्रभावसाम्य की दृष्टि ही गौण हो गई, दूसरे 'मानो' 'मनु' 'मनहु'-आदि वाचकों के प्रयोग ने भी प्रस्तुत-अप्रस्तुत के बीच की खाई का काम किया। गम्योत्प्रेक्षा में वाचक तो नहीं रहे, पर दूरारूढ़ सम्भाव्यता की बाधा वहाँ भी बनी रह गई। अतएव इस अलंकार का सम्बन्ध साहित्य में आकर प्रभाव साम्य से न होकर विकल्पना के वैचित्र्य से ही अधिक निकट का रहा। छायावादी शैली में 'प्रस्तुत' के वर्णन के समय 'अप्रस्तुत' ही प्रमुख रूप में लाये जाते हैं और प्रभाव-साम्य के आधार पर इन 'अप्रस्तुत' उपकरणों से ऐसा चित्र उपस्थित किया जाता है कि पाठकों की ग्राहक-कल्पना उसे अपने भीतर अंकित कर सज्जन्य प्रभाव की अनुभूति कर लेती है। 'प्रसाद' जी की लेखनी द्वारा प्रस्तुत 'कामायनी' में 'श्रद्धा' की मुस्कान का निम्न चित्र उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किया जा रहा है।

> ''और उस मुख पर वह मुस्कान,
> रक्त किसलय पर ले विश्राम
> अरुण की एक किरण अम्लान
> अधिक अलसाई हो अभिराम

मुस्कान 'प्रस्तुत' के लिए 'रक्त किसलय पर अरुण की एक अम्लान अधिक अलसाई अभिराम किरण का चित्र उपस्थित किया गया है, जो अप्रस्तुत' है। ओष्ठ की लालिमा एवं म्रदिमा के लिए रक्त किसलय, मुस्कान की कोमल आभा के लिए प्रभात के सूर्य-अरुण की अम्लान किरण लाये गये हैं। मुस्कान के विलास की व्यंजना के लिए 'अलसाई', -विशेषण का प्रयोग हुआ। इस प्रकार एक सद्यस्फुटित

'कोमल' लाल, किसलय पर प्रभात की अरुण रश्मि के अम्लान अभिराम सालस रूप की कल्पना कर पाठक श्रद्धा के मुस्कान की अनुभूति प्राप्त करेगा। कवि ने प्रभाव का वाच्य-कथन नहीं किया, पाठक को समान प्रभाव डालने वाला, सुपरिचित उपकरणों से रचित एक चित्र दिया। प्रभाव की अनुभूति स्वयं पाठक अपनी क्षमतानुसार कर लेगा! यहाँ मुस्कान के प्रत्यक्षीकरण के लिए कवि ने चित्र का सहारा लिया है। इस चित्रात्मक व्यंजना का उत्कृष्टतम रूप और प्रौढ़तम विकास 'प्रसाद' जी की कामायनी में श्रद्धा के रूप-वर्णन का स्थल है। रूप-वैभव, उदात्त सुषमा कल्पना का रमणीय भावानुसारता एवं चित्रात्मक संकेत अपनी चरम सीमा पर चमकते हुए दिखाई पड़ते हैं।

प्रकृति-दृश्यों एवं घटना-व्यापारों की बिखरी रेखाओं में अपनी भावुक कल्पना का रंग भर ऐसे कमनीय चित्र अङ्कित किये गये हैं कि उनमें विद्युत्प्रकाश की भांति एक नवीन सौन्दर्य झांक उठता है। नित्य-प्रति देखे गये, अति परिचय की धुंध से धूमिल दृश्य, कल्पना भावुकता के ताप से कुन्दन की भाँति दहक उठते हैं। सुश्री महादेवी वर्मा की कल्पना-तूलिका से उतारा गया संध्या का चित्र कितना रंगमय है और साथ ही कितना स्पष्ट—

> "गुलालों से रवि का पथ लीप,
> जला पश्चिम में पहला दीप,
> विहंसती सन्ध्या भरी सुहाग,
> दृगों से झरता स्वर्ण-पराग।"

स्थूल एवं चाक्षुष प्रत्यक्ष विषयों के चित्र तो खींचे ही गये हैं, सूक्ष्म एवं आकार-हीन भावों के भी साकार चित्र उतारे गये हैं। 'कामायनी' में लज्जा, चिन्ता, काम आदि अशरीरी भावों के शरीरी चित्र अंकित किये गये हैं—

'लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंजन सी लगती,
कुंचित अलकों में घुँघराली
मन की मरोर बनकर जगती।

चंचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली,
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ,
जो बनती कानों की लाली।'

—('कामायनी'—'लज्जा')

अन्तिम पंक्तियों के चित्र की गत्यात्मकता भी दर्शनीय है। कान के मसलने पर ललाई आ जाना और लज्जा के उदय के साथ कपोलों एवं कानों तक एक अरुणाभा का चमक उठना, साथ ही लज्जा के नियंत्रण से यौवन-सहज वृत्तियों का संयमन-परिसीमन—आदि समस्त भाव-व्यापार कल्पना के सामने क्रमशः साकार हो उठते हैं। छायावादी काव्य में चित्र-कला के विधान का समुचित लाभ उठाया गया है। चित्र में गति नहीं और काव्य में साकारता की परापेक्षता है। इस प्रकार काव्य की गत्यात्मकता में चित्र की साकारता मिलकर गम्भीर प्रभाव की सृष्टि करती है, यद्यपि छन्द, भाषा, संगीत एवं अलंकार सभी भावों की सूक्ष्मता को ही आकार देने के साधन हैं, किन्तु अपने अन्तर्जगत् की सूक्ष्मानुभूति एवं भावों के मधुरालोक को उनकी समस्त परिपूर्णता, यावत् प्रभाव-प्रवेदन के साथ व्यक्त कर देने की कवि की प्राण-प्रवेग-मयी विकलता अभिव्यक्ति के नित्य-नवीन द्वारों की खोज में मधुकरी की भाँति मँडराती फिरती है। अनुभूति की सूक्ष्मता को अविकल-अक्षत रूप में व्यक्त कर पाने की असमर्थता ही कवि को चित्र-विधान की ओर

प्रेरित करती है। किन्तु इस चित्र विधान-शैली की अपनी सीमाएँ भी हैं और सावधानियाँ भी। चित्र-विधान से जहाँ एक ओर भावों में उदात्त प्रसार एवं व्यापकता के साथ-साथ अर्थ-छाया की विविधता (डिफरेंट शेड् आव मीनिंग) प्राप्त हो जाती है, वहीं उचित एवं तीव्रप्रभाव-साम्य पर अप्रस्तुत प्रकरणों के न आधृत होने से ऊहात्मक कुतूहल के अतिरिक्त पाठकों के हाथ अन्य कुछ भी न लाने का संकट भी वर्तमान होता है। बात कुछ उलटी सी भले लगे, किन्तु चित्र-विधान में 'सूक्ष्म' के 'मूर्त्त'-विधान में भी चित्रात्मकता है ही, 'मूर्त्त' के 'अमूर्त' अथवा 'सूक्ष्म'-विधान में भी चित्रात्मकता ही कवि का लक्ष्य है और पाठक पर ऋणात्मक ढंग से प्रभाव भी चित्रात्मक ही पड़ता है। चित्र की रंग रेखाएँ अपने में ही पूर्ण अतः स्वयं अपना लक्ष्य नहीं होतीं, लक्ष्य तो होता है उन रंग-रेखाओं द्वारा अभिव्यक्त भाव या व्यापार अथवा दशा और उनमें प्राण-सा पिरोया हुआ सूक्ष्म सत्य। जब किसी स्थूल वस्तु की उपमा सूक्ष्म या आकाररहित वस्तु से दी जाती है या रूपाकारवान् 'प्रस्तुत' के लिए 'रूपाकार-हीन 'अप्रस्तुत' का विधान किया जाता है, तो 'रूप' पर 'अरूप' के आरोप होने से उस 'रूप' के भीतर से 'अरूप' सत्य इस प्रकार झलमला उठता है जैसे चित्र के स्थूल उपादानों के बीच-बीच से उसमें व्यंजित सत्य। इस आन्तरिक सौन्दर्य के भीतर से झलमलाने के कारण पाठक या श्रोता का 'चाक्षुष' प्रत्यक्ष चित्रात्मक ही होता है। इस प्रकार छायावाद 'स्थूल' का स्थूल चित्र या 'सूक्ष्म' का स्थूल चित्र ही नहीं, 'स्थूल' के भीतर छिपे हुए 'सूक्ष्म' का भी सूक्ष्म चित्र उपस्थित करता है। 'सूक्ष्म' का 'सूक्ष्म' रूप-विधान निराला, की 'संध्यासुन्दरी' कविता की निम्न पंक्तियों में दर्शनीय है !

अलसता की-सी लता किन्तु कोमलता की वह कली,
सखी नीरवता के कंधों पर डाले बाँह,
छांह सी अम्बर पथ से चली।'

सूक्ष्म-शरीरिणी संध्या को अलसता की लता, कोमलता की कली और छाँह-सी कहना तथा नीरवता को उसकी सखी कहना 'अरूप' संध्या का 'अरूप' चित्र है, जिसमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों ही अरूप अथवा सूक्ष्म हैं। कामायनी में, मनु ने आत्म-परिचय देते समय अपनी ('स्थूल') की उपमा वायु की एक हलकी तरंग शून्यता के उजड़े-से राज, विस्मृति के एक अचेत स्तूप, ज्योति के धुँधले में प्रतिविम्ब, जड़ता की जीवन-राशि, सफलता के संकलित विलम्ब आदि ('सूक्ष्म' अप्रस्तुतों) से दी है। ये अरूप अप्रस्तुत मनु के भीतर के सूक्ष्म भावों एवं अशरीरी अनुभूतियों की व्यञ्जना को चित्र की भाँति स्पष्ट एवं प्रभविष्णु बना देते हैं। अशान्ति की निरन्तर एवं निरुद्देश्य गतिशीलता, भीतर की भाव कल्पना की स्फूर्तियों से रहित शून्यता की दशा, विस्मरण की जड़ता, जीवन की रंगीनियों से रहित जिज्ञासा की अस्पष्टता, अकर्मण्यता, सफलता तक न पहुँच पाने की अधीर विकलता आदि सभी मनःस्थितियाँ मनु की स्थूल काया के भीतर से पाठकों के नेत्रों में जगमगा उठती हैं। छायावादी कवियों में कविता के विषय में यह एक सामान्य मान्यता-सी भासित होती है कि कविता हृदय का उद्रेक एवं एक स्वाभाविक उन्मेष है। इस मान्यता के पीछे भी उनके व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का आग्रह है। इस कारण व्यक्ति के मानस के जितने स्तर एवं जितने विविध कोण इस काव्य-धारा में प्रकाश पा सके हैं, अन्य युग के काव्यों में उतने नहीं। किन्तु इस मान्यता से एक हानि भी हुई कि नवयुवक एवं नवोदित कवियों ने काव्य रचना के लिए संस्कार एवं साधना की आवश्यकता ही कम समझी, अतः उक्ति स्पष्टता एवं भाव-परिष्कार को क्षति भी पहुँची। समर्थ एवं प्रतिभाशाली कवियों के निकट इस मान्यता का इतना ही अर्थ रहा कि उन्होंने अपनी भावनाओं पर द्विवेदी-युगीन नियंत्रण का अंकुश नहीं स्वीकार किया और जीवन-जगत् के प्रति अपनी स्वतन्त्र

प्रतिक्रियाओं एवं सहज वृत्तियों को अभिव्यक्त किया। यद्यपि जाने-अनजाने द्विवेदी युगीन अंकुश ने भी छायावादी अभिव्यक्तियों को ऋणात्मक ढंग से ही सही, कुछ प्रभावित अवश्य किया है। समर्थ एवं सधी और सबल काव्य-प्रेरणावाले कवियों ने तो अपनी साधना से कला की अभिव्यक्ति को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की और 'मूर्त्त' नहीं 'अमूर्त्त' के भी ऐसे सफल चित्र उपस्थित किये कि खड़ी बोली की इस अद्भुत अभिव्यक्ति-शक्ति पर चमत्कृत हो जाना पड़ता है, किन्तु साधारण कवियों ने अपनी कायिक क्षुधा एवं भावनाओं की असत्यता पर आवरण डालने का असफल प्रयत्न भी किया, जिसके परिणाम-स्वरूप अस्पष्टता की वृद्धि हुई और विरोधियों को अवसर मिला। 'स्थूल' के भीतर से 'सूक्ष्म' के उभार की यह प्रवृत्ति दुहरी लक्षणाओं के द्वारा सूक्ष्म के भीतर से भी 'सूक्ष्म' को संकेतित करने की ओर भी बढ़ गई है। जीवन की राह की विवशता एवं नीरसता की अभिव्यक्ति करते हुए श्री 'नरेन्द्र' की उक्ति है।

'ऊब गया हूँ जिससे, पूरी होती हाय न जो चलते,
इस खँडहर के बीच भाग्य की रेखा सी है मेरी राह!'

चित्रात्मक अभिव्यक्ति का एक लाभ यह भी है कि अनुभूतियों का परिष्कार हो जाता है और व्यक्तिगत आवेश का फेन भी छन जाता है।

छायावादी काव्य कला-युक्त काव्य है। उसमें अनुभूति एवं सौंदर्य की कलात्मक व्यञ्जना की गई है। कला के इस सुनहले-रुपहले आवरण के बीच से भावों की झाँकी का सौन्दर्य जहाँ कला-मर्मज्ञों के निकट पड़ जाता है, साधारण पाठक के हाथ केवल विस्मय और चमत्कृत ही लग पाती है। 'फेलो गो बसन फेलो घुचाओ अञ्चल, पोरो शुधु सौंदर्जेर नग्न आवरण सुर बालिकार वेश किरण बसन।' कवीन्द्र रवीन्द्र की भाँति

वह नग्न निरावरण सौन्दर्य की अनुभूति की कामना भले ही करें, किन्तु अभिव्यक्ति में वह उस अनुभूति को कला के आवरण से ही व्यक्त करेगा। उद्रेक-उन्मेष के आधार पर कविता करने के कारण मनोमुद्रा विशेष पर ही कविता आधृत होती है। अतः उसके सौन्दर्य-ग्रहण एवं रस-पान के लिए एक व्यापक सहानुभूति एवं विकसित बोध-क्षितिज की आवश्यकता होती है। असमर्थ प्रतिभावाले कविमानी व्यक्ति के लिए अस्त-व्यस्त सूझों एवं अव्यवस्थित कल्पना-विकल्पना की भी आड़ मिल जाती है, और यही छायावादी काव्य-प्रसूति का दुर्बल विन्दु भी है।

छायावाद को भारतीय साहित्य-शास्त्र की अनुपम देन 'ध्वनि' से निम्नतर 'लक्षणा' का व्यापार मान उसे हेय सिद्ध करने का प्रयत्न एक ऐतिहासिक सत्य है। उसे रस-हीन या रस-विरोधी कहकर कोरी चमत्कार-पद्धति पर आधृत वक्रोक्ति काव्य (कुन्तल की वक्रोक्ति के सच्चे अर्थ में नहीं) भी बताया गया है। छायावाद के विरोधियों में एक वर्ग ऐसा पूर्वाग्रही था कि वह इसे हर प्रकार से हीन-हेय ही सिद्ध करना चाहता था। इसके लिए उसने दो पूर्वाग्रहों की खोज की, एक तो यह कि यह अँगरेजी और बँगला का जूठन है अतः विदेशीय एवं त्याज्य है, दूसरे यह कि यह कोई नवीनता या मौलिकता नहीं यह तो अपने यहाँ पहले से भी मौजूद था और हमारा काव्य—शास्त्रीय विकास उसे बहुत पीछे छोड़ आया है। एक बड़े कुतूहल की बात यह है कि एक ही व्यक्ति में दोनों मान्यताओं की स्थिति साथ-साथ दिखाई पड़ती है। न इसे हीं अस्वीकार किया जा सकता है कि छायावाद को विदेशी या अँगरेजी बँगला से भी प्रेरणा मिली है, और न इसे ही इनकार किया जा सकता है कि छायावाद में लाक्षणिकता का सहारा लिया गया है। प्रश्न तो यह है कि इन सबका उपयोग कैसा हुआ है और उससे वस्तु बन कैसी पायी है। उससे अपनी परिस्थितियों का सम्बन्ध है अथवा

नहीं और अपनी साहित्यिक परम्परा को वह आगे बढ़ाती है या नहीं! छायावाद को 'वक्रोक्ति'-वादी एवं 'अभिव्यञ्जनावादी' कहकर उसमें कृत्रिमता एवं श्रम साध्यकला का आरोप किया गया है। 'छायावाद का शास्त्रीय परीक्षण' नामक अध्याय में राजानक कुन्तक की 'वक्रोक्ति' पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है, जिससे यह सिद्ध है कि उसमें मात्र उक्ति की वक्रता पर बल नहीं दिया गया है, बल्कि उसमें कविता के सभी आधायक-विधायक तत्व उचित ढंग से समाविष्ट हुए हैं और उसमें श्रोता या पाठक की दृष्टि से व्याख्यान कर कवि मानस की काव्य-प्रक्रिया के विश्लेषण से प्रस्थान किया गया है। 'अभि-'व्यञ्जनावाद' पर भी कुछ विस्तृत रूप से विचार तो 'छायावाद एवं अभिव्यंजनावाद' शीर्षक अध्याय में होगा, किन्तु यहाँ इतना कह देना कदाचित् अनुचित एवं अनावश्यक न होगा कि 'अभिव्यंजनावाद' भी काव्य विषय अथवा 'प्रस्तुत' की उपेक्षा करने वाला सिद्धान्त नहीं। वस्तु को मूल मानने के बाद ही उसमें अभिव्यक्ति की महत्ता का विस्तार हुआ। 'छायावाद' को जब मैं एक शैली-विशेष के रूप में ही पूर्वयुग के काव्य से विलग करता हूँ तो मेरा यह मन्तव्य कदापि नहीं कि छाया-वादी काव्य में शैली-वैचित्र्य के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। छाया-वादी काव्य में कुछ है और नवीन तथा प्रगतिशील तत्व भी, किन्तु विषय-संबंधी सिद्धान्त की स्थापना कर मुझे छायावाद को पूर्ववर्त्ती काव्य से अलग करना इसलिए वैज्ञानिक नहीं लगता कि कठोरता के साथ (उतनी भी कठोरता जितनी कि साहित्य में निबह सके) एक ही सिद्धान्त का सर्वत्र पालन नहीं हुआ है, और विषय के क्षेत्र में किसी एक सिद्धान्त की लक्षण रेखा काव्य को एकदेशीय के अतिरिक्त और कुछ बना भी नहीं सकती। भारतीय साहित्यचिन्तकों ने सम्भवतः यही समझ कर अपने यहाँ रचनाप्रक्रिया या लक्ष्य को लेकर ही वादों का विधान किया है, विषय को लेकर नहीं। छायावादी काव्य नवीन अनुभूतियों

एवं समकालीन जीवन द्वारा प्राप्त भावों की प्रेरणा से उठा है, किन्तु इन भाव-वृत्तियों एवं अनुभूति-कोटियों से 'छाया' से कोई सम्बन्ध नहीं। गलत या सही, जब 'छायावाद' नाम स्वीकार ही कर लिया, तो उसकी कुछ वैज्ञानिक एवं संगत व्याख्या तो होनी ही चाहिए। विरोधियों ने छाया का अर्थ शैली-गत ही लिया है। 'प्रसाद'जी ने भी अपने 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक निबंध में छाया की जो व्याख्या की है वह शैली-परक है। उनके 'आन्तरिक या अन्तः-सौन्दर्य' का संकेत भी कवि के मन में विषय द्वारा प्रेरित वह भाव-प्रभाव ही है, जिसे छायावादी कवि सबसे अधिक प्रधानता देता है और जो काव्य-प्रक्रिया की ओर ही इङ्गित करता है। इस सम्बन्ध की विस्तृत-चर्चा 'छाया-वाद का निरूपण' शीर्षक अध्याय का विषय है। यहाँ मेरे कहने का मात्र इतना ही उद्देश्य है कि छायावादी काव्य-धारा में अभिव्यञ्जना या शैली ही सब कुछ नहीं है और विषय नगण्य या उपेक्षणीय समझा जाता है, वरन् छायावाद अभिव्यक्ति को उसका उचित श्रेय प्रदान करता है।

'धर्म' के लिए 'धर्मी', 'भाव' के लिए 'क्रिया-व्यापार', 'धर्मी' के लिए 'धर्म' का विधान, 'ध्वन्यर्थ व्यंजना', 'विशेषणविपर्यय', 'अङ्ग' के लिए 'अङ्गी' एवं 'अंगी' के लिए 'अङ्ग' का प्रयोग 'प्रतीक विधान', नवीन छंदों की खोज, गेयता एवं संगीतात्मकता का प्रयोग, नव-शब्द-निर्माण, 'अप्रस्तुतों' का नव-शोध, छन्द-वैविध्य, अलं-कारों के उपयोग प्रयोग की सतर्कता—आदि तथ्य भी कलातत्व से ही संबद्ध हैं, और छायावादी काव्य-साधना ने इस दिशा में भी नवीन स्थिति ग्रहण की है, किन्तु पिष्ट-पेषण को बचाने के लिए यहाँ इसका विस्तार नहीं किया जा रहा है, क्योंकि 'छायावाद का शास्त्रीय परीक्षण', 'छायावाद की देन', 'छायावाद की छन्द-चेतना' आदि अध्यायों में उनका यथा-स्थान विवेचन उपस्थित किया गया है।

हाँ, यह कह देना तो आवश्यक ही है कि 'पन्त' जी अपनी इधर की नवीन कृतियों में 'सीता'-'राम' आदि पौराणिक पात्रों को 'प्रतीक'-रूप में ग्रहण कर, नये जीवन की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ छायावादी कला-विधान पर आचार्य 'शुक्ल' की कुछ मान्यताओं पर भी संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए। छायावादी लाक्षणिकता की प्रतिक्रिया में, उन्होंने अपने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नामक लेख के १८२ पृ॰ पर यह सिद्ध किया है कि वाच्यार्थ ही काव्य की रमणीयता का मूल स्रोत है। उन्होंने 'लक्षणा' एवं 'व्यंजना' के 'वाच्यार्थ' (अयोग्य अथवा अनुपपन्न) को ही चमत्कार-पूर्ण अनुरंजन या इसका कारण माना है। उदाहरणों द्वारा उन्होंने यह सिद्ध किया है कि संकेत या अनुमान से प्राप्त अर्थ, स्वयं कोई चमत्कार नहीं रखता। पर इस विवेचन में एक बात भुला दी गई है कि जब तक पाठक या श्रोता 'योग्य' या 'उपपन्न' अर्थ (लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ) का आलोक नहीं पा लेगा, तब तक वह 'अयोग्य' एवं 'अनुपपन्न' अर्थ ('लक्षणा' एवं 'व्यंजना' के वाच्यार्थ) में रमण भी नहीं कर सकेगा। 'अयोग्य एवं अनुपपन्न'-अर्थ सोपान हैं उस 'योग्य' एवं 'उपपन्न' अर्थ की प्राप्ति एवं उसके अनुकूल भावरमण का। फिर यदि रस-चर्वणा में 'अभिधा' का यह माहात्म्य मान भी लिया जाय तो भी छायावादी लाक्षणिकता का, किसी प्रकार उत्पाटन सिद्ध नहीं होता। छायावादी काव्य में भी 'शुक्ल' जी की शब्दावली में 'उपपन्न' एवं 'अनुपपन्न' दोनों ही अर्थ होंगे ही, रमण-प्रक्रिया में चाहे जिसे महत्व दें।

'शुक्ल' जी ने क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' पर, अभिव्यंजना (इक्स्प्रेशन) की प्रधानता एवं एकान्त महत्व तथा 'भाव' या 'प्रस्तुत' की उपेक्षा का आरोप लगाते हुए, छायावादी काव्य के सम्पूर्ण प्रसार को ही इस दोष से दुष्ट माना है। लगभग प्रत्येक प्रमुख छायावादी कवि ने आन्तरिक प्रेरणा, आन्तरिक अनुभूति एवं उन्मेष-उद्रेक को

किसी न किसी रूप से प्रधानता दी है। फिर 'शुक्ल' जी में जाने कहाँ से यह दृढ़ विश्वास बन गया कि यावत् छायावादी काव्य अभिव्यक्ति, अथवा अभिव्यंजनावादी हैं। अपने उक्त लेख के पृ० २१२ पर, आधुनिक हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र पर लगायी गयी आरोप-सूची में उन्होंने 'प्रस्तुत के मार्मिक रूप-विधान के स्थान पर कल्पना के सहारे किये गये प्रचुर 'अप्रस्तुत-रूप-विधान' को प्रथम दोष कहा है। 'पन्त' जी की कुछ कविताओं के कल्पनातीत 'अप्रस्तुतों' के उदाहरण द्वारा इस सत्य पर पर्दा नहीं डाला जा सकता कि छायावादी काव्य-धारा में आधा अधिकांश 'अप्रस्तुत-विधान' कल्पना-प्रेरित नहीं भाव-प्रभाव-प्रेरित है। उसमें 'प्रभाव-साम्य' की प्राण-धारा का रमणीय सम्बन्ध है।

जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर सच्ची भावानुभूति में लीन कराने का प्रयास छोड़ कर, केवल अभिव्यंजना या उक्ति-वैलक्षण्य लाने का प्रयत्न के आरोप का एकमात्र उत्तर 'कामायनी', 'राम की शक्ति-पूजा', 'तुलसी दास', 'परिवर्तन', 'ग्रंथि' एवं महादेवी जी के गीत हैं, जिनमें मार्मिकता एवं जीवन की गहन अनुभूति विचित्र प्रभाव के साथ उपस्थित हुई हैं। उक्त निबन्ध के पृ० १६५ पर 'शुक्ल' जी ने जिस भावानुभूति के महत्व पर कहा है कि तब (आदि) से आज तक संसार की प्रत्येक सच्ची कविता की तह में भावानुभूति आत्मा की तरह रहती चली आ रही है। काव्य में भाव के 'आलम्बन' (कभी कभी उद्दीपन) के रूप में ही जगत् की किसी वस्तु का ग्रहण हो सकता है, और किसी रूप में नहीं।' पृ० २१२। उक्त निबंध के अनुसार जो 'विश्व-व्यापिनी' एवं 'त्रिकाल-वर्तिनी' अनुभूति है, वही छायावादी कवियों का भी साध्य है। 'प्रस्तुत' के स्थान पर 'अप्रस्तुत' के विधान द्वारा उन्होंने उसी की चित्रात्मक अभिव्यक्ति को प्रधानता दी है, 'अलंकार-वाद' को नहीं। यदि 'रहस्यवाद' एवं 'छायावाद' की अर्थाभिव्यक्ति-शैलियों में अपवादों को छोड़कर, एक स्थूल एवं सामान्य विभेद करने का प्रयत्न किया

जाय, तो कह सकते हैं कि 'रहस्यवाद' की शैली जब कि 'अन्योक्ति-प्रवण' है, तो 'छायावाद' की 'समासोक्ति-प्रवण'। 'अन्योक्ति' में 'अप्रस्तुत-पक्ष' की ही प्रधानता होती है और 'अप्रस्तुत'-अर्थ ही कवि का अभिप्रेत होता है। महादेवी की निम्न पंक्तियों में 'दीपक', जिसका वर्णन ही 'प्रस्तुत' विषय है, प्रधान नहीं, वहाँ तो आत्मा-पक्ष में किया गया अर्थ ही इन पंक्तियों का प्राण है—

"शलभ मैं शापमय वर हूँ !
किसी का दीप निष्ठुर हूँ !
शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सवेरा
प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अँधेरा
मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूँ।"
—('सांध्यगीत' से)

निम्न पंक्तियों में 'ओस' का अर्थ प्रधान नहीं, वरन् 'भोली आत्मा' का अभिप्राय ही लक्ष्य है—

"विश्व के शतदल पर अज्ञात
ढुलक जो पड़ी ओस की बूँद
तरल मोती सा ले मृदु गात,
नाम से, जीवन से अनजान,
कहो क्या परिचय दे नादान।"
—('रश्मि' से)

'समासोक्ति' में 'प्रस्तुत' अर्थ के साथ ही किसी अन्य 'अप्रस्तुत'-अर्थ का भी बोध होता है, पर वह 'अप्रस्तुत' अर्थ भी कवि का उद्दिष्ट होता है। छायावादी काव्य इस जगत् और इसकी पार्थिव सत्ता में विश्वास करता और उसका मूल्यांकन करता है, इसलिए 'छायावाद'

में 'रहस्यवाद' की भांति 'प्रस्तुत' कथन केवल माध्यम या निमित्त-मात्र नहीं रहता, वरन् लक्ष्य या साध्य भी होता है। जहाँ 'रहस्यवाद' में किसी लोक-व्यवहारोत्तर सत्य की व्यंजना ही कवि का लक्ष्य होती है, वहाँ छायावादी अपने 'अप्रस्तुत' अर्थ में भी इसी लौकिकता का संकेत कर पार्थिवता की दुहरी अभिव्यक्ति कराता है। एक ओर तो उसके प्रकृति के साधन-उपकरण प्रकृति का रूप-निरूपण करते हैं और दूसरी ओर यथा-स्थान 'अप्रस्तुत' अर्थ में इसी लोक-व्यवहार के प्रति उसके हृदय में उठी रागात्मक आन्तरिकता का भी मर्म स्फुरित करते चलते हैं। 'निराला' की 'जुही की कली' एक ओर प्रकृति के एक मनोरम रूप-व्यापार का उद्घाटन तो करती ही है, पर साथ ही उसमें प्रेयस-प्रेयसी की सरस क्रीड़ा भी व्यक्त होती चलती है। कवि का लक्ष्य दोनों ही अर्थों की अभिव्यक्ति है, केवल एक की ही नहीं। रहस्यवादिनी महादेवी जी ने भी इस पद्धति का अवलम्बन लिया है। निम्न पंक्तियों में गोधूलि में दीप जलाने और किरण रूपी नाल पर घन-रूपी शतदल के खिलने एवं आभा-सरि के क्षितिज-सिन्धु से मिलने के प्राकृतिक व्यापार का अलंकृत वर्णन तो करना ही है, साथ ही शान्त आत्मा के अनन्त परमात्मा से मिलने का संकेत भी अभिप्रेत है—

'गोधूलि अब दीप जला ले!
किरण-नाल पर घन के शतदल,
कलरव-लहर विहग-बुदबुद चल,
क्षितिज-सिंधु को चली चपल,
आभा-सरि अपना उर उमगा।'

'निराला' ने कितनी सुन्दरता से प्रेयसी और यामिनी दोनों का प्राभातिक वर्णन किया है—

"यामिनी जागी
अलस पंकज-दृग अरुण,
मुख तरुण अनुरागी !"

—'निराला'

आचार्य ह० प्र० द्विवेदी ने आधुनिक काव्य को 'व्यंजना'-प्रधान न मानकर शास्त्रीय दृष्टि से 'अभिव्यक्ति' प्रधान माना है। कुछ आलोचकों ने 'निराला' जी के काव्य को व्यञ्जनावादियों को एक झटका देकर अभिधा के सौष्ठव की प्रतिष्ठा करने वाला कहा है। अवश्य ही छायावादी व्यंजना की विशेषता उसके शास्त्रीय परिभाषा के पालन में नहीं है। वरन् वह लाक्षणिकता, रूपकों, समासोक्तियों, अन्योक्तियों एवं प्रतीकों के अभिधेयता-पूर्ण वर्णनों के माध्यम से, छाया या विच्छित्ति के सहारे प्रकट हुई है। दीपक, रात, प्रात, या वसन्त अथवा कली के सांग वर्णनों से एक सूक्ष्म मानवीय एवं आंतरिक सत्य भी व्यञ्जित होता चलता है। अभिव्यक्तियों में भी छायावादी कविता में सहानुभूति करा दी है। 'द्विवेदी' जी को छायावादी शैली 'अभिव्यक्ति'-प्रधान लगी, उसका कारण 'लक्षणा' पर आधारित उसकी चित्रात्मक पद्धति है, जिसे 'शुक्ल' जी ने 'चित्र-भाषा' कहा है। छायावादी व्यंजनात्मकता, केवल कुछ 'अनुभावों' 'हावों' अथवा 'संचारियों' के संकेत द्वारा सहृदयों की सूझ पर छोड़ी गई व्यंजना नहीं है, वह सबल वातावरण और परिस्थिति-चित्रों से झाँकती व्यंजना है।

प्रगीत मुक्तकों की अधिकता एवं प्रबन्ध काव्यों की कमी परिस्थितिवश है, और इसका मूल तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के इतिहास में है। चतुर्थ आरोप का 'अनन्त' एवं 'असीम', उतना दार्शनिक कठोरता युक्त नहीं, जितना 'शुक्ल' जी समझते हैं। उसके मूल में युग का विकसित मनोविज्ञान ही प्रधान है। उनका पञ्चम आरोप, शिल्प के बेल-

बूटे की नकाशीवाली हलकी धारणा का है। यदि पत्र-पत्रिकाओं के अधकचरी प्रतिभा वाले साधना-हीन कवि-मानी इस आरोप के लक्ष्य नहीं तो मैं कहूँगा कि छायावादी लाक्षणिक मूर्तिमत्ता अथवा चित्रात्मक रूप-विधान के प्रति, यह 'शुक्ल' जी की अतिशय कठोरता एवं पूर्वाग्रह का द्योतक है। क्या 'कामायनी' या 'आँसू' में आये 'अप्रस्तुत-विधान' एवं भावानुभूतियों के चित्र मात्र गुलकारी हैं। मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों एवं वृत्तियों के अभूतपूर्व मार्मिक रूप-विधान, एक 'कामायनी' में ही समस्त आरोपों का मुँह बन्द कर देने को काफी हैं। छायावादी अभिव्यक्ति-शैली के संकेत रूप में माँ भारती की यह वन्दना उपयुक्त होगी—

"स्थूल से चेतन, भाव से शब्द में, शब्द से भाव में आज समावो।
रूप से सूक्ष्म में सूक्ष्म से रूप में, आज अव्यक्त से व्यक्त में आवो॥
स्नायुओं में मचलो मत मोद सी माँ, स्वर के चिद् चित्र बनावो।
नाद में ब्रह्म जगाती हुई तुम भारती वीणा सँवारती आवो॥"

———

छायावाद की देन

'छायावाद' हिन्दी साहित्य का एक ऐसा युग है जिसे समझने में हमें बहुत-सी भ्रान्तियाँ हुई हैं! भारतीय-जीवन, परम्परा और रूढ़ियों को मानकर चलने वाला रहा है। कालान्तर में उसमें नवीन परिवर्त्तन आए भी तो, आते-आते स्वयम् कितने ही अंशों में परिवर्तित होकर आए। हमारी साहित्यिक प्रवृत्ति तो और भी परम्परावादी रही है; अतएव सामाजिक जीवन में तो हम अपनी परिस्थितियों और युग की आवश्यकताओं को जाने-अनजाने स्वीकृति देते भी रहे, किन्तु साहित्यिक-क्षेत्र में बड़ी कठिनता से ऐसा सम्भव होता रहा है। हमारे समस्त साहित्य-सिद्धान्त इतनी विवरण-सम्पूर्णता के साथ आते रहे हैं कि उस साँचे में स्वेच्छानुसार परिवर्त्तन की गुंजाइश कम ही रहती रही है। इसी से हमारे भारतीय-साहित्य में अधिकांशतः साहित्य की निश्चित सरणियाँ चलती रही हैं। छायावाद विषय-विस्तार के साथ-साथ अभिव्यक्ति-प्रणाली में भी ऐसी नवीनताएँ लेकर आया कि 'सिद्धों' से लेकर 'आधुनिक युग' के "द्विवेदी-उत्थान" तक की किसी न किसी प्रकार से एक ही तरह पर जमी हुई अभिव्यक्ति-प्रणाली से उसका अन्तर स्पष्ट रूप से उभर उठा और प्राचीन प्रणाली के लोगों के कान खड़े हो गये। साहित्य और भाषा के प्रकाण्ड मर्म-पारखी आचार्य 'शुक्ल' जी भी उसे बहुत समय तक उपेक्षा की ही दृष्टि से देखते रहे। भारतीय-साहित्य में 'सन्तों' की उपेक्षित सेवाओं की ओर हिन्दी वालों का ध्यान आकर्षित करनेवाले पूज्य डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी को भी हिन्दी-साहित्य द्वारा अपनी चिरार्जित 'साधना' के इस सहसा त्याग पर आश्चर्य ही हुआ! वास्तव में हिन्दी में इस प्रकार की क्रान्ति कभी घटित ही नहीं हुई थी। कबीर की क्रान्ति शैली के क्षेत्र में न होकर 'विषय' अथवा

'बोधव्य' के क्षेत्र में ही अधिक महत्वपूर्ण थी। फिर यह प्रश्न बड़ा ही विचारणीय हो जाता है कि जिस छायावाद को 'रवीन्द्रवाद', 'बँगलावाद' 'रवि बाबू की जूठन' और 'थोथा अध्यात्म', 'सजनीवाद', 'अवगुंठन-वाद' आदि कह कर लांछित किया गया, क्या उसमें साहित्य के कुछ पोषणीय-तत्व भी है और क्या वह युग की आवश्यकताओं की प्रेरणाओं से भी परिपोषित है अथवा शब्द-क्रीड़ा-रत कुछ कवि-मानी अहमन्यों का मिथ्या कल्पना-विलास मात्र ही है!

'छायावाद' समाज में चिरकाल से अति-नियंत्रित व्यक्ति के 'मूल्यों' की जड़ एवं जीवन-शोषी नैतिक स्थापनाओं के विरुद्ध, 'उन्मुक्त का विद्रोह' है। "द्विवेदी-युग" आर्य-समाज के चरम-उत्कर्ष का समय था। उसकी विशुद्धतावादी नैतिकता ने समाज की नैतिक-रेखाओं में और भी प्रगाढ़ता ला दी। एक-तन्त्रात्मक शासन-प्रणाली के विरुद्ध पाश्चात्य 'मध्यम-वर्गीय' क्रान्ति की चिनगारियाँ अंगरजी सम्पर्क के वातायनों से आकर भारतीय समाज के गर्भ में एक नवीन ऊष्मा का सृजन कर रही थीं। सामन्तवादिता की शिलाएँ जर्जरित हो चली थीं और पूँजीवादी युग की प्रतिक्रियाएँ भारतीय समाज को भी स्पंदित करने लगी थीं। इस प्रकार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की चेतना वर्द्धमान हो रही थी और प्राचीन काल से चला आता हुआ नैतिकता और समाज-प्राधान्य का साँचा व्यक्ति के निजी विकास के लिए सँकरा पड़ रहा था। समाज की प्रधानता पर आधारित ऊँचे आदर्श नित्य-प्रति के जीवन में अपना खोखलापन प्रकट कर चुके थे। जिस प्रकार समाज और राजनीति के क्षेत्र में गांधी आदि सुधारकों और नेताओं ने वैयक्तिक विकास के क्षेत्र को प्रशस्त करने के लिए आन्दोलन चलाए, उसी प्रकार छायावाद ने साहित्य की भूमि पर व्यक्ति की मुक्ति-चेतना का प्रतिनिधित्व किया। भारी-भरकम सिद्धान्तों की गुणनिका और 'मराठी' की गद्यवत् शुष्कता को हटा कर 'प्रसाद' के स्वरों

में 'छायावाद' ने व्यक्तिगत भावनाओं और आकांक्षाओं का महत्त्वांकन प्रारम्भ किया। अब कविता में कवि-छाप मात्र ही कवि की 'निजी' अभिव्यक्ति की सीमा न रही, वरन् उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसमें जगमगा उठा। 'राधा-कन्हाई' के नाम पर अपने हृदय के विष-ज्वार को न उतार कर, उसने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को महत्व दिया और उसका व्यक्ति उन्मुक्त रूप से गुंजित हो उठा। 'छायावाद' ने एक साथ ही, 'रीतिकाल' के रूप-विधानवादी काव्य और उसकी प्रतिक्रिया में जगकर स्वयं भी रुद्ध-हृदय हो जाने वाले 'द्विवेदी-युगीन' काव्य में, अभिनव भावना-कल्पना से प्रस्पन्दित जीते-जागते हृदय की स्थापना कर दी। बालुका के भीतर भटकती साहित्य-मंदाकिनी ऊपर आकर अपनी मधुर जीवन-दायिनी धारा से युग के सूखे हृदय-कूलों को नवीन भावानुभूतियों और नई आशाकांक्षाओं से परिप्लावित करने लगी। समाज के अनुचित बोझ से मुक्त व्यक्ति, जड़ और बौद्धिक आचार-नियम के नैतिक बोझ से मुक्त-सहज राग-तरंगित हृदय तथा अभिधा-प्रधान बाह्यालंकृति की रुढ़ियों से मुक्त साहित्य, एक साथ ही 'छायावाद' की वीणा से निःसृत प्रभाती की जाग्रति-मयी अलस रागिनी में मुखरित हो उठे। उसके द्वारा हमें एक युगानुकूल नवीन नैतिक दृष्टि मिली है।

'छायावाद' ने हमें वस्तुओं की बाह्य रूप-रेखा और उसकी स्थूल-इतिवृत्तात्मक वर्णना से खींच कर उनके आन्तरिक स्वरूप से परिचित कराया। इस प्रकार हमने अपने से इतर शेष सृष्टि के भीतर भी एक भाव-स्फूर्त हृदय का अनुभव किया। वस्तु के बाह्याकार के भीतर छिपी उसकी आत्मा हमारे सामने अनावृत हो उठी। इसी को 'प्रसाद' जी ने 'बाह्य उपाधि' से 'आन्तर हेतु' की ओर जाना कहा है। प्रकृति से केवल शुष्क और गद्यवत् शिक्षाएँ न ग्रहण कर हमने उसके साथ तादात्म्य अनुभव करने का प्रयत्न किया। 'मानव' और 'प्रकृति' परस्पर सापेक्ष्य हो उठे। कहीं प्रकृति पर मानव-मनोवृत्तियों की छाया आरोपित हुई, कभी हम उसके

करुण-मधुर रूप की स्पृहा में विभोर हो उठे। प्रकृति के विराट् विस्तार के साथ मानव-भावनाओं का व्यायाम हुआ और चिरकाल से 'उद्दीपन' अथवा गौण रूप में गृहीत प्रकृति अपना स्वतंत्र 'आलम्बनत्व' पाकर अपने सम्पूर्ण वरदायिनी रूप में मुस्कुरा उठी। विभिन्न दृष्टि-कोणों से अंकित प्रकृति के हास-विलासमय करुण-मधुर चित्रों से हिन्दी का भवन जगमगा उठा।

'छायावाद' ने हिन्दी में मूर्तिमत्ता और चित्रात्मकता का स्वर्ण-द्वार खोल दिया। प्रकृति के नाना विकीर्ण उपकरण कवि की विशाल कल्पना-पटी पर मनोरम एवं संश्लिष्ट रूप पा सकने में समर्थ हुए। रूपात्मक जगत् के चिर-सम्पर्क से आकर्षणहीन लगने वाले पक्ष भी कल्पना की तूलिका के द्वारा भावुकता के मनोहर रंगों से रंजित होकर, नवीन आकर्षण से चमक उठे। मानव-हृदय की सूक्ष्म वृत्तियाँ तथा अशरीरिणी अनुभूतियाँ भी 'छायावाद' की अन्तरस्पर्शी दृष्टि के सामने साकार हो उठीं। हम 'स्थूल' की बाह्य रेखाओं में इतना उलझ जाते हैं कि हमारे सामने वस्तु का सूक्ष्म सौंदर्य दुर्बोध हो जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म पदार्थों की सूक्ष्मता के चिरसाहचर्य में पड़ कर हम उसकी 'स्थूल' अथवा 'मूर्त्त' भावना से दूर पड़ जाते हैं। छायावाद ने 'मूर्त्त' और 'अमूर्त्त' के बीच प्रस्तुत-अप्रस्तुत-विधान के द्वारा हमें वस्तुओं के उभय-पक्षीय मूल्यों का इन्द्रिय-बोध करा दिया। 'अभिव्यंजना' और 'अभिधान' के बीच लाक्षणिक अभिव्यक्ति सच-मुच एक स्वर्ण-माध्यम है। 'अभिधान' यदि स्थूलता-प्रधान है तो 'अभि-व्यंजना' सूक्ष्मता-प्रधान। अभिधा में यदि 'स्थूल' के आगे 'सूक्ष्म' दब जाता है, तो व्यंजना में 'सूक्ष्म' के आगे 'स्थूल', किन्तु 'लक्षणा' में वस्तु के 'स्थूल' और 'सूक्ष्म'-दोनों ही पक्ष एक मनोहर आलिंगन में आबद्ध दिख-लाई पड़ते हैं। इसी से इन्द्रियों के लिए रूपात्मक आधार और उसके भीतर की अभिव्यंजित सुषमा, दोनों ही लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा सुलभ बन जाते हैं। यद्यपि काव्य-शास्त्रियों ने इसे द्वितीय कोटि ही प्रदान की है,

पर छायावादी कवि इस शास्त्रीय विधान की उलझन में न पड़कर शब्द-शक्ति का यथावत् लाभ उठा सका है। 'कामायनी' में लक्षणा के चूड़ान्त प्रभाव को देखकर कोई उसकी उपयोगिता एवं महत्ता की ओर से आँखें नहीं मूँद सकता। 'उपचार-वक्रता' (साम्य के वक्र और विच्छित्ति-पूर्ण प्रयोग) और 'प्रतीक'-विधान-दोनों में ही लक्षणा का प्रधान आश्रय है। 'छायावाद' ने अधिकांशतः वस्तुओं का मूल्यांकन 'मानव'-अनुभूतियों की तुला पर ही किया है। इसलिए जब हम उन्हें ग्रहण कर लेते हैं, तो उनका हमारे इन्द्रिय-बोधों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। ऐसे स्थानों पर हमारी भावक कल्पना का कार्य भी सहज हो जाता है, क्योंकि उसे सूक्ष्म व्यंजनाओं के सहारे अपने पूर्वानुभव पर पूर्णतः निजी चित्र नहीं खींचना पड़ता, वरन् उसे तो उन चित्रों का उपादान बहुत कुछ उस लाक्षणिक प्रयोग से ही मिल जाता है। इस प्रकार 'अभिव्यंजना' में जहाँ हमें अपने पूर्वानुभूत तथ्य अथवा वासना के ही पुनर्जागरण में रसानुभव प्राप्त होता है, वहाँ 'लक्षणा' की अभिव्यक्ति में हमें कवि द्वारा दृष्ट अथवा अनुभूत-अतएव सुन्दरतर और अधिक परिष्कृत भाव-रूपों के रसानुभव का आनन्द मिलता चलता है। 'छायावाद' का योग इस दिशा में हमारे अतीत काव्य-साहित्य से अवश्य ही नवीन और निजी महत्व का है।

'छायावाद' व्यक्ति की ओर से आदर्श की ओर चलता है, आदर्श की ओर से व्यक्ति की ओर नहीं आता। इसी प्रकार उसका गति-पथ व्यक्ति की ओर से समाज की ओर अग्रसर होता है। इसलिए 'छायावाद' के समझने की प्रक्रिया यह नहीं है कि हम उसमें समाज अथवा लोक-हृदय के सामान्य भाव-धरातल को ढूँढें, वरन् उसे समझने के लिए हमें देखना होगा किस सामाजिक स्थिति और उसकी प्रेरणा ने कवि को किस रूप में स्पर्श किया और कवि के द्वारा उन स्थितियों के मूल्यांकन में कितनी मार्मिकता है? उसमें जीवन-जगत् को परखने और देखने का एक उच्च-स्तरीय बुद्धि और भाव-गत स्तर है। छायावाद ने विचारादर्शों के

प्राचीन जड़ साँचों को तोड़कर एक नवीन अनुभूति और परीक्षण का मार्ग खोल दिया। इस कारण छायावादी काव्य ने अंतरतम में छिपे कितने ही चिर-मुद्रित भाव-कोणों को प्रकाशित किया, मानव की रूप और सौंदर्य-पिपासा के कितने ही चिरावृत पक्षों पर प्रकाश डाला और कल्पना के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरों को उद्‌बुद्धकर एक अननुभूत कुतूहल का जैसे, प्लावन-द्वार उन्मुक्त कर दिया। छायावाद यदि न आया होता तो आज के विकसित मनोविज्ञान के युग में अपनी ऋजु-कुटिल अनुभूतियों को यथातथ अभिव्यक्त करने की हिन्दी में शक्ति ही न आई होती। आज के नाना-भाव-विचारों की ग्रंथियों से भरे समाज में जो हिन्दी विचारों और भावों का माध्यम बन सकती है, वह छायावादी प्रयोगों से सँवारी-सजाई, हिन्दी ही होगी, 'द्विवेदी-युग' की गद्यात्मक रूढ़ पदावली नहीं। 'छाया-वाद' के विरोधी प्रगतिवाद की भाषा भी छायावादी भाषा-प्रवृत्तियों की छाप से मुक्त नहीं हो सकती, क्योंकि 'छायावाद' हिन्दी भाषा के विकास की एक महत्वपूर्ण स्थिति है।

'द्विवेदी-युग' ने हिन्दी-साहित्य को बाह्य यथार्थ से तो अवश्य जोड़ दिया था, पर आन्तरिक यथार्थ से उसे 'छायावाद' ही जोड़ सका। जीवन साहित्य से घुलमिल गया और साहित्य जीवन से ओत-प्रोत हो उठा। लघुता और दुर्बलता की ओर दृष्टि डालने की प्रवृत्ति 'छायावाद' के ही गर्भ से प्रस्फुटित हुई और विश्व के कृष्ण और शुक्ल दोनों ही पक्ष, साहित्य की व्यापक सहानुभूति पा सके। एक शब्द में, आदर्श को जीते-जागते यथार्थ की गोद में सजाने का पहला श्रेय 'छायावाद' को ही है। इसने ही हमारे साहित्य में जीवन को जीवन, मानव को मानव और जगत् को जगत् के रूप में ग्रहण करने की दृष्टि प्रदान की। इसके पूर्व या तो हमारा मानवत्व देवत्व के द्वार पर भीख माँग रहा था, अथवा असुरत्व की पद-शिला के नीचे मनुष्यता का बलिदान कर रहा था। हमने पहले-पहल इसी की छाया तले अपने मानवीय मानों का मूल्य पहचाना। 'छायावाद' ने

हमें स्वर्ग की ऊँची वीथियों और आदर्शों की गगन-चुम्बी मर्मर-चूड़ाओं से नीचे उतार कर स्वस्थ मानवता की भूमि की ओर अग्रसर किया, 'कामायनी' जिसका ज्वलन्त प्रतीक है। साहित्य व्यक्ति, समाज और उनकी परिस्थितियों की चिन्ता का माध्यम बना और हमारे कानों ने सुना—

'हिमालय के आँगन में जिसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
ऊषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार॥
जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक॥'

राष्ट्र के इसी विशाल महिमा-मंडित रूप पर ही सर्व प्रथम पुष्प-चंदन चढ़ा कर हमारा वह स्वातंत्र्य-पथिक चल पड़ा था, जो आज 'बापू' के 'राम-राज्य' के महास्वप्न की छाया में अपना नीड़-निर्माण कर रहा है। 'छायावाद' साहित्य-देवता के अन्तरतम की वह गहन पुकार थी जिसने युग के अन्तर्बाह्य को स्पर्श कर उसमें जीवन की नयी झंकार जगा दी। वह कितने ही सत्यों को जन्म देने वाला स्वप्न था, वह आदर्शों को जन्म देने वाला यथार्थ था; उसमें जीवन को मूर्त बनाने वाली सूक्ष्मता थी; उसमें सूक्ष्मता का सृजन करने वाली मूर्त्तिमत्ता विद्यमान थी। आशा-निराशा, पीड़ा-सुख, आनन्द-विषाद, आलस्य और उत्साह, प्रवृत्ति और पलायन, विजय और पराजय—सारांश यह कि जीवन को सञ्चालित करने वाले द्वन्द्व एक विचित्र रूप में 'छायावाद' के क्रोड़ में सक्रिय रहे हैं और इन सबके साथ शक्ति और दुर्बलता के सम्मिलित परमाणुओं से गठित प्रगतिशील मानव की भाँति 'छायावाद' हमारा अगला ही चरण है।

वर्णन की जानेवाली वस्तु के बाह्याकार के स्थान पर उनकी आन्तरिकता को महत्त्व देकर चलने वाला छायावादी कवि, सदैव जीवन-संवेदनाओं के साथ रहा है। वह जीवन के बदलते हुए मूल्यों के प्रति भी सजग रहा है। अनुभूति और कल्पना का झगड़ा उठाते हुए डा० देवराज ने अपनी 'छायावाद का पतन'-पुस्तक के पृ० २२ पर लिखा है, 'छाया-

वादी काव्य का मेरुदण्ड कल्पना है, उसमें अनुभूति गौण है। अनुभूति को अपनी सत्यता में जितना विश्वास होता है उतनी कल्पना को नहीं; अतः छायावादी कवि आज पुराने पंथों से कतराते दिखाई पड़ते हैं।' छायावादी कवियों ने अपनी मान्यताओं में इसलिए परिवर्त्तन स्वीकार किया कि वे जीवन को जड़-सिद्धान्त के रूप में न लेकर 'विकास' के अर्थ में ग्रहण करते रहे हैं और जीवन की वास्तविक प्रेरणाओं को उन्होंने सम्मान दिया है। अनुभूति ने ही उन्हें विकास की ओर प्रेरित किया है, कल्पना ने नहीं।

'निराला' जी की दार्शनिकता पर आक्षेप करते हुए डा० देवराज ने कहा है कि 'असली दार्शनिकता जीवन और जगत् के व्यापक सम्बन्धों को एक नई दृष्टि से देख सकने की क्षमता का नाम है' (पृ० ५१)। क्या 'निराला' जी आदि छायावादी कवियों ने उस समय के समाज में आयी जीवन-गत विसदृशताओं एवं ठूँठे आवर्जनों के प्रति साहित्य के माध्यम से एक कलात्मक विद्रोह नहीं उठाया ? समाज के सांस्कृतिक गत्य-वरोध को अपने भावावेगों से झकझोरते हुए उन्होने क्या जीवन-जगत् के नवीन मूल्यांकन की दृष्टि का विकास नहीं किया ? समाज और व्यक्ति के बीच अड़े नैतिक मानों के द्वन्द्वों, व्यक्ति के मन में गूँजनेवाले अन्तर्संघर्षों एवं नर-नारी के सम्बन्धों पर आलोक-पात करते हुए इन कवियों ने, मेरी समझ से, एक साम्य-सन्तुलन की आवश्यकता की पूर्ति की ओर ही प्रयाण किया है। छायावादी कवियों ने आत्मा और शरीर के बीच की समरस भाव-भूमि का संकेत किया है। उनकी सौन्दर्य-दृष्टि प्रकृति के सीमित क्षेत्र में ही नहीं समाप्त हो गई है, वरन् उन्होंने सौन्दर्य-दृष्टि का 'काया' की सीमा से प्रकृति के क्षेत्र तक प्रसार किया है। मानव और प्रकृति के बीच स्थित ऐसे चेतन-संस्पर्श के चित्र अन्य युगों में दुर्लभ हैं।

एक ही युग के साहित्य पर एक ही परिस्थिति में और एक ही स्थान पर खड़े होकर विचार करनेवाले हिन्दी के दो प्रख्यात आलोचकों के विचार

कितने विस्मयकारी हैं ! अपने 'छायावादी कविता में असन्तोष-भावना' शीर्षक लेख में श्री शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है कि 'उसमें ('छायावादी कविता में) इङ्गलैंड के रोमांटिक कवियों की संजीवनी-शक्ति आशावादिता और प्रगतिशीलता न आ पाई।' डा० नगेंद्र ने छायावादी युग पर ही अपनी 'विचार और अनुभूति' पुस्तक के पृष्ठ ५३ पर लिखा है कि 'पिछले महासमर के उपरांत यूरोप के जीवन में एक निस्सार खोखलापन आ गया था, जीवन के प्रति विश्वास ही नष्ट हो गया था। परन्तु भारत में आर्थिक पराभव होते हुए भी जीवन में एक स्पन्दन था।' एक विचारक को इस काव्य में आशावाद, संजीवनी शक्ति एवं प्रगतिशीलता का अभाव मिलता है और दूसरे को जीवन का स्पन्दन ! जब तक इस काव्य को विदेशी चश्मों को उतार स्वतंत्र रूप से एक स्वतंत्र काव्य-साधना मानकर समझने का प्रयत्न नहीं किया जायगा, इसके साथ न्याय की आशा नहीं की जा सकती।

नित्यप्रति के व्यवहार में भाषा का उपयोग करते हुए प्रायः हम भूल जाते हैं कि जो भाषा आज हमारी भावाभिव्यक्ति का साधन बनी हुई है, उसकी शक्तियों के विकास और उसके सजाव-सिंगार में जिसने योग दिया होगा, उसमें कितनी क्षमता रही होगी और उसे अपनी इस साधना में कितनी तपस्या करनी पड़ी होगी ! 'द्विवेदी-युग' की भाषा और 'छायावादी-युग' की भाषा के अन्तर को देखकर सहसा आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है कि कुछ दशकों में ही भाषा की दृष्टि से हम कहाँ से कहाँ पहुँच गये ? भाषा-शक्तियों के परिशोध के साथ-साथ नवीन व्यंजना-रूपों के (चित्रात्मकता-प्रतीक-विधान, उपचार-वक्रता, नव्य शब्द-निर्माण, लाक्षणिक वक्रता आदि) परिमार्जन में इस युग ने स्मारक कार्य किया है !

'छायावाद' ने अभिव्यक्ति की भूमि पर हमारी भाषा का फिर से संस्करण किया है। भावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म झलकों को पकड़ पाने की शक्ति हमें इसी युग के अभिनव भाषा-संस्कार से प्राप्त हुई। उसने शब्दों

में नवीन जीवन डाला है। भावों एवं अर्थ-साहचर्य की दृष्टि से 'पन्त', 'प्रसाद', 'निराला' एवं महादेवीजी ने शब्दों की प्रकृति को पहचानने का प्रयास किया है। नाद-संगीत की प्रभा से अपनी पदावलियों को अभिषिक्त कर, उन्होंने अर्थ-व्यंजना को सहज बनाया है। 'छायावाद' में भावात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता का आधिक्य आरोपित करने वाले भाव और अभिव्यक्ति, बोधव्य और शैली को एक रूप में खिचड़ी कर देते हैं। बौद्धिकता 'छायावाद' की भावनाओं में नहीं, उसकी अभिव्यक्ति-शैली के शृंगार में है, क्योंकि उन साधनों के बिना वह अपनी बात उस रूप में कह नहीं पाता।

'छायावाद' ने हमें नवीन छन्द और एक अधिक संवेदनशील भाषा ही नहीं दी, उसने हमें भाव, बुद्धि और जीवन की वह विशाल ग्राहिका-शक्ति दी जिससे अपने वर्तमान और भावी की चुनौतियों को स्वीकार करने में हम समर्थ हो सकें। हमने अपनी जड़ सीमाओं को तोड़कर जीवन-दायी विकास का सहारा लेना सीखा। 'छायावाद' ने अपने चारों ओर दर्शन और सिद्धांत की अलंघ्य परिधि नहीं खींची। उसने तो जीवन की विशालता, मानव की महत्ता उसकी आशा-आकांक्षाओं, सुख-स्वप्नों के मूल्य का मुक्त सन्देश देते हुए जड़ता का विरोध किया है—गतिशीलता के लिए, जीवन के लिए। वह पलायनशील नहीं, जीवन-ग्राही है। मध्यकालीन सीमाओं में बँधे-रुके जीवन-जलाशय को मुक्त-सहज सरिता का प्रवाह-रूप प्रदान करनेवाले इस मानववादी काव्य ने अतिरेक नहीं समरसता, जड़ता नहीं गति, दुराग्रह नहीं व्यापक सहानुभूति की घोषणा की है।